विशेष निवेदन—

(संशोधक (हमारी) की असावधानी से चार पृष्ठ प्रकाशित होने से रह गए थे, जिन का विषय पृष्ठ संख्या २२६ से आगे से आरम्भ कर २२७ वें पृष्ठ के **'एक सम्वत्सर में ३६० रात्रियाँ हैं०"** इत्यादि आरम्भ के मध्यभाग से सम्बद्ध है। पृ० सं० २२६ से आगे, तथा पृष्ठसंख्या २२७ से पूर्व मध्य में इन पृष्ठसं० २२६ (क), २२६ (ख), २२६ (ग) २२६ (घ) चार पृष्ठों का सम्बन्ध मानना चाहिए)।

पूर्वप्रतिपादित 'मुहूर्त्त' कला ही पुराणपरिभाषा में **'मन्वन्तर'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। मन्वन्तर ही मुहूर्त्त है। ब्रह्मा के एक अहोरात्र में ऐसे ३० मन्वन्तर (मुहूर्त्त) हैं। एक मन्वन्तर का प्रातःसन्ध्या में, एवं एक मन्वन्तर का सायंसन्ध्या में उपभोग होता है। १४ मन्वन्तरों का सृष्टिरूप अहःकाल (पुण्याह) है, १४ मन्वन्तरों का प्रलयकालोपलक्षित रात्रिकाल है। हमारा एक वर्ष देवताओं का एक अहोरात्र है। देवताओं के ऐसे तीस अहोरात्रों का एक देवमास है। ऐसे १२ मासों का एक दिव्यवर्ष है। ऐसे सौ वर्ष देवताओं का आयुःकाल है। देवताओं के सौ वर्ष ब्रह्मा का एक अहोरात्र है। ऐसे ३० अहोरात्रों का एक ब्रह्ममास है। ऐसे १२ मासों का एक ब्रह्मवर्ष है। ऐसे १०० ब्रह्मवर्ष ब्रह्मा का आयुर्भोगकाल है। ब्रह्मा के सौ वर्ष महामायावच्छिन्न षोडशी ईश्वर का एक अहोरात्र है। ऐसे ३० अहोरात्रों का ईश्वरानुबन्धी एक मास है। ऐसे १२ महीनों का एक वर्ष है। ऐसे सौ वर्ष ईश्वर का आयुर्भोगकाल है। महाप्रलय का महामायावच्छिन्न ईश्वर से सम्बन्ध है, प्रलय का योगमायावच्छिन्न स्वायम्भुव ब्रह्मा से सम्बन्ध है, एवं खण्डप्रलय का सौर सम्वत्सरमूर्ति देवघन सूर्यनारायण से सम्बन्ध है। मनुष्यादि प्राणी, देवता, ब्रह्मा, ईश्वर, सभी शतायु हैं। सभी के साथ हमारे बृहतीसहस्र का समन्वय हो रहा है, जैसा कि 'पुराणरहस्यादि' अन्य ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादित है।

३१–सम्वत्सर, और पुरुष का समतुलन—

जैसा कि पूर्व में (पृष्ठ संख्या २१७) में कहा गया था, मुहूर्त्तादि कलादृष्टि से भी हमारा (पुरुष का) उस के (सम्वत्सर के) साथ समतुलन हो रहा है। इसी तृतीय समतुलन के समन्वय के के लिए प्रसङ्गात् प्रजापति के अन्तिम पर्वरूप मुहूर्त्तों का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब एक ओर सपर्वा सम्वत्सर को रख लीजिए, दूसरी ओर सपर्वा पुरुष को, फिर दोनों के स्वरूप का समन्वय कीजिए,– **'यदमुत्र तदन्विह'** श्रुति सर्वात्मना चरितार्थ हो जायगी।

पुरुष (मनुष्य) साक्षात् सम्वत्सर (की प्रतिमा) है। क्योंकि जैसा, जो अवयवसंस्थानक्रम, यज्ञक्रम सम्वत्सरसंस्था का है, वैसा वही क्रम इस पुरुषसंस्था का है। अनेक पर्वों की समष्टिरूप 'सम्वत्सर' समष्ट्यपेक्षया एक है, तो अनेक पर्वों की समष्टिरूप 'पुरुष' भी समष्ट्यपेक्षया एक ही है। इसप्रकार समष्टिरूप से दोनों 'सम' हैं। एक सम्वत्सर में षण्मासात्मक, उत्तरायणकालोपलक्षित एक अहः (देवताओं का दिन) है, षण्मासात्मिका दक्षिणायनकालोपलक्षिता एक रात्रि (देवताओं की एक रात) है। इसप्रकार अयन-लक्षण अहोरात्र के भेद से एक सम्वत्सर के दो पर्व हैं। ठीक इसी प्रकार इस पुरुष में भी दिव्यप्राणलक्षण प्राण अहःस्थानीय प्रथम पर्व है, एवं पार्थिवप्राणलक्षण अपान रात्रिस्थानीय द्वितीय पर्व है। अहःकाल मैत्र माना

माना गया है, रात्रि वारुणी मानी गई है। आध्यात्मिक प्राण मैत्र होने से अहःकाल है, अपान वारुण बनता हुआ रात्रिकाल है, जैसा कि–'प्राणापानौ मित्रावरुणौ' (ताण्डय० म० ६।१०।५।) इत्यादि श्रुत्यन्तर से प्रमाणित है। यही दोनों का दूसरा समतुलन है। सम्वत्सर में **'ग्रीष्म[1]§–वर्षा[2]–शीत[3]'** भेद से तीन मुख्य ऋतुपर्व हैं। इधर पुरुष में भी **'प्राण‡–व्यान–अपान'** भेद से ऋतुस्थानीय तीन मुख्य पर्व हैं, एवं इस दृष्टि से भी दोनों समतुलित हैं। **ब्रह्मा[1]–विष्णु[2]–इन्द्र[3]**, तीन अक्षरों की समष्टिरूप हृद्य सम्वत्सर है, नभ्य आत्मा है। सोमगर्भित **अग्निअक्षर[4]** इस त्र्यक्षरमूर्त्ति आत्मा का शरीर है। चारों अक्षरों की समष्टि एक 'सम्वत्सर' है। इसप्रकार सम्वत्सर चतुरक्षर (चार अक्षर वाला) बन रहा है। तत्त्वात्मिका अक्षर-चतुष्टयी के अतिरिक्त 'सम्[1]–वत्[2]–स–[3]र:[4]' इस शब्दब्रह्म की दृष्टि से भी सम्वत्सर चतुरक्षर बन रहा है। ठीक इसी प्रकार त्र्यक्षरमूर्त्ति हृद्य, अन्तर्य्यामी आत्मा, सोमगर्भित अग्न्यक्षरमूर्त्ति शरीर भेद से तत्त्वापेक्षया भी उस सम्वत्सर के साथ यजन (मेल) करने वाला, अतएव 'यजमान' नाम से प्रसिद्ध पुरुष चतुरक्षर ही है। एवं 'य[1]–ज[2]–मा[3]–नः[4]' इस शब्दब्रह्म की दृष्टि से यह भी चतुरक्षर ही बन रहा है, यही इसका चौथा समत्व है।

पांक्त यज्ञ की दृष्टि से एक सम्वत्सर में **'वसन्त[1]–ग्रीष्म[2]–वर्षा[3]–शरत्[4]–हेमन्तशिशिर[5]'** भेद से पाँच ऋतुएँ प्रतिष्ठित हैं। एवमेव पुरुष में **'प्राण¶–उदान–व्यान–समान–अपान'** भेद से ऋतुस्थानीय पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं, यही पाँचवाँ समत्व है। साधारणकालभेददृष्टि से एक सम्वत्सर में **'वसन्त[1]–ग्रीष्म[2]–वर्षा[3]–शरत्[4]–हेमन्त[5]–शिशिर'** इन ६ ऋतुओं का भोग हो रहा है। इधर पुरुष में भी* **'चक्षु[1]–चक्षु[2], नासिका[3]–नासिका[4]**, श्रोत्र[5]–श्रोत्र[6]' इस दृष्टि से चक्षुःस्थानीय दो आश्विनी-प्राण, नासास्थानीय दो सारस्वतप्राण, श्रोत्रस्थानीय दो ऐन्द्रप्राण भेद से ऋतुरूप ६ शीर्षप्राण प्रतिष्ठित हैं। यही ६ठा समत्व है।

सम्वत्सराग्नि ही मुख्य ऋतु है, एवं "सप्तचितिकोऽग्निः" के अनुसार सम्वत्सराग्नि सात चितियों में विभक्त हो रहा है A। अग्नि की इन सात चितियों की अपेक्षा से श्रुति ने अग्निरूप ऋतु के सात पर्व

---

§**"विंशतिशतं वा (१२०) ऋतोरहानि"** (कौ० ब्रा० ११७)

‡**"स वा अयं त्रेधा विहितः प्राणः–प्राणः, अपानः, व्यानः"**इति (कौ०ब्रा० १३।६)।

¶**"पञ्चधा विहितो वाऽअयं शीर्षन् प्राणः–मनो, वाक्, प्राण,श्चक्षुः, श्रोत्रम्"**(शत.६।२।२।५) इस श्रुत्यन्तर के अनुसार पञ्च इन्द्रियप्राणों के साथ भी सम्वत्सर की पाँच ऋतुओं का समतुलन किया जासकता है।

***"षडग्रहा भवति। षड्वाऽइमे शीर्षन् प्राणाः। चक्षुषीऽएवाश्विनाभ्यां, नासिके सारस्वताभ्यां, श्रोत्रे ऐन्द्राभ्यां यथारूपमेव यथादेवतमात्मानं मृत्यो स्पृत्वामृतं कुरुते"**। (शत० १२।८।१।६)।

A **"सप्तचितिकोऽग्निः, सप्तर्त्तवः, सप्त दिशः, सप्त देवलोकाः, सप्त स्तोमाः, सप्त पृष्ठानि, सप्त छन्दांसि, सप्त ग्राम्याः पशवः, सप्तारण्याः, सप्त शीर्षन्प्राणाः। यत् किञ्च सप्तविधमधिदैवतमध्यात्मं, तदेनेन सर्वमाप्नोति"** (शत० ६।५।२।८)।

मानते हुए एक सम्वत्सर की सात ऋतुएँ भी मान लीं हैं । "साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजम०" इत्यादि मन्त्रवर्णन से सिद्ध अर्वागूबिल, ऊर्ध्वबुध्न चमस (शिरः–कपाल) के तीर में (प्रान्तभागों में) प्रतिष्ठित रहने वाले दक्षिणश्रोत्रस्थ **गोतमप्राण**[१], वामश्रोत्रस्थ **भरद्वाजप्राण**[२], दक्षिणचक्षुस्थ **विश्वामित्रप्राण**[३], वामचक्षुस्थ **जमदग्निप्राण**[४], दक्षिणनासाछिन्द्रस्थ **वसिष्ठप्राण**[५], वामनासाछिद्रस्थ **कश्यपप्राण**[६], मुखस्थ (वागिन्द्रियस्थ) **अत्रिप्राण**[७], ये सात आध्यात्मिक ऋषिप्राण हीं आध्यात्मिक पुरुष की सात ऋतुएँ हैं * । यही सातवाँ समत्त्व है ।

मधु–माधवादि (चैत्र–वैशाखादि) भेद से एक सम्वत्सर में मासात्मक बारह पर्व हैं । इधर पुरुष में भी मासोपलक्षित बारह प्राण प्रतिष्ठित हैं । सात पूर्वोक्त शीर्षण्य प्राण, पाँच पूर्वोक्त प्राण–उदानादि वायव्य-प्राण, इसप्रकार बारह प्राण अध्यात्मसंस्था में व्याप्त हैं । यही आठवाँ समत्त्व है । **'मलिम्लुच'** (लोंद के महिने को) मास को लेकर सम्वत्सर के तेरह मास हैं, यहाँ भी **'नाभिस्त्रयोदशी'** के सम्बन्ध से तेरह प्राण हो जाते हैं । यही नवाँ समत्त्व है । एक सम्वत्सर में २४ अर्द्धमास (पक्ष) प्रतिष्ठित हैं । पुरुष भी दोनों हाथों पैरों की २० अंगुलियाँ, शिर, उर, उदर, पायु, भेद से चार अङ्ग, इस क्रम से चतुर्विंशत्-पर्वसम्पत्ति से युक्त हो रहा है । यही दसवाँ समत्त्व है । मलिम्लुचमास के दो अर्द्धमासों के समन्वय से एक सम्वत्सर के २६ अर्द्धमास हो जाते हैं । यहाँ भी (पुरुष में भी) २० अंगुलियाँ, चार अङ्ग, दो प्रतिष्ठा (पाद) भेद से २६ पर्वों का भोग हो रहा है । यही ग्यारहवाँ समतुलन है ।

'यज्ञो वै पुरुषः–'पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि श्रुतियाँ यज्ञात्मक सम्वत्सर, तथा पुरुष (मानव) के समसमत्त्व का ही समर्थन कर रहीं हैं । सचमुच जैसा स्वरूप क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न सम्वत्सरयज्ञ का है, ठीक वैसा ही स्वरूप इस पुरुष का है । तभी तो इसे उसके नेदिष्ठ (समीपतम) माना गया है, जैसा कि–**'पुरुषो वै प्रजापतिर्नेदिष्ठम्'** इत्यादि से प्रमाणित है । सम्वत्सरमण्डलस्थ क्रान्तिवृत्त के २४ अंश ही इस पुरुष के २४ पर्शु (फँसलियाँ) हैं । दक्षिणोत्तरक्रान्तियों के सम्पातबिन्दुओं के अनुपात से अंशात्मक पर्शु भी वक्रित बने हुए हैं । मण्डलमध्यस्थ बृहतीछन्दोरूप विष्वद्वृत्त ही पुरुष का मेरुदण्ड (रीड की हड्डी) है । अर्द्धसम्वत्सरात्मक अर्द्ध सौरयज्ञ से मानव का, तथा अर्द्ध चान्द्रयज्ञ से मानवी का स्वरूप सम्पन्न हुआ है । दोनों मिल कर एक पूर्णभाव है । स्वयं मानव अर्द्धवृगल (अर्द्धसम्वत्सर) है, जिसके इस शेष अर्द्धाकाश की पूर्ति मानवी से ही होती है, जैसा कि **'सोऽयमाकाशः पत्न्याऽऽपूर्य्यते'** इत्यादि से स्पष्ट है । समसम्मुखावस्थित मानव–मानवी के युग्म से पूर्ण बृहतीछन्द संगृहीत है । यही अध्यात्मयज्ञ की परिपूर्णता है । अतएव अपत्नीक अर्द्धमानव पूर्णयज्ञ में अनधिकृत माना गया है । प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ का प्रतिपर्व इस आध्यात्मिक यज्ञपुरुष के साथ समतुलित

---

* **"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः–इदं तच्छिरः । तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे । इमावेव गोतम–भरद्वाजौ । अयमेव गोतमः, अयं भरद्वाजः । इमावेव विश्वामित्र–जमदग्नी । अयमेव विश्वामित्रः, अयं जमदग्निः । इमावेव वसिष्ठ–कश्यपौ । अयमेव वसिष्ठः, अयं कश्यपः । वागेवात्रिः"** (शत० १४।५।२।४–६) ।

है। उस यज्ञ के स्वरूप का अतिक्रमण कर देने से ही इस यज्ञस्वरूप में विकृतिभाव उत्पन्न हो जाया करते हैं। अधिकाङ्ग–हीनाङ्ग–श्लथाङ्ग–आदि दोष एकमात्र प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ के नियमों के अतिक्रमण के ही दुष्परिणाम मानें गए हैं। प्रकृत्यनुगता प्रजासम्पत्ति के प्राकृतिक तन्तुवितान का सम्पूर्ण श्रेय प्रकृतिसिद्ध सम्वत्सरयज्ञ की आचारात्मिका उपासना पर ही अवलम्बित है। इसी आधार पर वेदोक्ता यज्ञविद्याओं में यत्रतत्र बड़े आटोप के साथ 'यज्ञसम्पत्' रूप से इस उपासना पथ का स्वरूपविश्लेषण हुआ है। प्रदर्शित संख्या–साम्य केवल कल्पना नहीं है। अपितु प्राकृतिक सम–साम्य ही इन संख्यासाम्यों के द्वारा प्रतिपादित है। यह ठीक है कि आचारपद्धतियों के विलुप्तप्राय हो जाने से आज भारतीय वैदिक विज्ञान का प्रकृतिसिद्ध व्यवस्थित स्वरूप हमारी प्रज्ञा से तिरोहित है। किन्तु एतावता ही उसकी शाश्वत उपयोगिता के सम्बन्ध में कोई आशङ्का नहीं की जा सकती। आज भी हम उस नित्यविज्ञान के परिज्ञान के द्वारा वैदिक तत्त्ववाद के आधार पर उस शाश्वत सत्य का अनुगमन कर सकते हैं, जो मानव की सर्वोत्कृष्ट जीवनपद्धति का एकमात्र मूलाधार माना गया है। इसी तथ्य की ओर भारतीय प्रज्ञा का ध्यान आकर्षित करने के लिए यह संख्यासम्पत् समुपस्थित है, जिसके शेष २–३ साम्यों का दिग्दर्शन कराता हुआ प्रस्तुत परिच्छेद उपरत हो रहा है। निम्न लिखत श्रौत वचन इसी प्राकृतिक साम्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

(१)–यावानेवोर्ध्वस्तावांस्तिर्य्यक्। पुरुषसम्मित इत्यु हैक आहुः। (शत० ३।१।३।३)।

(२)–पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञः–यदेनं पुरुषस्तनुते। एष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते। तस्मात् पुरुषो यज्ञः। (शत० १।३।२।१।)।

(३)–पुरुषो वै ज्ञयः। शिर एवास्य हविर्धानं, मुखमेवास्य–आहवनीयः। उदरमेवास्य सदः। (शत० ३।५।३।१।)।

(४)–तद्यत् पञ्चकृत्व आनक्ति–सम्वत्सरसम्मितो वै यज्ञः। पञ्च वा ऋतवः सम्वत्सरस्य। तं पञ्चभिराप्नोति। (शत० ३।१।३।१७)।

(इस से आगे २२७ वें पृष्ठ का आरम्भ समझना चाहिए)

एक सम्वत्सर में ३६० रात्रियाँ हैं, इधर पुरुष में ३६० अस्थियाँ (हड्डियाँ) हैं, यही बारहवाँ समतुलन है। एक सम्वत्सर में ३६० अहः (दिन) हैं, इधर पुरुष में ३६० मज्जा हैं, यही तेरहवाँ समतुलन है। एक सम्वत्सर में ७२० अहोरात्र हैं, इधर पुरुष में ७२० अस्थि-मज्जा हैं। एक सम्वत्सर के १०८०० (दस हजार आठसौ) मुहूर्त्त हैं। इस पर्वके सम्बन्ध में कुछ विशेष वक्तव्य है।

सामान्य परिभाषा में **'मुहूर्त्तो घटिकाद्वयम्'** के अनुसार एक मुहूर्त्त दो घडी का माना गया है। यदि मुहूर्त्तों के अवान्तर सूक्ष्म विभागों का विचार किया जाता है, तो इनका पर्य्यवसान **'स्वेदायन'** पर होता है। रोमकूपों से भी सुसूक्ष्म वे छिद्र, जिन से सतत स्वेद निकला करता है, 'स्वेदायन' कहलाए हैं। इन १५ स्वेदायनों की समष्टि एक **'लोमगर्त्त'** है। पन्द्रह लोमगर्त्त मिलकर एक **'निमेष'** है। पन्द्रह निमेष मिलकर एक **'अनः'** (प्राणकी मूलावस्था) है। पन्द्रह अन मिलकर एक **'प्राण'** है। पन्द्रह प्राण मिलकर एक **'इदम्'** है। पन्द्रह इदं मिलकर एक **'इदानि'** है। पन्द्रह इदानि मिलकर एक **'एतर्हि'** है। पन्द्रह एतर्हि मिलकर एक **'एतर्हीणि'** है। पन्द्रह 'एतर्हीणि' मिलकर एक **'क्षिप्र'** है। पन्द्रह क्षिप्र मिलकर एक **'मुहूर्त्त'** है। ऐसे ३० मुहूर्त्तों से एक अहोरात्र का स्वरूप सम्पन्न हुआ है।

पुरुषसंस्था में प्राणनरूप से इन साम्वत्सरिक १०८०० मुहूर्त्तों का ज्यों का त्यों भोग हो रहा है। सम्वत्सरप्रजापति सदा १०८०० इन कलाओं से युक्त रहता है। इसी प्रकार पुरुष भी सदा (प्रत्येक अहोरात्र में) इन कलाओं से युक्त रहता है। यही नहीं, अपाननरूप से तो इस में प्रत्येक अहोरात्र में द्विगुणित मुहूर्त्तोंका उपभोग मानना पड़ता है। पुरुषका श्वासात्मक वायव्याग्नि मुहूर्त्त की प्रतिकृति है। इसका प्रतिद्वन्द्वी प्रश्वास है। इस प्रकार प्राणात्मक मुहूर्त्त प्राणन-अपानन (श्वास-प्रश्वास) भेद से द्विगुणित बनते हुए २१६०० (इक्कीस हजार ६ सौ) कलाओं में परिणत हो रहे हैं। यही हमारी दैनिक श्वासप्रश्वाससंख्या है *। एवं यही इसका उसके साथ चौदहवाँ समतुलन है। इसी समतुलन-प्रक्रिया का क्रमिक निरूपण कर सर्वान्त में उपसंहार करती हुई श्रुति कहती है—

१—"दश च वै सहस्राण्यष्टौ च शतानि सम्वत्सरस्य मुहूर्त्ताः। यावन्तो मुहूर्त्तास्तावन्ति पञ्चदशकृत्वः क्षिप्राणि। यावन्ति क्षिप्राणि, तावन्ति पञ्चदशकृत्व एतर्हीणि। यावन्त्येतर्हीणि, तावन्ति पञ्चदशकृत्व इदानीनि। यावन्तीदानीनि, तावन्तः पञ्चदशकृत्वः प्राणाः। यावन्तः प्राणाः, तावन्तोऽनाः। यावन्तोऽनाः, तावन्तो निमेषाः। यावन्तो निमेषाः, तावन्तो लोमगर्त्ताः। यावन्तो लोमगर्त्ताः,

---

* आगे बतलाए जाने वाले वेदव्यूहन के अनुसार साम्वत्सरिक त्रयीवेदके ८६४००० विभाग हो जाते हैं। ४० अक्षरात्मक पंक्तिछन्द इन विभागों मे २१६०० होते हैं। अतएव श्वासप्रश्वास इतनें ही भागोंमें विभक्त रहते हैं।

तावन्ति स्वेदायनानि *। तावन्त एव स्तोका वर्षन्ति। एतद्ध स्म वै तद् विद्वानाह-
बार्कलिः-सार्वभौमं मेघं वर्षन्तं, 'वेदाऽहमस्य वर्षस्य स्तोकान्' इति"

२-"तदेष श्लोकोऽभ्युक्तः—(प्रश्नश्रुतिः)—

श्रमादन्यत्र परिवर्त्तमानस्तिष्ठन्नासीनो यदि वा स्वपन्नपि।
अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन कति कृत्वः प्राणिति चाप चानिति"
इति ?।

तदेष श्लोकः प्रत्युक्तः (उत्तरश्रुतिः)—

शतं शतानि (१००००) पुरुषः समेनाष्टौ शता (८००) यन्मितं तद्वदन्ति।
अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन तावत्कृत्वः प्राणिति चाप चानिति"
इति।
—(शत० १२।३।२।५-८)।

३२—विराडग्नि—

तत्त्वात्मक सम्वत्सरप्रजापति के पर्वरूप अयन, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त्त, आदि तत्त्वात्मक (अग्न्यात्मक) पर्वों का स्वरूप बतलाते हुए प्रसङ्गात् इसके साथ पुरुषप्रजापति का समतुलन किया गया। अब पुनः इसी सम्वत्सर की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। जिस पर्वाग्नि के समन्वय से रिरिचान-सम्वत्सर का पुनः सन्धान होता है, उसे 'विराडग्नि' कहा गया है। पार्थिव विराडग्नि ही सम्वत्सर में चित होकर सम्वत्सर को (सौर सम्वत्सर को) पूर्ण बनाता है। इसे विराट् इसलिए कहा जाता है कि, इसमें दशाक्षर विराट्छन्द की १० विभूतियाँ प्रतिष्ठित हैं। चित होने वाला पार्थिव अग्नि अग्नि-वायु-आदित्य-भेद से तीन त्रैलोक्य-लोकों में व्याप्त बताया गया है। इन में पार्थिव अग्नि 'गार्हपत्याग्नि' है, यह एकविध है। आन्तरिक्ष्य अग्नि (वायु) 'धिष्ण्याग्नि' है। अष्टविध नाक्षत्रिक अग्नि के भेदसे यह अष्टविध बना हुआ है। दिव्याग्नि (आदित्य) 'आहवनीयाग्नि' है, यह एकविध है। इस प्रकार सम्वत्सर में चित होने वाला पार्थिव अग्नि आरम्भ में अग्नि-वायु-आदित्यरूप से गार्ह० धिष्ण्य० आह० रूप में परिणत हो रहा है। इनमें मध्यस्थ अग्नि (वायुलक्षण धिष्ण्याग्नि) अष्टविध है। सम्भूय एक ही पार्थिव अग्नि के दश पर्व हो जाते हैं। यही दशाक्षरा विराट्सम्पत् है, यही इस अग्नि का वैराजभाव है। दूसरी दृष्टि से विराट्-सम्पत्ति का

* 'बार्कलि' नामक वेदज्ञ विद्वान् अपनी व्यावहारिक भाषा में यह कहा करते थे कि, "चारों ओर के क्षितिज से मिले हुए मेघों से जो जलबिन्दु गिरते हैं, मैं उनकी संख्या जानता हूँ"। में इसी सम्बन्ध याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, बार्कलि इस मुहूर्त-विज्ञान के आधार पर ही सार्वभौम-वर्षण के (स्वेदायन-संख्याओं के आधार पर) बिन्दुओं का अभिनय कर दिया करते थे।

समन्वय कीजिए। त्रिधा विभक्त यही पार्थिव अग्नि व्यष्टिरूप से ९ भागों में विभक्त है, एवं समष्टिरूप से एकविध है। मुहूर्त्ताग्नि एक पर्व है, अहोरात्राग्नि दूसरा पर्व है, पक्षाग्नि तीसरा पर्व है, मासाग्नि चौथा पर्व है, ग्रीष्माग्नि पाँचवाँ पर्व है, वर्षाग्नि ६ ठा पर्व है, शीताग्नि (ठँढी आग-सौम्याग्नि) ७ वाँ पर्व है, अयनाग्नि ८ वाँ पर्व है। एवं ऋताग्नि ९ वाँ पर्व है। १० वाँ पर्व समष्टिलक्षण स्वयं सम्वत्सराग्नि है। इसी उभयावध विराट्-सम्पत्ति का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"दश वा एतानग्नीश्चिनुते। अष्टौ धिष्ण्यान्, आहवनीयं च. गार्हपत्यं च। तस्मादाहुर्विराडग्निरिति। दशाक्षरा हि विराट्। तान्नु सर्वानेकमिवैवाचक्षते-'अग्नि' रिति। एतस्य ह्येवैतानि सर्वाणि रूपाणि, यथा सम्वत्सरस्य-अहोरात्राण्यर्धमासा, ऋतवः। एवमस्यैतानि सर्वाणि रूपाणि"।

—(शता० १०।४।४।२१।)।

(क) ३-आहवनीयाग्निः—दिव्यः (आदित्यविधः)—एकलः १
२-धिष्ण्याग्निः—आन्तरीक्ष्यः(वायुविधः)—अष्टकलः ८
१-गार्हपत्याग्निः—पार्थिवः (अग्निविधः)—एकलः १
} -'विराडग्निश्चित्यो दशकलः'

—x:x:x:x—

(ख)— सम्वत्सराग्निः समष्टिरूपः (१०)

९-ऋताग्निः—ऋतुभावसमर्पकः
८-अयनाग्निः
७-शीताग्निः (३)
६-वर्षाग्निः (२)
५-ग्रीष्माग्निः (१)
} चातुर्मास्याग्निः

४-मासाग्निः
३-अर्द्धमासाग्निः
२-अहोरात्राग्निः
१-मुहूर्त्ताग्निः

} —'विराडग्निश्चित्यो दशकलः'

—:x:x:x:x:—

३३-अर्काग्नि का वितान

अब उस 'अर्काग्नि' का विचार करना चाहिए, जो महान् बनता हुआ 'महान्ति' भावका स्वरूप-समर्पक बनकर वेदमहिमा की अभिव्यक्ति कर रहा है। अर्काग्नि के स्वरूप समन्वय के लिए हमें पाठकों के सम्मुख-'अर्क-महान्-उक्थम्' ये तीन शब्द रखने पड़ेंगें। एक ही तत्त्व का विकास इन तीन भावों में

परिणत हो रहा है । वही अर्क है, वही महान् है, वही उक्थ है । क्योंकि अग्नि ही अग्नि है, अग्नि ही वायु है, अग्नि ही आदित्य है । ऋक् ही अग्नि है, यजु ही वायु है, साम ही आदित्य है । ऋङ्मय अग्नि ही उक्थ है, वायुमय यजु ही अर्क है, आदित्यमय साम ही महान् है ।

दूसरी दृष्टि से यों देखिए कि, अग्नि की अग्निलक्षण जो मात्रा ऋक् में प्रतिष्ठित रहेगी, उस ऋङ्मय अग्नि को 'उक्थ' कहा जायगा । अग्नि की वायुलक्षण जो मात्रा यजु में प्रतिष्ठित रहेगी, उस यजुर्मय वायु को 'अर्क' कहा जायगा । एवं अग्नि को आदित्यलक्षण जो मात्रा साम में प्रतिष्ठित रहेगी, उस साममय आदित्य को 'महान्' कहा जायगा ।

अथवा विभिन्न दृष्टि से विचार कीजिए । अग्नि त्रिवृत् माना गया है । त्रिवृत् का अर्थ यही है कि, अग्निलक्षण अग्नि, वायुलक्षण अग्नि, आदित्यलक्षण अग्नि, तीनों में (अग्नि–वायु–आदित्य में–प्रत्येक में) अग्नि–वायु–आदित्य, तीनों का भोग हो रहा है । इसप्रकार तीन के ९ विवर्त्त हो जाते हैं । यही अग्नि का त्रिवृद्भाव है । वाय्वादित्यगर्भित त्रिमूर्त्ति अग्नि 'अग्नि' है । अग्न्यादित्यगर्भित त्रिमूर्त्ति वायु वायु' है । अग्नि–वायुगर्भित त्रिमूर्त्ति आदित्य 'आदित्य' है । अग्नि–वायु–आदित्य का क्रमशः ऋक्–यजुः–साम से सम्बन्ध है । उधर तीनों विवर्तों में अग्न्यादि तीनों का गौण–प्रधानरूप से भोग हो रहा है । अतः ऋगनुबन्धी उक्थ, यजुरनुबन्धी अर्क, एवं सामानुबन्धी महान्, तीनों का तीनों में समन्वय सिद्ध हो जाता है । तीनों में जितना ऋगनुबन्धी अग्न्यंश है. वह उक्थ है । यजुरनुबन्धी वाय्वंश अर्क है, सामानुबन्धी आदित्यांश महान् है । तात्पर्य्य यह निकला कि, ऋक्सम्बन्ध से अग्नि–वायु–आदित्य तीनों ही उक्थ हैं, यजुःसम्बन्ध से तीनों हीं अर्क हे, एवं सामसम्बन्ध से तीनों हीं महान् हैं ।

१—ऋक्सम्बन्धेन—

१—अग्निः	उक्थाः
२—वायुः	
३—आदित्यः	

अग्निः
उक्थः

१—यजुःसम्बन्धेन—

अग्निः	अर्काः
वायुः	
आदित्यः	

वायुः
अर्कः

३—सामसम्बन्धेन—

अग्निः	महान्तः
वायुः	
आदित्यः	

आदित्यः
महान्

केन्द्रस्थ, नभ्य अन्नादाग्नि के ही अग्नि–वायु–आदित्य, ये तीन पर्व हैं । अतएव तीनों में हीं अन्नादभाव का प्रतिष्ठित रहना स्वाभाविक बन जाता है । तीनों के 'अन्न–अद्–भक्षण–लक्षण'–अन्नादभाव की रक्षा के लिए अन्नाहुति अपेक्षित है । इस अन्नविचार के साथ ही इतना और ध्यान में रखना चाहिए कि, पिण्डस्थ अन्नादाग्नि के सहयोग से चार अन्नाद हो जाते है । पिण्डस्थ अन्नाद 'पुरुष' 'पुरि–पिण्डे–शयः' निर्वचन से पुरुष कहलाता है । महिमामण्डलस्थ तीनों अन्नाद अग्न्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं । इस

प्रकार हमारे इस अर्काग्निप्रकरण में चार अन्नाद हो जाते हैं । चारों की स्वरूपरक्षा के लिए चतुर्विध अन्न नियत हैं ।

सामसम्बन्ध से 'अग्नि-वायु-आदित्य-पुरुष' चारों हीं महान् हैं, यह पूर्व में कहा जाचुका है । पहिले अग्नि-महान् के अन्न का ही विचार कीजिए । ओषधियाँ, एवं वनस्पतियाँ हीं इस महान् अग्नि के 'महान्ति' अन्न हैं । उद्भिज्जपदार्थसमष्टि ही इस अग्नि का अन्न है । इस अन्नाहुति से ही महान् अग्नि का सामलक्षण महत्त्व सुरक्षित है । अतएव इन ओषधि-वनस्पत्यन्नों को सामापेक्षया **'महतो महान्ति'** कह सकते हैं । यजुः सम्बन्ध से इसी अग्नि को 'अर्क' कहा जायगा, एवं अर्कापेक्षया ओष० अन्न को **'अर्कस्य अर्काः'** माना जायगा । ऋक् सम्बन्ध से यही अग्नि 'उक्थ' है । उक्थापेक्षया यही ओ० अन्न **'उक्थस्य उक्थानि'** कहा जायगा । महान्, अर्क, उक्थलक्षण अग्नि अन्नाद होगा । महान्ति, अर्काः, उक्थानि लक्षण ओ० वन० अन्न की अन्नाद अग्नि में आहुती होगी । अन्न-अन्नाद की समष्टि **'महाव्रत-पुरुष-महदुक्थ'** नाम से व्यवहृत होगी ।

दूसरा वायु महान् है । अप्तत्त्व ही इसका महान् अन्न है । पानी से ही वायु की स्वरूपरक्षा है, जैसा कि ऋग्वेदीय आपोनप्त्रीयसूक्त में विस्तार से निरूपित है । वायु भी त्रिदेवमूर्ति बनता हुआ उक्थ-अर्क-महान् है । अतः यहाँ भी अब्अन्न के पूर्वोक्त विवर्त्त बन जाते हैं ।

तीसरा आदित्य महान् है । चन्द्रमा (चान्द्रसोम) इसका महान् अन्न है । सोम से ही आदित्य-प्राण की (ज्योतिर्भाग की) स्वरूपरक्षा है । आदित्य भी त्रिदेवमूर्त्ति बनता हुआ उक्थ-अर्क-महान् है । अतः यहाँ भी चान्द्र अन्न के पूर्वोक्त तीन विवर्त हो जाते हैं ।

पुरुष (पिण्डाग्नि) चौथा अन्नाद महान् है । पशु (मृत्भाग) इस महान् का अन्न है । इस अन्नाद की भी बीजरूप से तीन अवस्थाएँ हो जातीं हैं । बीजगर्भिता भावत्रयी ही तो तूलरूप में आकर अग्न्यादि देवत्रयीरूप में विकसित हुई है । इस बीजत्रयीरूपा देवत्रयी के सम्बन्ध से अन्नाद (पुरुष) भी उक्थ-अर्क-महान् रूप में परिणत हो रहा है । फलतः तदन्नभूत पशु के भी पूर्ववत् तीन विवर्त्त हो जाते हैं । इसप्रकार वेदत्रयीरूपा देवत्रयी के भेद से चारों अग्निसंस्थाओं में पर्वत्रयी की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेखों से स्पष्ट है—

१—अग्निसंस्था—वाय्वादित्यगर्भितस्त्रिवृतोऽग्निः पार्थिवः (अग्निरुक्थो ऋक्तः)

१—अग्निमयोऽग्निर्मुख्यः— उक्थः— ऋक्तः— ओषधिवनस्पतयोऽन्नानि-उक्थस्योक्थानि ।
२—अग्निमयो वायुर्गौणः— अर्कः— यजुः ,, अर्कस्यार्काः ।
३—अग्निमय आदित्यो गौणः—महान्— सामतः ,, महतो महान्ति ।

२—वायुसंस्था—अग्न्यादित्यगर्भितस्त्रिवृतो वायुरान्तरीक्ष्यः (वायुरर्को यजुष्टः)

१—वायुमयो वायुर्मुख्यः— अर्कः— यजुष्टः— आपोऽन्नानि - अर्कस्यार्काः ।
२—वायुमयोऽग्निर्गौणः— उक्थः ऋक्तः— ,, उक्थस्योक्थानि ।
३—वायुमय आदित्यो गौणः—महान् —सामतः— ,, महतो महान्ति ।

३–आदित्यसंस्था-अग्निवायुगर्भितस्त्रिवृतआदित्योदिव्यः(आदित्यो महानसामतः)

१—आदित्यमय आदित्यो मुख्यः—महान्—सामतः—चान्द्रसामोऽन्नानि–महतो महान्ति ।
२—आदित्यमयोऽग्निग णः— उक्थः—ऋक्ः— „ उक्थस्योक्थानि ।
३—आदित्यमयो वायुर्गौणः- अर्कः—यजुष्टः— „ अर्कस्यार्काः ।

४-पुरुषसंस्था-अग्नि-वायु-आदित्यगर्भितस्त्रिमूर्त्तिर्भे.मोऽन्नादाग्निः अग्निरुक्थोऋक्तः)

१—अन्नादाग्निमयोऽग्निर्बीजरूपो मुख्यः-उक्थः—ऋक्ः—मृण्मयाः पशवोऽन्नानि–उक्थस्योक्थानि ।
२—अन्नादाग्निमयो वायुर्बीजरूपो गौणः--अर्कः--यजुष्टः- „ अर्कस्यार्काः ।
३—अन्नादाग्निमय आदित्यो बीजरूपो गौणः–महान्–सामतः- „ महतो महान्ति ।

इसी सम्बन्ध में यह और स्पष्ट कर लेना चाहिए कि, अग्न्यादि चारों जहाँ उक्थ–अर्क–महान् हैं, वहाँ इसके अन्नरूप ओषधिवनस्पति–अप्–सोम–पशु चारों उक्थ्य-अर्क्य–महत् हैं। चार अग्नि 'महान्' हैं, ये ही चार 'व्रत' हैं, ये ही चार 'क्य' हैं, ये ही चार अर्क हैं। इन चारों के अन्न 'महतो महान्ति' हैं, 'व्रतानां व्रतानि' है, 'क्यानां क्यानि' हैं, 'अर्काणां अर्काः' हैं। इन चारों की समष्टिरूप अधिदैवत सम्वत्सर ही 'अर्काग्नि' है। तत्प्रतिकृतिरूप पुरुष भी अर्काग्नि ही है। इस पुरुष के कान अर्कपर्ण हैं, आखें अर्कपुष्प हैं, नासाछिद्र अर्ककोश्य हैं, ओष्ठ अर्कसमुद्ग हैं, दाँत अर्कधाना हैं, जिह्वा अर्काष्ठीला है, चतुर्विध अन्न अर्कमूल है। इन सब पर्वों की चितिरूप पुरुष ही अर्काग्नि है। यही पार्थिव–सौर रूप से अध्यात्मसंस्था में चित है। निम्न लिखित श्रुतियाँ इसी 'अर्काग्नि' का स्पष्टीकरण कर रहीं हैं—

१–"अग्निर्महान्, तस्य महतो महदोषधयश्च वनस्पतयश्च। तद्ध्यस्यान्नम्। वायुर्महान्, तस्य महतो महदापः। तद्ध्यास्यान्नम्। आदित्यो महान्। तस्य महतो महच्चन्द्रमाः। तद्ध्यस्यान्नम्। पुरुषो महान्। तस्य महतो महत् पशवः। तद्ध्यस्यान्नम्"।

२–"एतान्येव चत्त्वारि महान्ति, एतानि चत्त्वारि 'महतां महान्ति'। एतान्येव चत्त्वारि व्रतानि, एतानि चत्त्वारि 'व्रतानां व्रतानि'। एतान्येव चत्त्वारि क्यानि, एतानि चत्त्वारि 'क्यानां क्यानि'। एतऽएव चत्त्वारोऽर्काः, एते चत्त्वारोऽर्काणामर्काः।"।

३–"अथ ह वै यत्तदुवाच–वेत्थार्कमिति, पुरुषं हैव तदुवाच०++। स एषोऽग्निरर्को-यत् पुरुषः। स यो हैतमेवमग्निमर्कं पुरुषमुपास्ते, 'अयमहमग्निरर्कोऽस्मि' इति, विद्यया हैवास्य आत्मन्नग्निरर्कश्चितो भवति"

—(शत० १०।३।४। अर्काग्निब्राह्मण)।

समष्टिपरिलेखः–		ऋचि प्रतिष्ठिताः–प्रतिष्ठितानि		साम्नि प्रतिष्ठिताः-प्रतिष्ठितानि		यजुषि प्रतिष्ठिताः–प्रतिष्ठितानि	
२१	(३) आदित्यः	उक्थः	उक्थ्यम्	महान्	महत्	अर्कः	अर्क्यम
१५	(२) वायुः	उक्थः	उक्थ्यम्	महान्	महत्	अर्कः	अर्क्यम्
९	(१) अग्निः	उक्थः	उक्थ्यम्	महान्	महत्	अर्कः	अर्क्यम्
*	*) अन्नादपुरुषः	उक्थः	उक्थ्यम्	महान्	महत्	अर्कः	अर्क्यम्
अन्नान्नादलक्षणोऽर्काग्नि-श्रित्यः		अन्नादाः	अन्नानि	अन्नादाः	अन्नानि	अन्नादाः	अन्नानि

उक्थ–अर्क–महान्–लक्षण, उक्थ्य–अर्क्य–महल्लक्षण उक्त प्रजापति का 'अधिभूत–अधिदैवत–अध्यात्म' इन तीन संस्थाओं से सम्बन्ध है। सौरपार्थिवसम्वत्सरसंस्था अधिदैवतसंस्था है। वैधयज्ञरूप चयनकर्म्म अधिभूतसंस्था है। एवं पुरुषसंस्था अध्यात्मसंस्था है। अर्कब्राह्मणमें इनका सामान्य निरूपण हुआ है, एवं आगे चलकर 'प्रजापतिसन्धानब्राह्मण' में तीनों संस्थाओंका विशेषरूप से स्पष्टीकरण हुआ है। इन सब तत्त्वों का वैज्ञानिक विवेचन तो मूलभाष्य में ही देखना चाहिए। यहाँ केवल यह सूचित करने के लिए कि, चित्याग्नि का वेदद्वारा ही त्रिसंस्था में वितान होता है, इस शब्दप्रपञ्च का आश्रय लेना पड़ा है, जिस का केवल शब्दात्मिका वेदभक्ति के आधार पर प्रयत्नसहस्रों से भी समन्वय नहीं किया जा सकता। निम्नलिखित वचनों पर दृष्टि डालिए, एवं तदाधारेण अग्नि–सम्बन्धी वेदमहिमा का समन्वय कीजिए—

१–अधिभूतम्—"स एष एवार्कः, योऽयमग्निश्चितः। तस्यैतदन्नं 'क्यम्'। एष सौम्योऽध्वरः। तदर्क्यं यजुष्ट एव। एष एव महान्। तस्यैतदन्नं 'व्रतम्'। तन्महाव्रतं सामत एव। एष उ एव 'उक्', तस्यैतदन्नं 'थम्'। तदुक्थं–ऋक्तः। तदेतदेकं स त्रेधा ख्यायते–इत्यधिभूतम्"।

२–अधिदैवतम्—"स एष एवार्कः, य एष तपति। तस्यैतदन्नं क्यम्। एष चन्द्रमाः। तदर्क्यं, यजुष्ट एव। एष एव महान्। तस्यैतदन्नं व्रतम्। तन्महाव्रतं सामत एव। एष उ एव–'उक्'। तस्यैतदन्नं 'थम्'। तदुक्थमृक्तः। तदकं स त्रेधा ख्यायते–इत्यधिदैवतम्"।

३-अध्यात्मम्—"अथाध्यात्मम् । प्राणो वा अर्कः । तस्यान्नमेव क्यम् । तदर्क्यं यजुष्टः । प्राण एव महान् । तस्यान्नमेव व्रतम् । तन्महाव्रतं सामवः । प्राण उ एव-'उक्' । तस्यैतदन्नं 'थम्' । तदुक्थमृक्तः । तदेकं स त्रेधा ख्यायते- इत्यध्यात्मम् ।

—(शत० १०।४।१।२१,२२,२३,।)।

अर्काग्नि के सम्बन्ध में बतलाए गए पूर्वोतिवृत्त का निष्कर्ष यही हुआ कि, 'अग्नि-वायु-आदित्य' तीनों एक ही अर्काग्नि के तीन साम्वत्सरिक पर्व हैं । अर्चंश्चरति' ही अर्क शब्द का निर्वचन है । प्राणत्-अपानत्-व्यापार ही 'अर्चंश्चरति' है । यद्यपि उक्त तीनों ही पर्व (अग्नि-वायु-आदित्य) इस 'अर्चंश्चरति' लक्षण प्राणापानव्यापार से 'अर्क' हैं । अतएव इस साम्वत्सरिक अग्नित्रयी को 'अर्काग्नि' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ भी बनता है । तथापि तीनों में मध्यस्थ वायु ही 'अर्क' सम्पत्ति से प्रधान सम्बन्ध रखता है । कारण इसका यही है कि, अर्थशक्तिप्रधान अग्नि में भी प्रातिस्विकरूप से स्थितिभाव का ही विकास है, एवं ज्ञानशक्तिप्रधान आदित्य भी स्थितिधर्म्म से ही युक्त है । क्रियाशक्तिप्रधान मध्यस्थ वायु ही प्रधानतः गतिभावापन्न है । दूसरे शब्दों में वायव्य प्राण ही प्राणदपानल्लक्षण गतिभावात्मक है । अतः एतद्रूपा अर्कसम्पत्ति का वायु के साथ ही प्रधान सम्बन्ध मान लिया है । एकमात्र इसी गतिप्राधान्य से हम 'वायु' लक्षण मध्यस्थ अग्नि को 'अर्क' कह सकते हैं । अग्नि से ही वायु, तथा आदित्य-भावों का उत्थान होता है । यही सबका उक्थलक्षण प्रभव है, अतएव अग्नि को 'उक्थ' कहा जा सकता है । आदित्य तेजोमण्डलात्मक बनता हुआ, महिमामय बनता हुआ अवश्य ही **'महान्'** कहला सकता है । इन तीनों के साथ क्रमशः यजुः-ऋक्-साम-तत्त्वों का सम्बन्ध है । **'अयमेव यजुर्योऽयं पवते'** के अनुसार गतिलक्षण वायु ही यजु है, यही अर्क है । प्रभवलक्षण अग्नि ही ऋक् है, यही उक्थ है । महिमालक्षण आदित्य ही साम है, यही महान् है ।

यजुर्मूर्त्ति-वायुविध अर्काग्नि, ऋङ्मूर्त्ति-अग्निविध उक्थाग्नि, साममूर्त्ति-आदित्यविध महान् अग्नि, तीनों अग्नि अन्नाद हैं, तीनों को स्वस्वरूप के लिए अन्न अपेक्षित है । तीनों के रक्षक वे ही अन्न क्रमशः 'आपः, ओषधिवनस्पतयः, सोमः' नाम से व्यवहृत हुए हैं । इन तीन साम्वत्सरिक अग्नियों से पृथक् चौथा पिण्डावच्छिन्न, सर्वोक्थलक्षण, अतएव ऋग्रूप अन्नादाग्नि और है, जिसे पूर्व में 'पुरुष' कहा गया है । इसका अन्न 'पशु' (मृद्भाव) नाम से व्यवहृत हुआ है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है । क्योंकि यह चौथा भौम अग्नि (मूलाग्नि) महिमा-त्रिलोकी के त्रिवृत्स्थानीय ऋङ्मय पार्थिव उक्थाग्नि से समतुलित है । दूसरे शब्दों में दोनों ही उक्थरूप हैं, दोनों ही अग्निरूप हैं, दोनो ही ऋङ्मय हैं । ओषधि-वनस्पति भी मृद्भाग ही है । अतएव भौम अग्नि का मृदन्न, एवं त्रिवृदग्नि का ओषधि-वनस्पत्यन्न दोनों समान हैं । इसीलिए इन चार विवर्त्तों को तीन ही विवर्त्त मान लिए जाते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

पृथिवी—	४–एकविंशस्थानीयो स्थितिलक्षणः–आदित्यः–साममयः–महान्–{ सोमः	—महान् ३
	३–पञ्चदशस्थानीयो गतिलक्षणः—–वायुः—–यजुर्म्मयः–अर्कः—–{ आपः	—अर्कः २
	२–त्रिवृत्स्थानीयो स्थितिलक्षणः—अग्निः–ऋङ्मयः–उक्थः—{ ओ०व०	—उक्थः १
भूमिः–	१–भौमाग्निश्चित्यः—— –––––अग्निः–ऋङ्मयः–उक्थः–{ मृत्	

इन तीनों अन्नादों के अन्न जब अन्नादगर्भ में प्रविष्ट हो जाते हैं, तो उन अन्नों की स्वतन्त्र सत्ता का उच्छेद हो जाता है, एवं **'अत्तैवाख्यायते'** के अनुसार केवल अन्नाद का ही व्यवहार शेष रह जाता है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए इन तीनों को 'उक्थ–अर्क्य–महाव्रत' नामों से व्यवहृत किया गया है। 'उक्थम्' में 'उक्' ऋगग्नि का वाचक है, 'थम्' पशुलक्षण अन्न का सूचक है। अन्नादाग्निरूप 'उक्', तथा पशुलक्षण अन्नरूप 'थम्' की समष्टि ही **'उक्थम्'** है। 'अर्क्यम्' में 'अर्क्' यजुर्वायु का वाचक है, 'क्यम्' आपोलक्षण अन्न का सूचक है। अन्नादवायुरूप 'अर्क्', तथा आपोलक्षण अन्नरूप 'क्यम्', की समष्टि ही **'अर्क्यम्'** है। 'महाव्रतम्' में 'महा' सामादित्य का वाचक है, 'व्रतम्' सोमलक्षण अन्न का सूचक है। अन्नादादित्यरूप 'महा', तथा सोमलक्षण 'व्रतम्' की समष्टि 'महाव्रतम्' है। तीनों का समुच्चय एक प्रजापति है, यही वेदमहिमा से (यजुष्टः–ऋक्तः–सामतः) अन्नान्नादमूर्त्ति बन रहा है। त्रैलोक्यगर्भ में उत्पन्न होने वाले पदार्थमात्र उक्थ–अर्क–व्रतरूप हैं, अग्नि–वायु–आदित्यमय हैं, अर्थ–क्रिया–ज्ञानयुत हैं, ऋक्–यजुः–साममय हैं, मूर्त्ति–गति–मण्डलात्मक हैं। उक्थ–अर्क–व्रतरूप इन यच्चयावत् पदार्थों का मूल उक्थ–अर्क्य–महाव्रतलक्षण यही सम्वत्सरप्रजापति है। वह इन सब उक्थों का अग्निकला से—महदुक्थरूप उक्थ है। अतएव उसे 'उक्थानामुक्थानि' कहा जायगा। वह इन सब अर्कों का वायुकला से अर्क है, अतएव उसे **'अर्काणां अर्क्याणि'** माना जायगा। वह इन सब व्रतों का आदित्यकला से व्रत है, अतएव उसे **'व्रतानां व्रतानि'** कहा जायगा। वह इन महानों का 'महान्' है, अतएव उसे **'महतां महान्ति'** कहा जायगा। पूर्व श्रुतियों नें अर्कदृष्टि से इसी सम्वत्सर की महिमा का दिग्दर्शन कराते हुए वेदमहिमा को दिग्दर्शन कराया है।

२१
व्रतम्–अन्नम् (सोमः) * * * *
महा–अन्नादः (आदित्यः)—साममयः
} महाव्रतम्—सामतः (आत्मैव)

१५
क्यम्–अन्नम् (आपः) * * * *
अर्क्–अन्नादः (वायुः)—यजुर्म्मयः
} अर्क्यम्—यजुष्टः (आत्मैव)

६
थम्—अन्नम् (ओष०) * * *
उक्—अन्नादः (अग्निः)—ऋङ्मयः
} उक्थम्— ऋक्तः (आत्मैव)

} "तदेकं स त्रेधा व्यायते" (अर्काः...—सम्वत्सरः)

३४-ब्रह्म-क्षत्र-मूर्त्ति अग्नि—

प्रसङ्गवश सम्वत्सराग्नि के 'अर्क' रूप का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब एक दूसरे प्रसङ्ग से सम्वत्सराग्नि के 'ब्रह्म-क्षत्र' रूपों की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पूर्व में बृहतीछन्द, तथा छन्दित बृहत्प्राण का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, सौर इन्द्रप्राण ही बृहत्प्राण है, यही सम्वत्सरप्रजापति है। अब प्रक्रान्त अर्काग्निप्रकरण में 'अग्नि' को 'सम्वत्सर' बताया जारहा है। इसप्रकार कहीं अग्नि, कहीं इन्द्र, कहीं अग्नि–वायु–आदित्य की समष्टि, तो कहीं भौम अन्नादाग्नि, इस विसम्वाद से हम थोड़ी देर के लिए सन्देह में पड़ जाते हैं। एवं सम्वत्सरस्वरूप के सम्बन्ध में–'ए एवेदमिति ब्रुवत्' (इदमित्थमेव) इस प्रतिज्ञा से वञ्चित हो जाते हैं। इसी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए सम्वत्सरप्रजापति के 'ब्रह्म-क्षत्र' रूपों का दिग्दर्शन कराने की आवश्यकता हुई है।

"यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" के अनुसार द्युलोकस्वरूप सौरसम्वत्सर इन्द्रप्रधान है, एवं पार्थिवसंस्थाध्यक्ष पार्थिव सम्वत्सर अग्निप्रधान है। सौर-सम्वत्सरस्थ सावित्राग्नि गौण है, ज्योतिर्ल्लक्षण मघवेन्द्र प्रधान है। पार्थिव–सम्वत्सरस्थ गायत्राग्नि प्रधान है, वासवेन्द्र गौण है। अग्नि ब्रह्म है, इन्द्र क्षत्र है। सौरसम्वत्सर भी ऐन्द्राग्न बनता हुआ क्षत्रब्रह्ममूर्त्ति है। पार्थिव सम्वत्सर भी आग्नैन्द्र बनता हुआ ब्रह्मक्षत्रमूर्त्ति है। इन्द्रप्रधान सौरसम्वत्सर क्षत्रप्रधान बनता हुआ 'क्षत्र' है, अग्निप्रधान पार्थिवसम्वत्सर ब्रह्मप्रधान बनता हुआ 'ब्रह्म' है। जब तक इन दोनों सम्वत्सरों का परस्पर अतिमान सम्बन्ध नहीं हुआ था, उस समय क्या परिस्थिति थी ?, यह विचार कीजिए। उख्याग्नि (पार्थिव त्रिलोकी

में व्याप्त, अग्नि–वायु–आदित्यात्मक पार्थिव–सम्वत्सराग्निब्रह्म), एवं सौर इन्द्र (सौर त्रिलोकी में व्याप्त, बृहतीसहस्रात्मक मघवेन्द्रक्षत्र;) जब तक दोनों का सम्बन्ध न हुआ, तब तक दोनों हीं सृष्टिकर्म्म में असमर्थ रहे। ब्रह्म भी सृष्टि में असमर्थ है, क्षत्र भी असमर्थ है। दोनों के समन्वय से ही सृष्टि का विकास सम्भव है। दोनों नें अपने नानाभाव (पार्थक्य) लक्षण इस मृत्यु को देखा। दोनों नें सृष्टिकर्म्म में अपने आपको असमर्थ पाया। इस मृत्युभाव से बचने के लिए दोनों को मिलना पड़ा। दोनों के समन्वय से (पार्थिव–सौररस से) प्रजा–सर्ग वितत हो गया। साथ ही दोनों हीं सम्वत्सरप्रजापति दोनों वीर्य्यों से युक्त हो गए। सूर्य्यपिण्ड यदि अग्निब्रह्म बना, तो सौर ज्योतिर्म्मण्डल इन्द्रक्षत्र बन गया। भूपिण्ड यदि अग्निब्रह्म बना, तो उख्यात्रिलोकीरूप देवाग्नि इन्द्रक्षत्रप्रधान बन गया। इसप्रकार ब्रह्म–अग्नि, तथा क्षत्र–इन्द्र दोनों की चिति से पार्थिव–सौररस एकरूप में परिणत होते हुए सृष्टिकर्म्म में समर्थ बन गए। इसी आधार पर सम्वत्सरप्रजापति को इन्द्रात्मक भी कहा जा सकता है, अग्न्यात्मक भी माना जा सकता है। एवं अग्नि–वायु–आदित्यात्मक मानने में भी कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। इसी रहस्य को लक्ष्य–में रख कर श्रुति कहती है—

१— "अथेन्द्राग्नी वा ऽ असृज्येतां ब्रह्म च, क्षत्रं च। अग्निरेव ब्रह्म, इन्द्रः क्षत्रम्। तौ सृष्टौ नानैवास्ताम्। तावब्रूतां–न वा इत्थं सन्तौ शक्ष्यावः प्रजाः प्रजनयितुम्। एक रूपमुभावसावेति। तावेकं–रूपमुभावभवताम्"।

२–"तौ यौ ताविन्द्राग्नी–एतौ तौ रुक्मश्च पुरुषश्च। रुक्म एवेन्द्रः, पुरुषोऽग्निः। तौ हिरण्मयौ भवतः। ज्योतिर्वै हिरण्यम्, ज्योतिरिन्द्राग्नी। अमृतं हिरण्यं, अमृतमिन्द्राग्नी"।

—(शत० १० ४।१।५,६,)।

३५–नवाहयज्ञ का वितान—

अग्निब्रह्मप्रधान पार्थिव सम्वत्सर, तथा इन्द्रक्षत्रप्रधान सौरसम्वत्सर, दोनों के इस समन्वय का फल क्या हुआ ?, इस प्रश्न का एक समाधान तो है–'प्रजोत्पत्ति'। एवं दूसरा समाधान है–पार्थिवसम्वत्सरयज्ञ की पञ्चधा व्याप्ति, पाङ्क्तता, पञ्चावयवयता। इसी समन्वय से पार्थिवयज्ञ **'पाङ्क्तो वै यज्ञः'** इस उपाधि का पात्र बना है। स्वयं भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाले 'हविर्यज्ञ' को छोड़ दीजिए। भूमहिमा से सम्बन्ध रखने वाला साम्वत्सरिक वितानयज्ञ तो सौर–सम्वत्सर के अतिमान का ही फल है। सौर सम्वत्सर के आधार पर ही पार्थिवयज्ञ **'महाव्रत'[१]–'सावित्री'[२]–'ज्योतिष्टोम'[३]–'वैश्वकर्म्म'[४]–'सौम्यअध्वर'** (सोमयाग) इन पाँच संस्थाओं में विभक्त हो रहा है। ये पाँचों पार्थिव यज्ञ पृथिवी के उन '१७[१]–१८[२]–१९[३]–२०[४]–२१[५]–२२[६]–२३[७]–२४[८]–२५[९]' नौ अहर्गणों में प्रतिष्ठित हैं, जो कि नवो अहर्गण सौरसम्वत्सरमण्डल में भुक्त हैं। पञ्च यज्ञात्मक इसी महायज्ञ को नवाहर्गण के सम्बन्ध से 'नवाहयज्ञ' कहा गया है।

सत्रहवाँ अहर्गण इस नवाहयज्ञ की अर्वाग्बिन्दु है, यहीं सौम्य अध्वर नामक सोमयाग प्रतिष्ठित है। इस यज्ञाग्नि के अनुष्ठान से (वैध सोमयाग से) जो सोमयागाग्निसंस्कार प्रतिष्ठित होता है, उसके आकर्षण

से यजमान का भूतात्मा (मानुषात्मा) सप्तदशस्तोमस्थानीय 'त्रिणाचिकेतस्वर्ग' में प्रतिष्ठित हो जाता है। १८-१९-२०, इन तीन अहर्गणों की समष्टि में 'वैश्वकर्म्म' नामक दूसरा यज्ञ प्रतिष्ठित है। इसके संस्कार से विश्वेदेवों के तदहर्गणात्मक लोक प्राप्त होते हैं। २१ वाँ अहर्गण इस नवाहयज्ञ की नभ्य (केन्द्र) बिन्दु है। 'एकविंशो वा इत आदित्यः' के अनुसार यहीं सूर्य प्रतिष्ठित है। यहीं ज्योतिष्टोम' नामक तीसरा यज्ञपर्व प्रतिष्ठित है। इसके संस्कार से एकविंशस्तोमात्मक, वह 'नाकस्वर्ग' मिलता है, जिसकी-*'यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्०' इत्यादि रूप से महत्ता बतलाई जाती है। २२-२३-२४, इन तीन अहर्गणों की समष्टि में 'सावित्र' नामक चौथा ग्रहपर्व प्रतिष्ठित है। इसके संस्कार से तदहर्गणात्मक सावित्रलोक प्राप्त होते हैं। २५ वाँ अहर्गण 'अविवाक्यमहः' नाम से प्रसिद्ध है।

'अविवाक्यमहः' नामक यही अहर्गण इस नवाहयज्ञ की परागूबिन्दु है। पञ्चविंशस्तोमात्मक यही स्वर्ग 'ब्रध्नस्यविष्टप्' नाम से प्रसिद्ध है। यहीं नवाहयज्ञ का पाँचवाँ 'महाव्रत' नामक ग्रह प्रतिष्ठित है। इस यज्ञसंस्कार से 'अपुनर्म्मार'-'कामप्र'-'अशोकमहिम' इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध महाव्रतलोककी प्राप्ति होती है। नौ अहर्गणों में १७[१]-२१[२]-२५[३], ये तीन स्थान तो क्रमशः 'त्रिणाचिकेत-नाक-ब्रध्नस्यविष्टप्' नामक विष्टप्स्वर्ग हैं। त्रिणाचिकेत ब्रह्मविष्टप् है, नाकस्वर्ग + विष्णुविष्टप् है, एवं ब्रध्नस्यविष्टप् 'इन्द्रविष्टप्' है। शेष '१८[१]-१९[२]-२०[३]-२१[४]-२२[५]-२३[६]-२४[७]" ये सात अहर्गण क्रमशः अग्निदेवताप्रधान 'अपोदक'[१],-वायुदेवताप्रधान 'ऋतधामा'[२],-मरुत्वानिन्द्रप्रधान-'अपराजित'[३],-मघवेन्द्रप्रधान 'अन्तर्नाक'[४], वरुणदेवताप्रधान 'अधिद्यौ'[५],-मृत्युदेवताप्रधान-'प्रद्यौः'[६],-ब्रह्मप्रधान 'रोचन'[७] नामक सात देवस्वर्ग हैं, जिनके लिए-'सप्त वै देवस्वर्गाः-'अपि च सप्त' इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त वचन सुने जाते हैं।

तात्पर्य कहने का यही है कि, सौर-पार्थिव सम्वत्सरों के अतिमान से जैसे पार्थिव रथन्तर-वैरूप-शाक्वरसाम तथा सौर बृहत्-वैराज रैवतसाम, इन छओं सामों का पार्थिव रथन्तर, सौर बृहत्-(रथन्तर-बृहत्), पार्थिव वैरूप, सौरवैराज (वैरूप-वैराज) एवं पार्थिव शाक्वर, सौर रैवत (शाक्वर-रैवत), इस रूप से परस्पर ओतप्रोतभाव रहता है। एवमेव इसी अतिमान से पार्थिव नवाहयज्ञ के महाव्रतादि पाँचों यज्ञपर्व सौर सम्वत्सर में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। सुप्रसिद्ध चयनयज्ञ से पाँचों यज्ञसंस्कार यज्ञकर्त्ता यजमान के मानुषात्मा में प्रतिष्ठित होते है, जिनका-'उद्गाता महाव्रतेन रसं दधाति' (शत० १०।४।१।१२ कण्डिका से २३

---

* यन्न दुःखेन सम्भिन्नं यच्च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वः पदास्पदम्॥

+ २१ वाँ अहर्गण रुक्म, तथा पुरुष भेद से दो भागों में विभक्त है। रुक्मात्मक वही एकविंशस्थान विष्णुविष्टप् है। एवं पुरुषात्मक २१ स्थान मघवेन्द्रप्रधान अन्तर्नाक है। इस प्रकार २१ के दो भेद हो जाते हैं। अतएव इसकी विष्णुविष्टप् रूप से त्रिविष्टप् स्वर्ग में भी गणना हुई है, एवं अन्तर्नाक रूप से सप्तस्वर्गसमष्टि में भी इसका समावेश हुआ है।

वीं कण्डिकापर्य्यन्त) इत्यादिरूप से विस्तार से निरूपण हुआ है । इसीलिए चयनयज्ञ सर्वोत्कृष्ट यज्ञ माना गया है । सोमयागादि इतर यज्ञ जहाँ केवल अशाश्वत फल के प्रवर्त्तक हैं, वहाँ यह अग्नियज्ञ उभयफल का प्रवर्त्तक बन रहा है—"नामृतत्त्वस्य तु-आशास्ति, ऋते चयनात्"

३६–भूतव्यात्मक प्रजापति—

अग्नि सोममूर्त्ति–(अन्नाद–अन्नमूर्त्ति) सम्वत्सरप्रजापति का स्वरूप पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है । साथ ही सम्वत्सराग्नि की मुहूर्त्तलक्षण १०८०० कलाओं का, कलाओं के ही प्रसङ्ग में बृहतीसहस्र का भी स्पष्टीकरण किया जा चुका है । इस आधिदैविक सम्वत्सर का आध्यात्मिक पुरुष के साथ क्या सम्बन्ध है ?, यह भी संक्षेप से स्पष्ट कर दिया गया है । अब उस 'वेदमहिमा' का संक्षिप्त विवरण वेदप्रेमियों के समक्ष उपस्थित किया जारहा है, जो महिमा सम्वत्सरप्रजापति से सम्बन्ध रखती है । जो सम्वत्सरप्रजापति अपने रिरिचान–भाव के पुनः सन्धान के लिए १०८०० कलाओं में विभक्त हो रहा है, जो प्रजापति बृहतीसहस्र (३६०००) प्राण से युक्त होकर सात अहोरात्रवृत्ता का अधिष्ठाता बन रहा है, जिस प्रजापति का प्रत्येक अहोरात्रवृत्त बृहतीसहस्र के नमन से बृहतीसहस्रात्मक बन रहा है, जो प्रजापति अपने बृहतीसहस्र से आत्मा के बृहतीसहस्रात्मक आयुःसूत्रों की प्रतिष्ठा बना रहा है, उस प्रजापति को अपने लक्ष्य में रखिए, एवं उसकी वेदमहिमा के संख्याविस्तार की मीमांसा आरम्भ कीजिए । सम्वत्सरप्रजापति के मुहूर्त्तात्मक स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के अनन्तर ही निम्न लिखित श्रुति हमारे सामने आती है—

***–"तानि सम्वत्सरे दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि (१०८००)–समपद्यन्त । सोऽत्रातिष्ठत–दशसु च सहस्रेष्टासु च शतेषु"** (शत० १०।४।२।२०-९० सं० २२४ में उद्धृत-पूर्वसम्बन्ध सूचन) ।

१–"अथ सर्वाणि भूतानि पर्य्यैक्षत । स त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतानि–अपश्यत । अत्र हि सर्वेषां छन्दसामात्मा, सर्वेषां स्तोमानां, सर्वेषां प्राणानां, सर्वेषां देवानाम् । एतद्वा अस्ति, एतद्धि–अमृतम् । यद्धि–अमृतं, तद्धि–अस्ति । एतदु तत्, मर्त्यम् ।" (शत० १०।४।२।२१) ।

इस श्रुति का, एवं इस सम्बन्ध में बतलाई जानें वालीं वेदव्यूहनात्मिका आगे की श्रुतियों का अक्षरार्थ प्रमाणवाद में बतलाया जा चुका है । यहाँ इनके रहस्यार्थ का ही संक्षिप्त स्पष्टीकरण होगा । सम्वत्सराग्नि के त्रिवृत् स्थानीय पार्थिव अग्नि, पञ्चदश स्थानीय आन्तरिक्ष्य वायु, एकविंश स्थानीय दिव्य आदित्य, नामक जिन तीन पर्वों का पूर्वप्रकरणों में यत्र–तत्र स्पष्टीकरण हुआ है, वे ही तीनों पर्व अपने पारस्परिक तानूनप्त्रभाव (शपथपूर्विका पारस्परिक मैत्री) से एक दूसरे में मिलते हुए क्रमशः **'विराट्'**–**'हिरण्यगर्भ'**-**'सर्वज्ञ'** नामों से प्रसिद्ध हो रहे हैं । पार्थिव त्रिवृत् अग्नि 'योनि' (अग्नि) बना, आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य आदित्य, दोनों रेत (सोम) बने, दोनों नें अग्नि में आत्मसमर्पण कर डाला । इस अग्निप्रधान, वाय्वादित्यगर्भित, त्रिमूर्त्ति, त्रैलोक्यव्यापक सम्वत्सराग्नि का ही नाम **'विराट्'** हुआ, जो कि विराटअग्नि

अपनी अर्थशक्ति की प्रधानता से अर्थमूर्त्ति बनता हुआ प्रजासृष्टि के अर्थप्रपञ्च का अध्यक्ष बन प्रजाओं के **'वैश्वानर'** पर्व की प्रतिष्ठा बन रहा है, जो कि इसी वैश्वानरभागद्वारा 'असंज्ञ' जीवों का आत्मा बना हुआ है। आन्तरिक्ष्य पञ्चदशवायु योनि बना, अग्नि–आदित्य रेत बने, दोनोंनें वायु मे आत्मसमर्पण कर डाला, इस मे वायुप्रधान, अग्न्यादित्यगर्भित, त्रिमूर्त्ति, त्रैलोक्यव्यापक सम्वत्सराग्नि का ही नाम **'हिरण्यगर्भ'** हुआ, जो कि हिरण्यगर्भवायु अपनी क्रियाशक्ति की प्रधानता से क्रियामूर्त्ति बनता हुआ प्रजासृष्टि के क्रियाप्रपञ्च का अध्यक्ष बन, प्रजाओं के **'तैजस'** पर्व की प्रतिष्ठा बन रहा है, जो कि इसी तैजस भागद्वारा **'अन्तःसंज्ञ'** जीवों का आत्मा बना हुआ है। दिव्य, एकविंश आदित्य योनि बना, अग्नि–वायु रेत बने, दोनों नें आदित्य में आत्मसमर्पण कर डाला, इस से आदित्यप्रधान, अग्निवायुगर्भित, त्रिमूर्त्ति त्रैलोक्यव्यापक उसी सम्वत्सराग्नि का नाम **'सर्वज्ञ'** हुआ, जो कि सर्वज्ञ आदित्य अपनी ज्ञानशक्ति की प्रधानता से ज्ञानमूर्त्ति बनता हुआ प्रजासृष्टि के ज्ञानप्रपञ्च का अध्यक्ष बन, प्रजाओं के **'प्राज्ञ'** पर्व की प्रतिष्ठा बन रहा है, जो कि इसी प्राज्ञभागद्वारा **'ससंज्ञ'** जीवों का आत्मा बना हुआ है। इसप्रकार त्रिः–त्रिः–त्रिः–मूर्त्ति, अग्नि–वायु–आदित्यप्रधान, विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञकृतरूप, त्रैलोक्यव्यापक ऐसा सम्वत्सराग्नि ही उक्त श्रुति का 'प्रजापति' है, जो कि १०८०० कलाओं में प्रतिष्ठित हो रहा है।

सम्वत्सरप्रजापतिः प्रजनयिता—

२१–द्यौः
- *–आदित्यः (दिवि)—योनिः (अग्निः)
- २–वायुः (अन्तरिक्षे) } –रेतः (सोमः)
- ३–अग्निः (पृथिव्याम्) }

–आदित्यप्रधानस्त्रिमूर्त्तिः–"**सर्वज्ञः**" (सहस्रशीर्षः) (प्राज्ञः)

१५–अन्तरिक्षम्
- *–वायुः (अन्तरिक्षे)—योनिः (अग्निः)
- २–आदित्यः (दिवि) } –रेतः (सोमः)
- १–अग्निः (पृथिव्याम्) }

–वायुप्रधानस्त्रिमूर्त्तिः–"**हिरण्यगर्भः**" (सहस्राक्षः) (तैजसः)

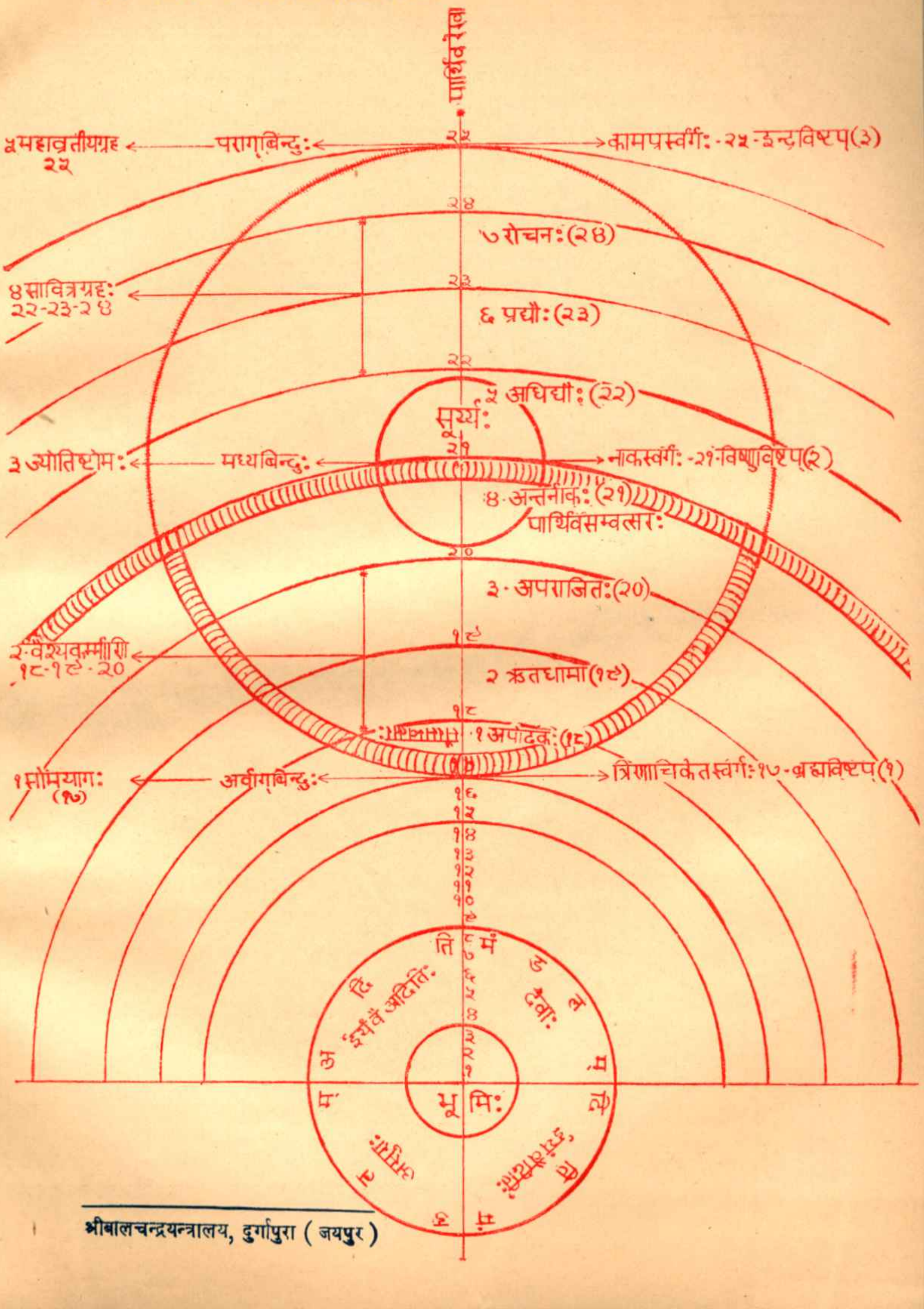
९–पृथिवी
- *–अग्निः (पृथिव्याम्)–योनिः (अग्निः)
- २–वायुः (अन्तरिक्षे) } –रेतः (सोमः)
- ३–आदित्यः (दिवि) }

–अग्निप्रधानस्त्रिमूर्त्तिः–"**विराट्**" (सहस्रपात्) (वैश्वानरः)

सहस्रशीर्षाः — सहस्राक्षः — सहस्रपात्

*— भूमिः — "स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्"

(५)—पार्थिव-सम्वत्सरातिमानपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

३७-प्रजापति की प्रजाचतुष्टयी—

दशसहस्र-अष्टौ-शत कलाओं में प्रतिष्ठित, विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञात्मक, सम्वत्सरलक्षण इस ईश्वरप्रजापति ने सम्पूर्ण भूतों के साथ योग किया-(पर्य्यैक्षत्). एवं त्रयीविद्या में हीं इन्हें प्रतिष्ठित देखा-(अपश्यत्)। प्रजापति से उद्भूत प्रजा को भी 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस अनुगम के अनुसार चार ही श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। चतुष्कल प्रजापति की प्रजा के भी चार ही विभाग होनें चाहिएँ। ज्ञानप्रधाना सर्वज्ञकला[1] क्रियाप्रधाना हिरण्यगर्भकला[2], अर्थप्रधाना विराट्कला[3], एवं मृत्-प्रधाना भूकला[4], इन चार कलाओं से प्रजापति चतुष्कल बन रहे हैं। इन चार कलाओं के तारतारम्य से (गौण-प्रधानभाव से) क्रमशः ज्ञानमयी सर्वज्ञकला से-ज्ञानप्रधाना 'ब्रह्म'[1] प्रजा का, क्रियामयी हिरण्यगर्भकला से क्रियाप्रधाना 'देव'[2] प्रजा का, अर्थमयी विराट्कला से अर्थप्रधाना 'भूत'[3] प्रजा का, एवं मृण्मयी भूकला से मृत्प्रधाना (प्रवर्ग्य-प्रधाना) 'पशु'[4] प्रजा का विकास हुआ है।

ब्रह्मप्रजा पांच भागों में, देवप्रजा ३३ भागों में, भूतप्रजा पाँच भागों में, एवं पशुप्रजा अनन्त भागों में विभक्त हैं। प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद, नाम से प्रसिद्ध पाँच प्रकृतियाँ हीं 'पञ्चब्रह्म' हैं, यही ब्रह्मप्रजा है। अग्निप्रमुख आठ वसु, वायुप्रमुख ग्यारह-रुद्र, आदित्यप्रमुख बारह रुद्र, न सत्य-दस्र-नामक दो अश्विनीकुमार, इन तैतीस-प्राणदेवताओं की समष्टि ही 'देवप्रजा' है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश (मर्त्याकाश) की समष्टि ही भूतप्रजा है। इन भूतों से सम्पन्न धातु-उपधातु-रस-उपरस· विष-उपविष-ओषधि-वनस्पतियाँ, आदि अनन्तविध, अनात्मीय, मूर्च्छित, प्रवर्ग्य भौतिक पदार्थ हीं 'पशुप्रजा' है। इन चारों प्रजाओं में पशुप्रजा का आधार भूतप्रजा है, भूतप्रजा का आधार देवप्रजा है, देवप्रजा का आधार ब्रह्मप्रजा है, सर्वाधार वही त्रिमूर्त्ति-सम्वत्सरप्रजापति है। ब्रह्मप्रजा मुख्या है, प्रधाना है, उत्तमस्थानीया है। देवप्रजा-गौणमुख्या है, प्रधानाप्रधाना है, मध्यमस्थानीया है। भूतप्रजा गौणा है, अप्रधाना है, अधमस्थानीया है। पशुप्रजा सर्वस्थान-शून्या स्थानविच्युता है, मूर्च्छिता है। दूसरी दृष्टि से हम ब्रह्मप्रजा को उत्तम, देवभूतप्रजा को मध्यम, एवं पशुप्रजा को अधम मान सकते हैं। केवल पशुप्रजा का उपासक मनुष्य मूढ है, तम से आक्रान्त है। देव-भूत (पारलौकिक स्वर्गादिसुख, ऐहलौकिक वैषयिक सुखरूप) प्रजा का उपासक क्लेश का अनुगामी है। एवं ब्रह्मप्रजा का (प्रकृति का) उपासक प्रकृतिस्थ बनता हुआ सर्वतोभावेन सुखी है *।

उक्त चारों प्रजाओं में से ब्रह्मप्रजा प्रकृतित्त्वेन पुरुषप्रजापतिवत् त्रैलोक्य में व्याप्त है, ज्ञानप्रधानत्त्वेन असङ्ग है। अतएव यह कहने भरके लिए प्रजा होती हुई भी 'अप्रजा' है। इसी प्रकार चौथी पशुप्रजा भी

---

*-कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्म्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ (गी० २।४।३)।

१-यश्च बुद्धेः परंगतः]——ब्रह्मोपासकाः

२-क्लिश्यत्यन्तरितो जनः]——देवभूतोपासकाः

३-यश्च मूढतमो लोके]——पश्वनुयायिनः

अनन्तमीयत्त्वेन, देव–भूताश्रित्वेन मूर्च्छितलक्षणा अप्रजा ही मानी जायगी। प्रजाधर्म्मों का विकास तो देव, तथा भूतप्रजा में ही होता है। अतएव—"देवतानि च भूतानि" के अनुसार इन मध्य प्रजाओं के लिए ही 'प्रजा' शब्द व्यवहृत हुआ है। इन में देवप्रजा का अपना लोक "द्यौः" है, सूर्य्य है—"चित्रं देवानामुदगात्"। एव भूतप्रजा का अपना लोक 'पृथिवी' है,—'पृथिवी वै सर्वेषां भूतानां रसः"।

प्रजाचतुष्टयी–परिलेखः—

१–सर्वज्ञानुगता——ज्ञानप्रधाना—"**ब्रह्मप्रजा**" (प्राणाब्वागन्नान्नादविधा)-अप्रजालक्षणा प्रजा।

२–हिरण्यगर्भानुगता–क्रियाप्रधाना—"**देवप्रजा**" (वसुरुद्रादित्याश्विनविधा)--प्रजालक्षणा प्रजा।

३–विराडनुगता——अर्थप्रधाना—"**भूतप्रजा**"(पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशविधा)-प्रजालक्षणा प्रजा।

४–चित्यभूम्यनुगता–मृत्प्रधाना—"**पशुप्रजा**" (धातूपधातवः) ।———अप्रजालक्षणा प्रजा।

३८–त्रयीविद्या, और भूतदृष्टि—

सौरी देवप्रजा, पार्थिवी भूतप्रजा, इन दो प्रजावर्गों का वेद. एवं लोक के द्वारा परस्पर सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध से प्रजापति वेदत्रयी में (वेदत्रयीरूप देवप्रजात्रयी के गर्भ में) भूतप्रजा को देखने में समर्थ होते हैं। देवप्रजा की प्रतिष्ठा वेद है। अग्निमय वसुदेवता ऋग्वेद में, वायुमय रुद्रदेवता यजुर्वेद में, एवं आदित्यमय आदित्यदेवता सामवेद में प्रतिष्ठित हैं। इसी प्रकार भूतप्रजा की प्रतिष्ठा लोक है। वेदसृष्टि ब्रह्म के प्राणमुख से हुई है, अतएव वेद प्राणमय हैं। लोकसृष्टि ब्रह्म के आपोमुख से हुई है, अतएव लोक आपोमय हैं *—। प्राण वही सुप्रसिद्ध प्राणाग्नि है, जिसका पूर्व में 'ब्रह्माग्नि–त्याग्नि' रूप से बड़े विस्तार के साथ यशोगान हुआ है। प्राण और प्राणाग्नि अभिन्न है, प्राणाग्नि और वेद अभिन्न है, वेद और देवता अभिन्न है, यही पहिला वेदविवर्त्तरूप देवविवर्त्त है। यही अग्निविवर्त्त, किंवा अग्नित्रयीविवर्त्त है। आपः वही सुप्रसिद्ध भार्गव सोमतत्त्व है, जिसका पूर्व–में भृग्वङ्गिरोरूप से विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। आपः–और सोम अभिन्न हैं, सोम और अथर्व अभिन्न है, अथर्व और लोक अभिन्न हैं, लोक और भूत अभिन्न हैं। यही दूसरा लोकरूप भूतविवर्त्त है, यही सोमविवर्त्त है। दोनों की समष्टि ही –'**अग्नीषोमात्मकं जगत्**" है।

वेदात्मक देवता लोकात्मक भूतों के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं, लोकात्मक भूत वेदात्मक देवताओं के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं। सौरमण्डल में बाहिर की ओर देवता हैं, भीतर भूत हैं। पार्थिवजगत् में बाहिर की ओर भूत हैं, भीतर की ओर देवता हैं। सौरजगत् की दृष्टि से प्रत्यक्षप्रिय बनते हुए वे ही प्राणदेवता पार्थिवजगत् की दृष्टि से परोक्षप्रिय बन रहे हैं,–जैसा कि—"**परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः**" इत्यादि–निगम से स्पष्ट है। इस देवभूत–संस्थानभेद से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, सौरसंस्था में त्रयीवेद बाहिर

*** अप्सु तां मुञ्च भद्रं ते लोकाह्यप्सु प्रतिष्ठिताः।**
आपोमयाः सर्वरसाः सर्व्वमापोमयं जगत्॥ (महाभारत)।

है, इसके गर्भ में भूत प्रतिष्ठित हैं। एवं पार्थिवसंस्था में त्रयीवेद गर्भीभूत है, इसके बाहिर भूत प्रतिष्ठित हैं। सौरसम्वत्सरप्रजापति त्रयीवेदमूर्त्ति देवतात्रयी के गर्भ में भूतों को देख रहे हैं। इस नियम के अनुसार यद्यपि पार्थिव सम्वत्सरप्रजापति को लोकमूर्त्ति भूतों के गर्भ में वेदत्रयीरूप देवत्रयी के दर्शन करने चाहिए थे। एवं उस अवस्था में सौरसम्वत्सर की दृष्टि से तो श्रुति को—"**त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्**", यह कहना चाहिए था। एवं पार्थिव सम्वत्सर की दृष्टि से—"**भूतेषु वाव त्रयी वद्यामपश्यत्**" यह कहना चाहिए था। परन्तु ऐसा न कह कर श्रुति ने जो सामान्यतः—"**त्रय्यां वाव०**" इत्यादि कह दिया, इसका कुछ विशेष प्रयोजन मानना पड़ेगा।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, तत्त्वतः पार्थिव सृष्टि में भूतों के गर्भ में ही त्रयीविद्या, किंवा त्रयीवेदमूर्त्ति देवता प्रतिष्ठित हैं। परन्तु पार्थिव सम्वत्सर का जब सौर सम्वत्सर में अतिमान हो जाता है, दूसरे शब्दों में पार्थिव सम्वत्सर जब सौर सम्वत्सर में प्रविष्ट हो जाता है, तो इसमें सौरसम्वत्सर के 'त्रय्यां वाव विद्यायां भूतानि' धर्म्म का समावेश हो जाता है। स्वयं भूपिण्ड अवश्य ही भूतप्रधान है, अवश्य ही इसके गर्भ में देवत्रयी प्रतिष्ठित है। परन्तु भूमहिमालक्षण भौतिक पार्थिव सम्वत्सर तो सौर सम्वत्सर का सहयोग प्राप्त कर देवप्रधान बनता हुआ त्रयीविद्याप्रधान ही बन रहा है। इसी दृष्टि से श्रुति ने दोनों हीं सम्वत्सरों के लिए सामान्यतः—"**त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्**" कह दिया है।

क्या भूपिण्ड की दृष्टि से—"**भूतेषु त्रयीविद्यामपश्यत्**" यह कहा जा सकता है?, नेति होवाच। कारण स्पष्ट है। प्रश्न दृष्टि का है, देखने का है। एवं जहाँ जहाँ दृष्टि का सम्बन्ध है, वहाँ वहाँ सर्वत्र 'त्रय्यां वाव विद्यायां भूतानि' नियम प्रतिष्ठित है। '**यच्च किञ्चदार्ष्टिविषयकमग्निकर्म्मैव तत्**' इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार दृष्टिकर्म्म अग्निप्रधान है। इधर वेदत्रयी अग्नित्रयीरूपा है। हम भूपिण्ड को देखें, अथवा भूपिण्ड-प्रतिष्ठित किसी भी पार्थिव पदार्थ को देखें, देखने में सौर सम्वत्सराग्नि का सहयोग आवश्यकरूप से अपेक्षित है। चन्द्रप्रकाश, अग्निप्रकाश, दीपप्रकाश आदि सभी ज्योतियाँ परम्परया नक्षत्रेन्द्रसहकृत सौर ब्रह्माग्नि के ही रूपान्तर हैं। यह भी सिद्ध विषय है कि, विना इस सौर ज्योति (कोई से भी प्रकाश) के सहयोग के हम वस्तु को देख नहीं सकते। सौरप्रकाश ही वस्तुपिण्ड के साथ संयुक्त होकर तदाकाराकारित बनकर जब हमारे चक्षुपटल पर आता है, तभी हम "अयं घटः—अयं पटः—एषा भूमिः—एष मनुष्यः" इत्यादि रूप से वस्तुपिण्ड के दर्शन करने मे समर्थ होते हैं। हमें सदा सौरज्योतिर्म्मयी त्रयीविद्या के गर्भ में ही भूतों की (पदार्थों की) उपलब्धि होती है। अतः अवश्य ही "**त्रय्यां वाव (निश्चयेन) सर्वाणि भूतानि**" कहना ही अन्वर्थ बनता है।

यह तो आपके और हमारे देखने की बात हुई। परन्तु अभी भूपिण्डस्थ (केन्द्रस्थ) पार्थिव अन्नादाग्निरूप प्रजापति की दृष्टि शेष है। ये केन्द्रस्थ प्रजापति जब त्रयीविद्यामय हैं, इनके चारों ओर जब भौतिक स्तर है, जब ये इस भौतिक स्तर के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं, जब दृष्टि का सम्बन्ध—"**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्**" के अनुसार बाहिर की ओर ही माना गया है, तो कम से कम इस केन्द्रस्थ प्रजापति के सम्बन्ध में तो '**भूतेषु त्रयीविद्यामपश्यत्**' कहना ठीक बन सकता है। नेति होवाच। कारण स्पष्ट है।

भौतिक पिण्ड के साथ 'छन्द-वितान-रस' भेद से तीन भावों का सम्बन्ध रहता है। इनमें छन्द को हम देखते हैं, वितान को हम देखते हैं, एवं रस को हम देखते हैं। कैसे ?, इस प्रश्न का विशद विवेचन अगले प्रकरण में किया जाने वाला है। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, छन्दोभाग ही छन्दोवेदलक्षण 'ऋक्' है, यही वस्तुपिण्ड है। वितानभाग ही वितानवेदलक्षण 'साम' है, यही वस्तुमहिमा (बहिर्म्मण्डल) है। रसभाग ही रसवेदलक्षण 'यजु' है, यही वस्तुतत्त्व है। इन तीनों में महिमालक्षण वितानवेद तथा रसलक्षण रसवेद की दृष्टि से तो भूतपिण्ड वेद के गर्भ में प्रतिष्ठित है ही। स्वय भूतपिण्ड भी छन्दोवेद के गर्भ में ही प्रतिष्ठित है। मूर्ति वस्तुपिण्ड है, यही भौतिक पिण्ड है। मूर्त्तिलक्षण इस भूतपिण्ड में विष्कम्भ (व्यास), परिणाह (घेरा), विष्कम्भ-परिणाह की प्रतिष्ठारूप हृद्य-बिन्दु, ये तीन पर्व हैं। ये ही तीनों पर्व क्रमशः ऋक्साम-यजुर्वेद है। इन्ही तीनों पिण्डवेदों की समष्टि ऋग्वेदलक्षण छन्दोवेद है। इस छन्दोवेद की दृष्टि से स्वयं भूतपिण्ड भी त्रयीविद्या (छन्दोवेदलक्षण, ऋङ्मयी त्रयीविद्या) के गर्भ में ही प्रतिष्ठित हो रहा है। इसप्रकार-त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्' यह सिद्धान्त सर्वत्र समानरूप से चरितार्थ हो रहा है।

त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्"—

१ —
१-देवानां-स्वो लोकः-"द्यौः"-सूर्य्यः-"चित्रं देवानामुदगात्"।
२-भूतानां-स्वो लोकः-"भूमिः"-"पृथिवी वै सर्वेषां भूतानां रसः"।

२ —
१-देवाः-वेदेषु प्रतिष्ठिताः - वेदेषु प्रतिष्ठिता देवा लोकेष्वागच्छन्ति।
२-भूतानि-लोकेषु प्रतिष्ठितानि—लोकेषु प्रतिष्ठितानि भूतानि वेदेष्वागच्छन्ति।

३ —
१-वेदाः-प्राणमयाः-अग्निमयाः—प्राणात-वेद [illegible]
२-लोकाः-आपोमयाः—अद्भिः-लोकसृष्टिः
"अग्नीषोमात्मकं जगत्"

४ —
१-सौरसम्वत्सरमण्डलान्तर्भुक्तानि भूतानि त्रय्यां वाव विद्यायां प्रतिष्ठितानि।
२-पार्थिवसम्वत्सरमण्डलान्तर्भुक्तानि त्रय्यां वाव विद्यायां प्रतिष्ठितानि।
३-पिण्डात्मकाः सर्वे भूतभावास्त्रय्यां वाव विद्यायां प्रतिष्ठितानि।
४-अन्नादाग्निमयो भूपिण्डश्छन्दोवेदमय्यां त्रय्यां वाव विद्यायां प्रतिष्ठितः"।
❀-आतश्च-"त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्" इत्याहुराचार्य्याः

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। वस्तुतत्त्व को 'आत्मा, भूत' भेद से दो भागों में भी विभक्त माना जा सकता है। इन दोनों में आत्मा स्वस्वरूप से सदा परोक्ष रहता है। वह कभी दृष्टि का विषय नहीं बनता। दूसरे शब्दों में यों समझ लीजिए कि, आत्मा दृश्य नहीं बनता, अपितु द्रष्टा बना रहता है। भूतभाग इस परोक्ष, हृद्य आत्मा का शरीर है। इस भूतमय शरीर (वस्तुपिण्ड) के 'भूत-देवता' भेद में दो पर्व हैं। उक्थरूप मूलप्राण देवता हैं, अर्करूप देवप्राण देवभक्तियाँ हैं। इन में मूलप्राणरूप देवता आत्मसम्पत्ति है, तूलप्राणरूपा देवभक्तियाँ भूतसम्पत्ति (शरीरसम्पत्ति) है। ये देवभक्तियाँ–१–देवता, २-प्राण, ३–स्तोम, ४–छन्दो' भेद से चार भागों में विभक्त हैं। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, ४९ मरुत्, १३ विश्वेदेव, १२ साध्यदेव, इन सब प्राणों की समष्टि 'देवता'[1] नाम की पहिली देवभक्ति है। प्राण, उदान, व्यान, समान, अपान, नामक पञ्चप्राणों की समष्टि 'प्राण'[2] नाम की दूसरी देवभक्ति है। त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३) भेदभिन्ना स्तोमसमष्टि 'स्तोम'[3] नाम की तीसरी देवभक्ति है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती, नामक सात छन्दों की समष्टि 'छन्द' नाम की चौथी देवभक्ति है। इन चारों देवभक्तियों का मूलोक्थ अग्नि–वायु-आदित्य की समष्टिरूप देवसघ है, जो कि देवसघ आत्मानुगामी बना रहता है। आत्मानुगत देवताओं के आधार पर ही देवभक्तिरूप भौतिक शरीर प्रतिष्ठित रहता है। जिसे हम 'अस्ति' कहते हैं, वह अस्तिभाव (प्रतीयमान वस्तुभाव) देव प्राण-स्तोम–छन्दोरूपा देवभक्तिचतुष्टयीमात्र ही है। ये ही चारों सम्मिलित होकर अस्तिबुद्धि के परिचायक बन रहे हैं। इन चारों की कारण-कार्य्यभेद से दो दो अवस्था रहती हैं। कारणदशा में ये चारों अमृतलक्षण हैं, कार्य्यदशा में भूतभाव में आते हुए ये ही चारों मृत्युलक्षण बन रहे हैं। ये ही 'हैं', ये ही अमृत हैं, ये ही कार्य्य-दशा में मर्त्य हैं। मर्त्य भूतपिण्ड स्वकारणरूप जिन चार देवभक्तियों के अनुग्रह से 'अस्ति' रूप प्रत्यक्ष का विषय बन रहा है, यह वस्तुतः उन वेदमूलक देवताओं की ही महिमा मानी जायगी। क्योंकि देवभक्तियाँ स्वयं वेदात्मिका देवत्रयी के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं। इस दृष्टि से भी हमारा "त्रय्यां वाव विद्यायाम्" इत्यादि सिद्धान्त अपवादरहित बना रहता है। अथवा छोड़िए इस तत्त्ववाद की जटिल पहेली को। सामान्य लौकिक दृष्टि से ही विचार कीजिए। प्रत्येक वस्तु के साथ 'स्पृश्य-दृश्य' भेद से दो भावों का सम्बन्ध रहता है। विज्ञानशास्त्र का यह भी एक माना हुआ सिद्धान्त है कि, जो स्पृश्य है, वह कभी दृश्य नहीं बनता। एवं जो दृश्य है, वह कभी स्पृश्य नहीं बनता। हम देखते हैं किसी भिन्न वस्तुतत्त्व को, एव छूते हैं किसी भिन्न वस्तु को। जिसे देख रहे हैं, उसे छू नहीं सकते। जिसे छू रहे हैं, उसे देख नहीं सकते, जैसाकि पाठक अगले प्रकरण में विस्तार से देखेंगे। स्पृश्यपिण्ड भूतभाग है, भौतिक पिण्ड ही छुआ जा सकता है। दृश्यमहिमा वेदमयी है, देवमयी है। इसके द्वारा ही हम भूतदृष्टि का अनुमान लगाया करते हैं। इस दृष्टि से तो–"**त्रय्यां वाव विद्यायाम्**" में अब किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। त्रयीविद्या की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है—"**अथ सर्वाणि भूतानि पर्य्यैक्षत्**"*। इस श्रुति के आगे निम्न लिखित वचन पठित हैं, जो कि व्यूहनप्रक्रिया का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

---

* **मनोयोगः–ईक्षणम्–पर्य्यैक्षत्।**
चक्षुर्योगः–दर्शनम्–अपश्यत्।

२–'स ऐक्षत प्रजापतिः–त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि ।
हन्त त्रयीमेव विद्यामात्मानमभिसंस्करवा' इति" ।
(शत० १०।४।२।२२।) ।

प्रजापति ने अपना यह निश्चय कर लिया कि, त्रयीविद्या में ही सम्पूर्ण भूत प्रतिष्ठित हैं । फिर क्या विलम्ब था । अनृतसंहित हम मनुष्यों का ईक्षण–दर्शन व्यर्थ जा सकता है, जाता है । परन्तु अग्निप्रधान, अतएव सत्यसंहित सम्वत्सरप्रजापति का ईक्षण–दर्शन व्यर्थ कैसे हो सकता है । प्रजापति ने यह निश्चय किया कि, जिस त्रयीविद्या के गर्भ में सम्पूर्ण भूत प्रतिष्ठित हैं, जिन भूतों में अपनी मात्राप्रदान से मैं रिरिचान बन गया हूँ, उन भूतों के पुनःसन्धान के लिए, पुनिश्चिति के लिए, सर्वभूतों में आत्मरूप से व्याप्त होने के लिए मुझे भूतों को गर्भ में रखने वाली त्रयीविद्या से ही अपने आपका संस्कार करना चाहिए" ।

जैसा कि पूर्व के मुहूर्त–प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है, प्रजापति मुहूर्त्तपर्य्यन्त व्याप्त होते हुए १०८०० कलाओं में विभक्त हो रहे हैं । कलात्मक यह प्रजापति निष्कल एक सम्वत्सररूप में परिणत कैसे हुए ?, कलाविभागों के रहते हुए भी सम्वत्सर एक क्यों कहलाया ?, किस के आधार पर कहलाया ?, इन सब कलाओं का वह एक अभिन्न आत्मा किस आधार पर बना ?, इन सब प्रश्नों का समाधान 'त्रयीविद्या-संस्कार'–प्रक्रिया पर ही अवलम्बित है । एवं यह त्रयीसंस्कार त्रयीविद्या की व्यूहनप्रक्रिया पर ही अवलम्बित है । इसी व्यूहनप्रक्रिया का उपक्रम करते हुए आगे चल कर वेदभगवान् कहते हैं—

३—"स ऋचो व्याहत्–द्वादश बृहतीसहस्राणि । एतावत्यो हऽर्चो, याः प्रजापति-सृष्टाः । तास्त्रिंशत्तमे व्यूहे पंक्तिष्वतिष्ठन्त । ता यत्त्रिंशत्तमे व्यूहेऽतिष्ठन्त, तस्मात्त्रिंशन्मासस्य रात्रयः । अथ यत् पंक्तिषु, तस्मात् पांक्तः प्रजापतिः । ता अष्टाशतं शतानि पंक्तयोऽभवन्" (शत० १०।४।२।२३।) ।

४—"अथेतरौ वेदौ व्याहौत्–द्वादशैव बृहतीसहस्राण्यष्टौ यजुषां, चत्वारि साम्नाम् । एतावद्धैतयोर्वेदयोर्यं प्रजापतिसृष्टम् । तौ त्रिंशत्तमे व्यूहे पंक्तिष्वतिष्ठेताम् । तौ यत् त्रिंशत्तमेव्यूहेऽतिष्ठेतां, तस्मात् त्रिंशन्मासस्य रात्रयः । अथ यत् पंक्तिषु, तस्मात् पांक्त प्रजापतिः । ता अष्टाशतमेव शतानि पंक्तयोऽभवन्" ।
—शत० १०।४।२।२४।

५—"ते सर्वे त्रयो वेदाः–दश च सहस्राण्यष्टौ शतानि–अशीतीनामभवन् । स मुहूर्त्तेन मुहूर्त्तेनाशीतिमाप्नोत्, मुहूर्त्तेन मुहूर्त्तेनाशीतिः समपद्यत ।

६—"स एष त्रिषु लोकेषूखायां योनौ रेतोभूतमात्मानमसिञ्चत्–छन्दोमयं, स्तोममयं, प्राणमयं, देवतामयम् । तस्यार्द्धमासे प्रथम आत्मा समस्क्रियत, दवीयसि परः, दवीयसि परः । सम्वत्सरऽएव सर्वः कृत्स्नः समस्क्रियत ।
—शत० १०।४।२।२५।)।

७—"तद्यत् परिश्रितमपाध त, तद्रात्रिमुपाधत्त । तदनु पञ्चदशमुहूर्त्तान् । मुहूर्त्तानतु पञ्चदशाशातीः । अथ यद्यजुष्मतीमुपाधत्त, तदहरुपाधत्त । तदनु पञ्चदश मुहूर्त्तान् । मुहूर्त्तानतु पञ्चदशाशीतीः । एवमेतां त्रयीं विद्यामात्मन्नावपत, आत्मन्नकुरुत । सोऽत्रैव सर्वेषां भूतानामात्माभवच्छन्दोमयः, स्तोममयः, प्राणमयः, देवमयः । स एतन्मय एव भूत्वा–ऊर्ध्व उदक्रामत् । स यः स उदक्रामत्–एष स चन्द्रमा." (शत० १०।४।२।२७।)।

८—"तस्यैषा प्रतिष्ठा–य एष तपति । एतस्मादेवाध्यचीयते. एतस्मिन्नध्यचीयत आत्मन एव तन्निरांममीत, आत्मनः प्राजनयत्" (शत० १०।४।२।२८") इति ॥

३९–छन्दांसि, और त्रयीवेद—

उक्त आठ वचनों के समन्वय के लिए निम्नलिखित यजुर्मन्त्र, एवं तत् सम्बद्ध छन्दःपदार्थ की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

"तस्माद्य ात सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत" (यजु सं० ३१।७।)।

"योगमायावच्छिन्न, पञ्चपर्वा, पञ्चपुरडीरा–ब्रह्मात्मक जिस आभूप्रजापति (स्वयम्भूब्रह्म) ने सम्पूर्ण विश्व को अपने अधिकार में करने के लिए स्वयं अपने आपको विश्व में, एवं सम्पूर्ण विश्व को अपने आप में हुत कर लिया, प्रजापति का वही समष्टिरूप 'सर्वमेध' लक्षण 'सर्वहुत' यज्ञ कहलाया, जो कि वैधयज्ञ-प्रक्रियाओं में 'विश्वजित्' नाम से भी प्रसिद्ध है * । इस सर्वहुतयज्ञ से ऋचाएँ उत्पन्न हुईं, साम उत्पन्न

---

१ *"ब्रह्म ह वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत । तदैक्षत–न वै तपस्यानन्त्यमस्ति । हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनीति । तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि, सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं, स्वाराज्यं, आधिपत्यं पर्य्यैत्" ।
(शेष पृ० २४८ पर देखिए) —शत० १३।७।१।१।

हुए, छन्द उत्पन्न हुए, एवं यजु–उत्पन्न हुआ" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। सर्वश्रीसायण, उव्वट, महीधरादि भाष्यकारों ने इस मन्त्र का क्या तात्त्विक अर्थ किया है ?, इस प्रश्न का समाधान हमारे पास नहीं है। हाँ इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, अपने अथर्ववेदभाष्य के उक्त मन्त्रव्याख्यान में 'छन्दः' को 'छन्दांसि' परक मानते हुए सायणाचार्य्य ने शब्दात्मक वेदग्रन्थ की ही सर्वहुतयज्ञ से उत्पत्ति बतलाई है, जैसाकि उनके निम्न लिखित भाष्यवचन से स्पष्ट है—

"सर्वहुतः अश्वभूतात् तस्माद्यज्ञात् पुरुषाद् ऋचः पादबद्धा मन्त्राः सामानि गीत्यात्मकानि जज्ञिरे। तस्माद् यज्ञात् पुरुषात् छन्दः। जसो लुक्। छन्दांसि। हशब्दश्चार्थे। छन्दांसि च ऋगाद्यधिष्ठानानि जज्ञिरे। तस्मादेव पुरुषाद् यजुः प्रश्लिष्टपाठात्मका मन्त्रः अजायन"। (अथर्वसं० १६। ।/३-सायणभाष्य)।

हमारे प्रकृत व्यूहनकर्म्म का 'छन्दः' पदार्थ के साथ प्रधान सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, पूर्वश्रुतियों में जिस व्यूहन का उल्लेख हुआ है, उसका एकमात्र 'छन्दोवेद' के साथ ही सम्बन्ध है। अतएव सर्वप्रथम इस 'छन्दः' पदार्थ का दिग्दर्शन कराना आवश्यक हो जाता है। 'छन्दोवत् सुत्राणि भवन्ति'–'ननु चोक्तं छन्दांसि क्रियन्ते'–'छन्दसि बहुलम्'' इत्यादि व्याकरणसिद्धान्तों के अनुसार छन्दः शब्द वेद शब्द का पर्य्याय है। 'छन्दसि' का अर्थ वहाँ 'वेद' ही हुआ है। वेदतत्त्व 'ऋक्–यजुः–साम' भेद से तीन भागों में विभक्त है। इसप्रकार जब वेदत्रयी, और 'छन्दांसि' अभिन्न है, तो उस दशा में श्रुति ने "ऋचः सामानि जज्ञिरे, छन्दांसि जज्ञिरे, यजुस्तस्मादजायत" इत्यादि रूप से वेदत्रयी से पृथक् छन्दांसि का निर्देश क्यों, एवं किस आधार पर किया ?, यह एक प्रश्न है। इस प्रश्न के समाधान के लिए अवश्य ही छन्दःपदार्थविवेचन प्रासङ्गिक बन जाता है।

'वेद का मौलिक स्वरूप' नामक द्वितीय स्तम्भ के "व्यष्टिलक्षण प्राजापत्यवेद" नामक परिच्छेद में (पृ० सं० ५५ से ६१ पर्य्यन्त) गायत्र्यादि सात छन्दों के तत्त्वात्मक रूपों का विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। वहीं यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, वयलक्षण वस्तुतत्त्व को चारों ओर से घेर कर उसे सीमित बनाए रखने वाला वयोनाधलक्षण परिश्रितभाव ही 'छन्द' है। छन्द से छन्दित वस्तु वय है, वय को अपने गर्भ में रखने वाला वयोनाध ही छन्द है। ऋक् का अग्नि से, वायु का यजु से, आदित्य का साम से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में अग्नि ही ऋक् है, वायु ही यजु है, एवं आदित्य ही साम है। यह वेदत्रयी वयस्थानीय

(२४७ वें पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश)

२ "सहस्रं प्रवृञ्ज्यात। सर्वं वै सहस्रम्। सर्वं वै सर्वमेदसम्। सर्वं वै विश्वजित्। एतान्यस्य प्रवर्जनानि। अतो नान्यत्र" (शत० १४।३।१।३७।)।

३ यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्म्मभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयेत्यासते तते॥ (ऋक्सं० १०।१३०।१)।

वस्तुतत्त्व है। इस वेदत्रयी का जो वयोनाध होगा, वही इसका छन्द कहलाएगा। यद्यपि व्यष्टिरूप से ऋक् का गायत्रीछन्द है, यजु का त्रिष्टुपछन्द है, साम का जगतीछन्द है। परन्तु समष्ट्यात्मक छन्द कौन?, उसका क्या स्वरूप?, इस प्रश्न का एकमात्र समाधान है-'**भृग्वङ्गिरोमय अप्तत्त्व**'। अग्नित्रयीरूपा वेदत्रयी अप्-गर्भ में ही प्रतिष्ठित रहती है। सौरसम्वत्सर के चारों ओर पारमेष्ठ्य-भृग्वङ्गिरोमयी आपः का वेष्टन है। इसी वयोनाध से त्रयीमूर्त्ति सम्वत्सर नद्ध है, सीमित है, छन्दित है, सुरक्षित है, जीवित है। अतः हम इस पारमेष्ठ्य आपः को ही 'छन्दःपदार्थ' मानने के लिए तय्यार हैं। '**व्रजं गच्छ गोष्ठानम्**' (यजुः सं० १।२५।) के अनुसार पारमेष्ठ्य आपोमय समुद्र ही गोस्थान है, यही व्रजस्थान है, आपोमय छन्द एतद्रूप ही हैं। अतएव-'**छन्दांसि वै व्रजो गोस्थानः**" (तै० ब्रा० ३।२।९।३।) यह कहा गया है। इसी आपोमय समुद्र के गर्भ में सौराग्नि के समावेश से मेध्य अश्व उत्पन्न हुआ है, जो कि अश्व 'वाजी' नाम से प्रसिद्ध है। हमारे ये छन्द भी '**अप्सुयोनिर्वा अश्वः**' की भाँति आपोमय ही हैं, अतएव-"**छन्दांसि वै वाजिनः**" (गो०ब्रा०उ० १।२०।) यह कहा जाता है। "**आपो हिष्ठा मयोभुवः-यो वः शिवतमो रसः**" (यजु सं० ११।५०.५१) के अनुसार पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व रसरूप (अम्भोरूप) है, हमारे छन्द एतन्मय हैं, अतएव-"**रसो वै छन्दांसि**" (तां० ब्रा० ६।९।२६) यह भी कहा जाता है। इसप्रकार यह सर्वात्मना सिद्ध हो जाता है कि, वेदत्रयमूर्त्ति सम्वत्सर को वेष्टित रखने वाला पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय अप्-तत्त्व ही छन्दःपदार्थ है। यही 'छन्दांसि' है, एवं यही छन्दांसि हमारे उस सोममय चौथे 'अथर्ववेद' का संग्राहक है। 'अथर्ववेद' और 'छन्दांसि' पर्य्याय नहीं हैं। अपितु आपोमय (सोममय) अथर्ववेद का वयोनाध छन्दांसि है। 'आपः' स्वयं बहुवचनान्त है, अतएव तद्रूप 'छन्दः' को 'छन्दांसि' कह दिया गया है। हाँ इस सम्बन्ध में यह अवश्य ही मान लिया जायगा कि, क्योंकि सोममय अथर्ववेद, एवं आपोमय 'छन्दांसि' दोनों समानजातीय हैं। अतएव 'छन्दांसि' से अथर्व का ग्रहण किया जा सकेगा। जहाँ छन्दांसि के स्थान में-'छन्दः' एकवचनान्त रहेगा (अथर्वसं० १९।६।१३), वहाँ छन्दः को अथर्वपरक ही मानना पड़ेगा। इसप्रकार "**अथर्वणां सर्वाणि छन्दांसि**" इत्यादि रूप से तत्त्वतः अथर्व और छन्द को पृथक् मानते हुए भी सजातीयता से इनमें पर्य्याय सम्बन्ध बन जाता है।

उक्त छन्दःपरिभाषा के आधार पर 'तस्माद्यज्ञात्' इत्यादि मन्त्र के सम्बन्ध में हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, यहाँ 'छन्दांसि' पद भृग्वङ्गिरोमय आपोमय अथर्व का सूचक बनने के साथ साथ सम्वत्सराग्नित्रिलोकी के चारों ओर व्याप्त रहने वाले आपोमय, परिश्रितलक्षण वयोनाध का भी द्योतक बन रहा है। इस वयोनाधात्मक आपोमय छन्दस्तत्त्व का स्वयं सम्वत्सरमण्डल में भी भोग हो रहा है। सम्वत्सर वस्तु-तस्तु बृहतीछन्द से ही छन्दित है। अतएव सम्पूर्ण सम्वत्सर 'बार्हत' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी बृहती-छन्द का का इतर गायत्र्यादि ६ओं छन्दों में नमन हो रहा है, जैसाकि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

प्रकृत में ज्योतिःशास्त्र के सुप्रसिद्ध 'वृत्त' को छन्द मान कर ही प्रकृत की व्यूहनप्रक्रिया का समन्वय करना है। अहोरात्रवृत्त, क्रान्तिवृत्त, विक्षेपवृत्त, क्षितिजवृत्त, याम्योत्तरवृत्त, आदि वृत्तों में से प्रकृत में सप्त-संख्याक वे अहोरात्रवृत्त ही अभिप्रेत हैं, जिन्होंनें इन्द्र का सहयोग प्राप्त कर भूपिण्ड को स्थिर मार्ग पर परिभ्रमणशील बना रक्खा है। '**चकाण ओपशं दिवि**' (ऋक्सं०८।१४।५) इत्यादि श्रुति ने इन्द्र के जिस ओपश को भूपरिभ्रमण का कारण बतलाया है, वह ओपश छन्दोरूप यही अहोरात्रवृत्त (विशेषतः

मध्यस्थ बृहतीवृत्त) ही है, जैसा कि—"छन्द ओपशः" (ऋक्सं० १०।८५।८) इत्यादि श्रुत्यन्तर से प्रमाणित है ।

४०–बृहतीछन्द के तीन वितान—

बृहतीछन्द मध्य में प्रतिष्ठित है । इस से २४ अंश उत्तर, तथा २४ अंश दक्षिण, ४८ अंश के परिसर का जो एक ज्योतिर्म्मण्डल है, वही 'सम्वत्सर' (सौर सम्वत्सर) है । इस परिसर के चारों ओर का दीर्घवृत्तात्मक (अण्डवृत्तात्मक) वृत्त ही 'क्रान्तिवृत्त' नाम से प्रसिद्ध है । इसी पर भूपिण्ड अपने स्वाक्ष-परिभ्रमण से दैनंदिनगति का अधिष्ठाता बनता हुआ साम्वत्सरिक गति का अधिष्ठाता बन रहा है । इस सम्वत्सरमण्डल के मध्य में "सूर्य्यो बृहता मध्यदस्तपति"–"नैवोदेता नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता" इत्यादि के अनुसार सूर्य्य तप रहा है । बृहतीछन्द से छन्दित मध्यस्थ सूर्य्य से उत्तर जो अर्ध-मण्डलात्मक २४ अंशों का भाग है, उसके '१२–८–४' इस क्रम से तीन विभाग हैं । एवमेव दक्षिणार्द्ध-मण्डल में भी १२–८ ४ इसी क्रम से तीन विभाग हैं । इन अंशों की दूरी से सौर–बृहती से उत्तर मण्डल में भी तीन पूर्वापरवृत्त हो जाते हैं । एवं दक्षिण में भी तीन पूर्वापरवृत्त हो जाते हैं । मध्यस्थ बृहती-वृत्त स्वय सातवां पूर्वापरवृत्त बन रहा है । इसप्रकार सम्भूय सम्वत्सर में सात अहोरात्रवृत्त हो जाते हैं । जिसप्रकार मध्यस्थ बृहती नामक पूर्वापरवृत्त बृहतीसहस्रसम्पत्ति से युक्त है, तथैव बृहती से उत्तर दक्षिण समानान्तर पर प्रतिष्ठित इतर ६ओं वृत्त भी इसी सम्पत्ति से युक्त हैं । यदि ६ ओं समानान्तर पर हैं, तो फिर '१२–८–४' यह वैषम्य क्यों ?, इस प्रश्न का उत्तर **'शर'** भाव है । दीर्घवृत्तात्मक क्रान्तिवृत्त के शरभाव से ही दृश्यस्थिति की अपेक्षा से इन समानन्तरानुबन्धी वृत्तों में '१२–८–४' यह वैषम्य हो जाता है । सातों अहोरात्रवृत्त समान हैं, फिर भी दृश्यपरिस्थिति की अपेक्षा से जैसे सातों में (दक्षिण से आरम्भ कर उत्तर पर्य्यन्त) '६–७–८–६–१०–११–१२' यह संख्यावैषम्य हो रहा है, एवमेव क्रान्तिशर के अनुग्रह से 'द्वादश-द्वादश-द्वादश' भावों से युक्त, समानान्तर पर प्रतिष्ठित दक्षिणोत्तरवर्ती पूर्वापरवृत्तों में भी 'द्वादश-अष्टौ-चत्वारः' यह वैषम्य हो रहा है ।

विष्वद् (बृहती) वृत्तस्थ सौर बृहतीप्राण ही वेदमूर्त्ति, सौर, नभ्य , सम्वत्सरप्रजापति है । इसके "ऋक्–साम–यजुः" भेद से तीन विवर्त्त हैं । यही मूलवेद है । **"यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थम् । ता ऋचः । स ऋचां लोकः"** के अनुसार बृहत्प्राणात्मक सूर्य्यबिम्ब ऋचाओं की समष्टि है ।**"यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम् । तानि सामानि । स साम्नां लोकः"**के अनुसार बृहत्प्राणात्मक सौर अर्चिर्मण्डल (रश्मिमय ज्योतिर्म्मण्डल, प्रकाशमण्डल) सामों की समष्टि है । एवं सौर अग्नि यजुर्वेद है । इसप्रकार बृहती से छन्दित सूर्य्य में तीनों वेदों का भोग सिद्ध हो रहा है, जैसा कि **'त्रयी वा एषा विद्या तपति"** इत्यादि से स्पष्ट है । इस बार्हत सौरवेद का उन '१२ ८ ४' अंशात्मक तीन पूर्वापरवृत्तों में व्यूहन होता है । इसी व्यूहन से सौरसम्वत्सरप्रजापति की व्याप्ति त्रैलोक्य में हो जाती है । सौरवेद मूलवेद है, यही उक्थ है, आत्मा है ।

अंशात्मना व्याप्त वेद तूलवेद है, यही अर्क है, यही शरीर है। प्रकृत व्यूहनप्रक्रिया इस शरीरवेद की संख्याओं का ही विस्तार बतला रही है।

४१–वितानवेदत्रयी और बृहती छन्द—

उपक्रमभाव प्रस्ताव है, यही 'ऋक्' है। मध्यमभाव उद्गीथ है, यही 'यजुः' है। उपसंहारभाव निधन है, यही 'साम' है। विष्वद्वृत्त से उत्तर १२ अंश पर प्रतिष्ठित पहिला पूर्वापरवृत्त (तदवच्छिन्न द्वादशधा विभक्त बृहतीसहस्रप्राण) उपक्रमस्थानीय ऋक् है। ८ अंश पर प्रतिष्ठित दूसरा पूर्वापरवृत्त (तदवच्छिन्न अष्टधा विभक्त बृहतीसहस्रप्राण) मध्यमस्थानीय यजु है। एवं ४ अंश पर प्रतिष्ठित तीसरा पूर्वापरवृत्त (तदवच्छिन्न चतुर्द्धा विभक्त बृहतीसहस्रप्राण) उपसंहारस्थानीय साम है। ठीक यही क्रम, इसी से समतुलित क्रम विश्वद्वृत्त से दक्षिण के तीनों पूर्वापरवृत्तों में है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो रहा है—

३–द्वादशाक्षरा जगती (४८)–४–अंशात्मकं पूर्वापरवृत्तम्–उपसंहारभावः–साम

२–एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् (४४)–८–अंशात्मकं पूर्वापरवृत्तम्—मध्यमभावः–यजुः

१–दशाक्षरा पंक्तिः (४०)–१२–अंशात्मकं पूर्वापरवृत्तम्—उपक्रमभाव –ऋक्

❀ नवाक्षरा बृहती (३६)–मध्यस्थं पूर्वापरवृत्तम् — वेदत्रयी

१–अष्टाक्षरा अनुष्टुप् (३२)–१२–अंशात्मकं पूर्वापरवृत्तम्—उपक्रमभावः–ऋक्

२–सप्ताक्षरा उष्णिक् (२८)–८–अंशात्मकं पूर्वापरवृत्तम्—मध्यमभावः—यजुः

३–षडक्षरा गायत्री (२४)–४—अंशात्मकं पूर्वापरवृत्तम्–उपसंहारभावः—साम

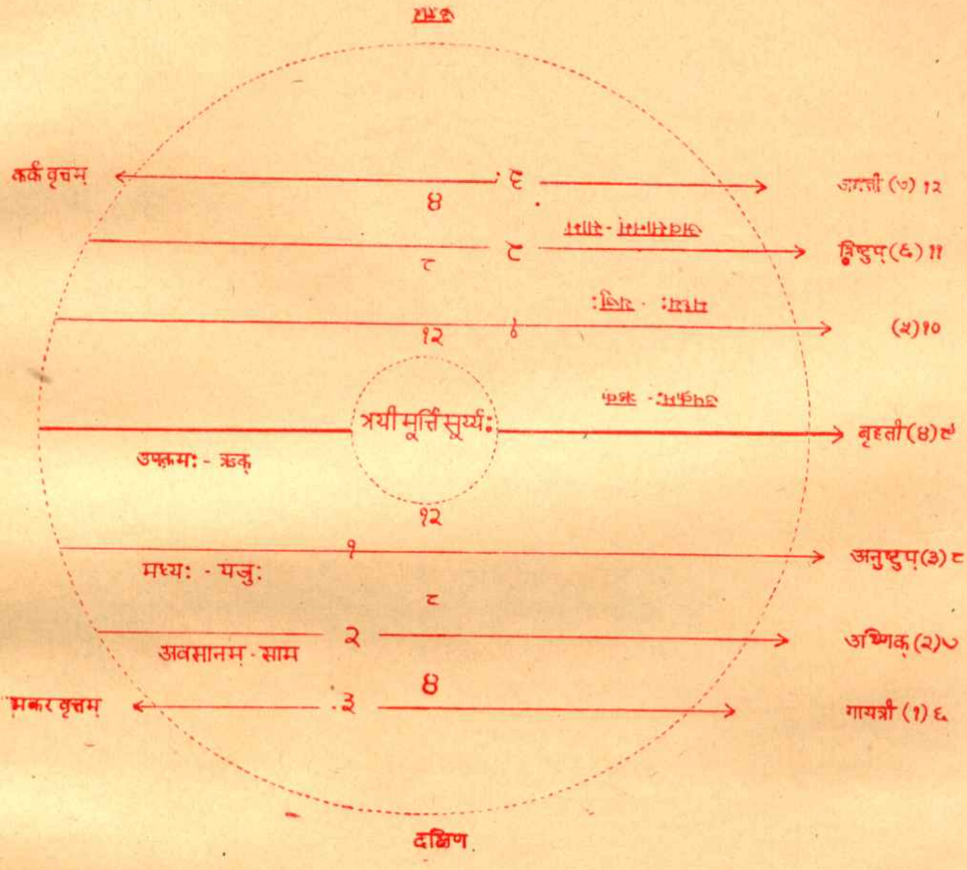
'सप्तछन्दोविज्ञान' का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में यह बतलाया जा चुका है कि. गायत्र्यादि सातों छन्दों में मध्यस्थ बृहतीछन्द तो अपने स्वरूप से अहोरात्रेष्टका बना हुआ है, एवं शेष गायत्र्यादि ६ छन्द दो दो मिलकर ७२–७२ भावों में परिणत होते हुए ७२० अहोरात्रों के स्वरूपसमर्पक बने हुए हैं। इस सिंहावलोकन से कहना प्रकृत में यही है कि, षडक्षरा सामात्मिका गायत्री, द्वादशाक्षरा सामात्मिका जगती, दोनों का युग्म एक वस्तुतत्त्व है, यही प्राजापत्य सामवेद है। सप्ताक्षरा यजुरात्मिका उष्णिक,एकादशाक्षरा यजुरात्मिका त्रिष्टुप्, दोनों का युग्म एक वस्तुतत्त्व है, यही प्राजापत्य यजुर्वेद है। अष्टाक्षरा ऋगात्मिका अनुष्टुप्, दशाक्षरा ऋगात्मिका पंक्ति दोनों का युग्म एक वस्तुतत्त्व है, यही प्राजापात्य ऋग्वेद है। इसप्रकार इस छन्दोयुग्म से दो वेदसंस्थाओं की परमार्थतः एक ही वेदसंस्था रह जाती है। मध्यस्थ बृहतीछन्द से छन्दित बृहतीसहस्रप्राण स्वयं नभ्यप्रजापति है, यह उक्थवेदमूर्त्ति है, यही 'प्रजापतिवेद' है। इस प्रजापतिवेद का (मूलवेद का) उक्त प्राजापत्या वेदत्रयी में व्यूहन होता है। वेत्रदयी का छन्दोवितान के द्वारा खण्ड–खण्डभाव में परिणित हो जाना ही व्यूहन है।

४	१–दक्षिणस्था, षडक्षरा, सामात्मिका गायत्री-साम २–उत्तरस्था, द्वादशाक्षरा, सामात्मिका जगती-साम	बृहतीसहस्रात्मकः सामवेदः प्राजापत्यः ।
८	१–दक्षिणस्था, सप्ताक्षरा, यजुरात्मिका उष्णिक् यजुः २–उत्तरस्था, एकादशाक्षरा, यजुरात्मिका त्रिष्टुप्–यजुः	बृहतीसहस्रात्मको यजुर्वेदः प्राजापत्यः ।
१२	१–दक्षिणस्था, अष्टाक्षरा ऋगात्मिका अनुष्टुप्-ऋक २–उत्तरस्था, दशाक्षरा, ऋगात्मिका, पंक्तिः—ऋक्	बृहतीसहस्रात्मक ऋग्वेदः प्राजापत्यः ।
	* मध्यस्था, नवाक्षरा, त्रयीरूपा बृहती–त्रयीवेदः	बृहतीसहस्रात्मिका त्रयीविद्या ।

४२—बृहतीसहस्र, और तत्त्ववेदसंख्या—

तीन छन्दो युग्मों के साथ क्रमशः '४-८-१२' इस क्रम से विभक्त अंशों का सम्बन्ध बतलाया गया है। इन अंशों के सम्बन्ध से ही चार अंशात्मक, गायत्र-जागत-लक्षण, बृहतीसहस्रप्राणात्मक सामवेद का चार बृहतीसहस्रभावों में व्यूहन हो रहा है। आठ-अंशात्मक, औष्णिक-त्रैष्टुभ-लक्षण, बृहतीसहस्रप्राणात्मक यजुर्वेद का आठ बृहतीसहस्रभावों में व्यूहन हो रहा है। एवं द्वादश अंशात्मक, आनुष्टुभ-पांक्तलक्षण, बृहतीसहस्र-प्राणात्मक ऋग्वेद का द्वादश बृहतीसहस्रभावों में व्यूहन हो रहा है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, तीनों वेद अपने अपने बृहतीसहस्रभावों से बृहतीसहस्रसंख्या (३६००० कला) में तो पहिले से (स्वस्वरूप से) ही परिणत हो रहे हैं। आगे जाकर ४–८–१२, इन अंशों के समन्वय से द्वादश अंशात्मक, बृहतीसहस्रसंख्या में विभक्त ऋग्वेद को बारह बृहतीसहस्रसंख्या (४३२००० चार लाख बत्तीस हजार कलाओं) में परिणत हो जाना पड़ता है। आठ अंशात्मक, बृहतीसहस्रसंख्या में विभक्त यजुर्वेद को आठ बृहतीसहस्रसंख्या [२८८००० दो लाख अठासी हजार कलाओं] में विभक्त हो जाना पड़ता है। एवं चार अंशात्मक, बृहतीसहस्रसंख्या में विभक्त सामवेद को चार बृहतीसहस्रसंख्या (१४४००० एक लाख चवांलीस हजार कलाओं) में विभक्त हो जाना पड़ता है। यदि तीनों तूलवेदों के बृहतीसहस्रों का संकलन किया जाता है, तो '१२–८–४' के समन्वय से २४ बृहतीसहस्र हो जाते हैं, तीनों वेदों के सम्मिलित कलाविभाग ८६४००० (आठ लाख चौसठ हजार) हो जाते हैं। सम्वत्सरप्रजापति के तात्त्विक वेद की यही महिमा (विस्तार) है। वह नभ्य मूलवेद अंशानुगता अपनी व्यूहनप्रक्रिया से, बृहतीसहस्रप्राणरूप से उक्त कलाविभागों में परिणत हो रहा है। प्राजापत्य ऋङ्मन्त्र संख्याएँ चार लाख बत्तीस हजार हैं। प्राजापत्य यजुर्मन्त्र-संख्याएँ दो लाख अठासी हजार हैं; प्राजापत्य साममन्त्र संख्याएँ एक लाख चवांलीस हजार हैं। सम्भूय यह प्राजापत्य, तात्त्विक नित्य, अपौरुषेय, कूटस्थ त्रयीवेद आठ लाख चौसठ हजार कलाओं में विभक्त हैं। यही 'प्राजापत्यवेदमहिमा' है, जिसके स्पष्टीकरण के लिए हमें उक्त विस्तारक्रम का आश्रय लेना पड़ा है।

(६)-सप्तदेवच्छन्दोमय--सौररथचक्रपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

४३-वेदसंख्यापरिज्ञानोपयोग, और अग्नियज्ञ—

प्रजापति ने इस व्यूहनकर्म्म से लाभ क्या उठाया ?, यह प्रश्न है। उत्तर वही 'आत्मसंस्कार' **है।** प्रजापति में आज जो मास-पक्ष-ऋतु-अयनादि पर्वविभाग (अग्निखण्ड) देखे जाते हैं, प्रजानिर्म्माण-प्रक्रिया में सतत अपनी मात्रा खर्च करते हुए भी प्रजापति रिरिचान नहीं बनते, वह इसीं वेदसंस्कार की महिमा है। इन्हीं वेदकलाओं के द्वारा रिरिचान प्रजापति का पुनःसन्धान होता रहता है। यही इस व्यूहन कर्म्म का चरम फल है। हम इसे जानकर क्या लाभ उठाते हैं ?, इस प्रश्न का उत्तर वही पूर्वोक्त सुप्रसिद्ध 'अग्नियज्ञ' (चयनयज्ञ) है। वेदव्यूह से युक्त, अग्निमय सम्वत्सरप्रजापति का जिस वैध प्रक्रिया से हम अपने आत्मा में आधान करते हैं, वही प्राजापत्यसंस्कार हमें मृत्युभाव से विमुक्त करता है। भगवान् याज्ञवल्क्य के मुख से ही फल-श्रवण कीजिए !

"यही वह मृत्यु है, जो कि सम्वत्सर है। यही अपने अहोरात्रपर्वों से हम मर्त्य (मरणधर्म्मा) मनुष्यों की आयु दिन दिन क्षीण किया करता है। जब सम्वत्सरप्रजापति अपने ३६००० अहोरात्रों के द्वारा हमारे आध्यात्मिक ३६००० आयुःसूत्रों को खा जाता है, तो हमारी मृत्यु हो जाती है। इसप्रकार सम्वत्सरप्रजापते हमारे लिए मृत्युदेवता बन रहा है। जो विद्वान् सम्वत्सर के अहोरात्रलक्षण इस मृत्युरूप को भलीभाँति जान लेता है, इसके उपयोग से पूर्ण परिचय प्राप्त कर ठीक सम्वत्सरचक्र के अनुरूप अपनी जीवनचर्य्या रखता **है,** वह अपनी पूर्णायु (१०० वर्ष, ३६००० अहोरात्र) से पहले कभी नहीं मरता (सामान्यफल)।

यही सम्वत्सर *अन्तक (यमराज) है। यही अपने अहोरात्रों की भोगकाल-समाप्ति पर आयु के ३६००० सूत्रों का अवसान बनता हुआ समष्टि के अन्त (अवसान) का कारण बनता है। जो इस अन्तक (सामूहिक अवसानलक्षण), एवं मृत्युरूप (क्षणिक परिवर्त्तनरूप) सम्वत्सर का स्वरूप जानकर अपने आहार-विहारादि में नियमशः प्रतिष्ठित रहता है, वह पूर्ण आयु प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है (दृष्टफल)।

---

* यद्यपि सर्वसाधारण की दृष्टि में 'मृत्यु' और 'यम' दोनों शब्द समानार्थक बन रहे है। किन्तु तत्त्वतः दोनों भिन्नार्थों के ही वाचक हैं। मृत्यु का क्षणिक विनाश से सम्बन्ध है, एवं यम का सामूहिक विनाश से सम्बन्ध है। हमारी अध्यात्मसंस्था का प्रातक्षण परिवर्त्तन हो रहा है। यह क्षणिक परिवर्त्तन ही 'मृत्यु' है। कोई समय आता है, जब अध्यात्मसंस्था एकान्ततः विलीन हो जाती है। वही सामुहिक अवसान है। **'यमो-वै अवसानस्येष्टे'-'ददाद्यमोऽवसानं पृथिव्याः'** इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार इस सामूहिक अवसान का एकमात्र यम से ही सम्बन्ध है। सम्वत्सरप्रजापति क्षणिक परिवर्तन का कारण बनता हुआ मृत्यु भी है, एवं सामूहिक अवसान का कारण बनता हुआ अन्तक (यम) भी है। वही मृत्यु है, वही यम है। परन्तु मृत्यु तथा यम दोनों उसी प्रकार भिन्न हैं, जैसे वही (आत्मा) कान है, वही नाक है, परन्तु नाक-कान दोनों भिन्न हैं। इसी भेद के आधार पर व्यासदेव की निम्न लिखित सूक्ति का समन्वय हुआ है—

यदा दासश्च व्यासश्च यमेन सह मृत्युना।
भवितव्यगृहं यान्ति तदा दासो मरिष्यति ॥

तत्त्वद्रष्टा वैज्ञानिकों नें इन दृष्ट-सामान्य फलों पर ही सन्तोष न किया। उन्होंनें देखाकि, यदि पूरे सौ वर्ष जी भी लिए, तो इससे क्या हुआ। मरना फिर भी एक दिन अवश्य पड़ेगा। मृत्युभय से एकान्ततः त्राण तो फिर भी न हुआ। अवश्य ही हमें किसी वैसे उपाय का अन्वेषण करना पड़ेगा, जिससे मृत्युभाव से सदा के लिए पीछा छूट जाय। सम्वत्सरचक्र की, सम्वत्सरचक्र में रहने वाले तत्त्वों का परीक्षा आरम्भ हुई। इस परीक्षण का फल यह हुआ कि, इन विद्वानों नें सम्वत्सरचक्र से सम्बन्ध रखने वाले अहोरात्रखण्डात्मक अग्निहोत्र, पक्षखण्डात्मक दर्शपूर्णमास, ऋतुखण्डात्मक चातुर्मास्य, अयन-खण्डात्मक पशुबन्ध, एवं समष्ट्यात्मक सौम्य अध्वर का पता लगा लिया। इन प्राकृतिक नित्य यज्ञों के आधार पर ये इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, जैसा कुछ प्रकृति में हो रहा है, यदि भौतिक द्रव्यों के माध्यम से हम वैसा ही करने लगें, तो हमारी इस वैध यज्ञप्रक्रिया से हमारे अध्यात्म का उस अधिदैवत के साथ ग्रन्थिबन्धन हो जायगा। फलतः वह जैसे शाश्वत बन रहा है, हम भी अमृतभाव को प्राप्त हो जायँगे। इसी लक्ष्य को सामने रखते हुए इन वैज्ञानिकों नें कालखण्डावच्छिन्न उन प्राकृतिक यज्ञों के अनुरूप वैध यज्ञप्रक्रियाओं का आविष्कार किया, एवं इनके अनुष्ठान से अमृतत्त्व (त्रिणाचिकेतस्वर्ग) का वह अधिकार प्राप्त किया, जो अस्मदादि सामान्य अयज्ञिय मनुष्यों को नहीं मिला करता।

विद्वानों का परीक्षण कर्म्म केवल इस पञ्चविध सौम्य अध्वर पर ही समाप्त नहीं हो गया। अपितु इन अनुष्ठानों के साथ यह तत्त्वान्वेषण उत्तरोत्तर चलता रहा। परिणामतः इन्हें उस सम्वत्सराग्नि का पता लगा, जो वेदमय बनकर त्रैलोक्य में व्याप्त हो रहा है। इस अग्नि का भी इन्होंनें आत्माग्नि में संस्कार करना चाहा। फलस्वरूप वैध चयनप्रक्रिया का आविष्कार हुआ। उस अग्निचिति का अध्यात्म में अधिभूत के द्वारा चयन करने के लिए ईंटें बनाईं गईं। परन्तु अभी परीक्षा अधूरी थी। अतएव इष्टकाओं की सख्या में प्रकृतिका अनुरूपभाव प्राप्त न हो सका। अपरिमित, अव्यवस्थित इष्टकाओं के चयन का परिणाम यह निकला कि, इन्हों नें जिस सम्वत्सराग्नि की चिति से सौम्य अध्वर-संस्कार की अपेक्षा कहीं अधिक जिस अमृतत्त्व को प्राप्त करना चाहा था, वह अमृतत्त्व इन्हें न मिल सका। पुनः परीक्षा आरम्भ हुई। बड़ा परिश्रम किया, प्राकृतिक तत्त्वों का अध्ययन किया। होते होते इन्हें सम्वत्सरप्रजापति के उन सब परिगणित, व्यवस्थित पर्वों का पता लग गया, जिन की व्यवस्थित, परिगणित चिति से अमृतत्त्व प्राप्त हो जाता है। स्वयं सम्वत्सर-प्रजापति प्रत्यक्षवत् इन के बौद्धजगत् में प्रकट हो गए। तब कहीं इन्हें यह पता लगा कि, मानों सम्वत्सर-प्रजापति कह रहे हों कि, तुमने मेरे सम्पूर्ण रूपों का (अवयवों का) चयन न किया। तुमने अपने अनुमान से कम-अधिक चितियाँ कर डालीं। यही कारण था कि, तुम्हें अमृतत्त्व प्राप्ति न हो सकी। तत्त्वजिज्ञासु इन विद्वानों नें प्रजापति की इस हृद्या नभोवाणी से मानों यह प्रश्न किया कि, हे प्रजापते ! अब आप ही बतलाइए ! आपके कितने रूप हैं ?। प्रजापति कहने लगे-३६० परिश्रित पर्व हैं, ३६० यजुष्मती इष्टका हैं, १०८०० लोक-म्पृणा इष्टका हैं। अर्थात् मेरे सामान्य अहोरात्रपर्व ७२० हैं, एवं खण्ड-खण्डात्मक सूक्ष्म मुहूर्त्त पर्व दस हजार आठ सौ हैं। ये ही मेरे परिगणित पर्व हैं। बस इतनी चितियों के चयन से तुम्हें अमृतत्त्व मिल सकता है। ऐसा ही हुआ। उन विद्वानों नें परिश्रम-तप-परीक्षा से सम्वत्सरप्रजापति के पर्वों का प्रत्यक्ष कर चयन यज्ञ किया, फलस्वरूप उन्हें अमृतत्त्व प्राप्त हो गया।"

चयनयज्ञ से प्राप्त होने वाले अमृतत्त्व का क्या स्वरूप ?, क्या चयनयज्ञ करने वाला अपने पाञ्च-भौतिक शरीर से सदा अमृतभावापन्न (अमर) रहता है ?, क्या इसे कभी शरीर नहीं छोड़ना पड़ता ?, अथवा क्या अमृतत्त्व का यह अर्थ है कि, जो चयनयज्ञ नहीं करते, उन्हें तो मर कर यातनाशरीर से लोकान्तरों में भ्रमण कर पुनः इसी मृत्युलोक में जन्म लेना पड़ता है। एवं जो चयनयज्ञ कर लेते हैं, उन्हें पुनः मृत्युलोक में जन्म नहीं लेना पड़ता ?। वैज्ञानिक कहते हैं, नहीं। शरीर का सदा विद्यमान बने रहना अमृतत्त्व नहीं है। क्योंकि **'संयोगा विप्रयोगान्ताः'** इस प्राकृतिक सिद्धान्त के अनुसार भूतसंयोग से उत्पन्न होने वाला शरीर अपने नियत समय पर (सौ वर्ष में) अवश्य ही नष्ट होगा। न इस यज्ञ के अनुष्ठान से पुनरावर्त्तन ही रुक सकता है। चयनयज्ञकर्त्ता को भी उसीप्रकार नियत समय पर शरीर भी छोड़ना ही पड़ेगा, नियत समय पीछे इसी पाञ्चभौतिक शरीर से पुनः जन्म भी लेना ही पड़ेगा, जैसाकि यज्ञ न करने वाले 'जायस्व-म्रियस्व' के धारावाहिक चक्रमें पड़े रहते हैं। **'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः'** इत्यादि उपनिषच्छ्रुतियों नें भी यज्ञ से पुनरावर्त्तन का अवरोध असम्भव ही बतलाया है। ऐसी दशा में अमृतत्त्व का क्या रूप ?, क्यों इतना प्रयास किया जाय ?। समाधान स्पष्ट है। संसार में सभी जीते हैं, सभी मरते हैं। परन्तु स्पष्ट है कि, एक बुद्धिमान् मनुष्य बुद्धिपूर्वक जीवनयात्रा व्यतीत करता हुआ जहाँ सुखी बना रहता है, वहाँ सामान्य अज्ञजन सदा सत्रस्त बने रहते हैं। इसीप्रकार शरीरधारण-परित्याग में तो एक यज्ञिय, और अयज्ञिय दोनों समान हैं। दोनों की परिस्थिति में अन्तर यही है कि, यज्ञिय मनुष्य प्राकृतिक यज्ञ के साथ सम्बन्ध जोड़ता हुआ जहाँ विश्व का अन्नाद (भोक्ता) बना रहता है, वहाँ अयज्ञिय व्यक्ति प्राकृतिक तत्त्वों के उपयोग से वञ्चित रहता हुआ विश्वका अन्न बना रहता है। इस दृष्ट (लौकिक) फल के अतिरिक्त चयनकर्ता जहाँ शरीर छोड़ने पर यावदग्निसंस्कारस्थितिपर्य्यन्त सम्वत्सरलोक में आनन्द से (प्रकृतिस्थतापूर्वक) विचरता है। वहाँ अयज्ञिय लौकिक व्यक्ति को इस लोक के छोड़ देने पर परलोक में भी यामीयातनाएँ सहनीं पड़तीं हैं। इसके अतिरिक्त याज्ञिक मनुष्य इस यज्ञप्रक्रिया के द्वारा प्रकृति का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ अपने राष्ट्र को सम्पूर्ण समृद्धियों से युक्त रख सकता है। यह समृद्धिलक्षण आनन्द ही अमृत है, एवं यही अमृतत्त्व यहाँ अभिप्रेत है। मृत्यु की सम्वादभाषा में अमृतत्त्व के इसी स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"जब विद्वानों नें यज्ञद्वारा अमृतत्त्व प्राप्त कर लिया, तो मृत्यु ने उन विद्वानों से कहा कि, यदि इसी प्रकार सब मनुष्य अमृतत्त्व प्राप्त कर लेंगे, तो मेरे जीवन का साधन क्या होगा ?। विद्वानों नें उत्तर दिया कि, मृत्यु ! स्मरणरक्खो इस पाञ्चभौतिक शरीर से कोई अमर नहीं हो सकता। यह मर्त्य शरीर सदा तुम्हारा अपना ही भाग रहेगा। 'अमृतत्त्व मिल गया' इस का तात्पर्य्य केवल यही है कि, शरीर को छोड़कर उस यज्ञकर्त्ता का आत्मा अमृतभाव में परिणत हो गया। उस अमृतत्त्वप्राप्ति के कारण बने इस विद्वान् की विद्या, और कर्म्म। वह विद्या और कर्म्म यही अग्निविद्या है। प्राकृतिक, वेदमयी सम्वत्सरविद्या, एवं अग्निकर्म्म (प्राकृतिक सम्वत्सराग्नि के आधारपर वितत चयनयज्ञ) हैं। जो विद्वान् इसे जान लेते हैं, इसका अनुष्ठान कर लेते हैं, वे उत्पन्न तो अवश्य होते हैं। परन्तु उत्पत्ति के साथ ही (जाति-वर्ण-आयु-सम्पत्ति-प्रजा आदि-सुख-समृद्धयात्मक) अमृतत्त्व उनके साथ रहता है। जो ऐसा नहीं करते, वे यहाँ भी दुःखी रहते हैं, वहाँ भी दुःखी रहते हैं। सबका अन्न बनने वाले ये यातनाशरीरधारी जीव दुःखमय उत्पत्ति-विनाशचक्र से चक्रायित रहते हैं"। लक्षणैकचक्षुष्कता के नाते यह आवश्यक है कि, यहाँ श्रुति के वे अक्षर ज्यों के त्यों उद्धृत कर दिए जायँ, जिस से प्रमाणभक्तों को ऊहापोह करने का अवसर न मिले—

१–"एष वै मृत्युर्यत् सम्वत्सरः। एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति,+ अथ म्रियन्ते। तस्मादेष एव मृत्युः। स यो हैतं मृत्युं सम्वत्सरं वेद, न हास्यैष पुरा जरसोऽहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति, सर्वं हैवायुरेति"।

२–"एष उ एवान्तकः। एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुषोऽन्तं गच्छति, अथ म्रियन्ते। तस्मादेष एवान्तकः। स यो हैतमन्तकं मृत्युं सम्वत्सरं वेद, न हास्यैष पुरा जरसोऽहोरात्राभ्यामायुषोऽन्तं गच्छति, सर्वं हैवायुरेति"।

३–"ते देवाः*—(विद्वांसः)–एतस्मादन्तकान् मृत्योः सम्वत्सरात् प्रजापतेर्बिभयाञ्चक्रुः–यद्वै नोऽयमहोरात्राभ्यामायुषोऽन्तं न गच्छेदिति। तऽएतान् यज्ञक्रतूँस्तेनिरे—अग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुबन्धं, सौम्यमध्वरम्। तऽएतैर्यज्ञक्रतुभिर्यजमानानाममृतत्वमानशिरे"।

४–"ते हाप्यग्निं चिक्यिरे। तेऽपरिमिता एव परिश्रित उपदधुः, अपरिमिता यजुष्मतीः, अपरिमिता लोकम्पृणाः, यथेदमप्येतर्हि एके (अवैज्ञानिका–यथेच्छं) उपदधति–'देवा अकुर्वन्नि'ति (वदन्तः)। ते ह नैवामृतत्वमानशिरे। तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः– अमृतत्वमवरुरुत्समानाः। तान् प्रजापतिरुवाच–न वै मे सर्वाणि रूपाणि उपधत्थ, अति वै रेचयथ, न वाभ्यापयथ, तस्मान्नामृता भवथ–इति"।

५–"ते होचुः–तेभ्यो वै न स्वमेव तद्ब्रूहि, यथा ते सर्वाणि रूपाण्युपदधामेति। स होवाच–षष्टिं च त्रीणि च शतानि परिश्रित उपधत्त, षष्टिं च त्रीणि च शतानि यजुष्मतीरधि षट्त्रिंशतम्। अथ लोकम्पृणा दश च सहस्राण्यष्टौ च शतान्युपाधत्त। अथ मे सर्वाणि रूपाणि उपधास्यथ, अथामृता भविष्यथेति। ते ह तथा देवा उपदधुः, ततो देवा अमृता आसुः"।

---

* "देवा अहैव देवाः, अथ ये शुश्रुवाँसोऽनूचानास्ते ब्राह्मणा देवाः" इत्यादि सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक प्राणदेवता तो 'देवाः' हैं हीं। जो इन का स्वरूप जानने वाले विद्वान् हैं, वे भी 'देवाः' कहलाए हैं। प्रकृत में इन उभयविध देवताओं में से उन दूसरे मनुष्यदेवताओं का ही ग्रहण है, जिन्हों ने परीक्षा के द्वारा यज्ञविद्या का आविष्कार किया था। 'तेऽपरिमिताः०' इत्यादि वाक्य मनुष्यविध देवताओं के सम्बन्ध में ही अन्वर्थ बनता है !

६–'स मृत्युर्देवानब्रवीत्–इत्थमेव सर्वे मनुष्या अमृता भविष्यन्ति, अथ को मह्यं भागो भविष्यतीति। ते हाचुः–नातोऽपरः कश्चन सह शरीरेणामृतोऽसत्। यदव त्वमेतं भागं हरासा, अथ व्यावृत्य शरीरेणामृताऽसत्, योऽमृताऽसत्–विद्यया वा, कर्म्मणा वा इति। एषा हैव सा विद्या–यदग्निः, एतदु हैव तत् कर्म्म–यदग्निः"।

७–"ते यऽएवमेतद्विदुः, ये वैतत् कर्म्म कुर्वते, मृत्वा पुनः सम्भवन्ति, ते सम्भवन्त एवामृतत्त्वमभिसम्भवन्ति। अथ य एवं न विदुः, ये वैतत्कर्म्म न कुर्वते, मृत्वा पुनः सम्भवन्ति, तऽएतस्यैवान्नं पुनः पुनर्भवन्ति"।

—(शत० १०।४। तृतीय ब्राह्मण)।

४४–वेदव्यूहनप्रक्रिया, और चयनयज्ञ—

'प्रयोजनमनुदिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते' न्याय से सम्बन्ध रखने वाली जिज्ञासा का प्रासङ्गिक समाधान किया गया। पुनः प्रक्रान्त उसी व्यूहनकर्म्म की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है। कहा जाचुका है कि, ऋग्वेद का द्वादश, यजुर्वेद का आठ, सामवेद का चार बृहतीसहस्रभावों में व्यूहन हुआ। इनसे तीनों वेदों के सम्मिलित २४ बृहतीसहस्र हो गए। इनमें ऋक् के जो द्वादश बृहतीसहस्र (४३२०००) विभाग हैं, इनकी 'अष्टाशतंशतानि' (आठ सौ, और सौ, ९०० नौसौ) पंक्तियाँ हो जातीं हैं। पंक्तिछन्द सप्तछन्दों में (गायत्री से आरम्भकर गायत्री[१], उष्णिक्[२], अनुष्टुप्[३], बृहती[४], पंक्ति[५] इस क्रम से) पाचवाँ छन्द पड़ता है। पाचवाँ होने से इसे 'पंक्ति' कहा गया है। दूसरे शब्दों में 'पंक्ति' शब्द पञ्चावयवता का भी सूचक है। पांक्तलक्षण यह पंक्तिश्छन्द दशाक्षर है। एक एक चरण के १०–१० अक्षर हैं। चार चरणों के मम्भूय ४० अक्षर हो जाते हैं। यदि ४३२००० ऋचाओं को ४० अक्षरात्मक पंक्तिभावों में में विभक्त किया जाता है, तो कुल '१०८००' (दशहजार आठसौ) पंक्तियाँ हो जाती हैं। इन पंक्तियों का ३०–३० का एक एक विभाग कीजिए। कुल ३६० विभाग हो जायँगे। यदि १२–१२ में विभक्त किया जायगा, तो १०८०० के ९०० विभाग हो जायँगे। ९०० को पुनः ३०–३० भागों में विभक्त किया जायगा, तो कुल ३० विभाग होंगे। यही पंक्ति का त्रिंशत्तम (तीसवाँ) व्यूह कहलाएगा। ऋङ्मय सम्वत्सर-प्रजापति क्योंकि इसी त्रिशत्तम पंक्तिव्यूह में प्रतिष्ठित रहता है, अतएव एक मास की ३० रात्रियाँ होतीं हैं। त्रिशत्तम व्यूह पंक्ति के सम्बन्ध से पांक्त (पञ्चावयव) बतलाया गया है। अतएव (इसी पांक्तलक्षणा पंक्ति के सम्बन्ध से) प्रजापति पांक्त (पञ्चावय) भी बन रहा है। इसप्रकार त्रिंशत्तम पंक्तिव्यूह में प्रतिष्ठित रहने से रात्रिसम्पत्, और पञ्चावयवयज्ञसम्पत् (अग्निहोत्र[१], दर्शपूर्णमास[२], चातुर्मास्य[३], पशुबन्ध[४], सौम्यअध्वरसम्पत्[५]) का समन्वय हो रहा है। इसी ऋग्व्यूहन को लक्ष्य में रख कर कहा गया है– "स ऋचो व्यौहत्–द्वादश बृहतीसहस्राणि०" (–३–शत० १०।४।२।२३।)।

यजुर्वेद के जो आठ बृहतीसहस्र (२८८०००) विभाग हैं, इनकी ४० के भागहर सम्बन्ध से ७२०० पंक्तियाँ हो जातीं हैं। सामवेद के जो चार बृहतीसहस्र (१४४०००) विभाग हैं, इनकी ४० के

भागहर सम्बन्ध से ३६०० पंक्तियां हो जातीं हैं। यदि दोनों वेदों की बृहतीसहस्रसंख्या का संकलन कर दिया जाता है, तो द्वादश बृहतीसहस्र (४३२०००) विभाग हो जाते हैं, एवमेव दोनों की ७२००-३६०० पंक्तियों के संकलन से १०८०० पंक्तियाँ हो जातीं हैं। तात्पर्य्य यह निकला कि, जितनें बृहतीसहस्र विभाग, एवं पंक्तिविभाग ऋक्-के हैं, उतने यजुः-और साम दोनों के मिल कर हैं। यदि ऋक् की १०८०० पंक्तियोंका,और यजुः साम की १०८०० पंक्तियोंका संकलन कर लिया जाता है,तो सम्भूय २१६०० (इक्कीस हजार छस्सौ पंक्तियाँ) हो जातीं हैं। यद्यपि एक सम्वत्सर में मुहूर्त्त १०८०० इतने ही हैं। परन्तु तीनों वेदों के सम्मिलित २४ बृहतीसहस्रों के ८६४००० (आठलाख चौसठहजार) विभागों के ४०-४० अक्षरात्मक पंक्तिविभागों की अपेक्षा से २१६०० विभाग हो जाते हैं। एकमात्र इसी आधार पर हमनें पूर्व में प्राणन-अपानन भेद से एक अहोरात्र में द्विगुणित मुहूर्त्तों का भोग बतलाते हुए अहोरात्र में २१६०० श्वास-प्रश्वासों का सम्बन्ध बतलाया है।

जिस प्रकार ऋक्-सम्बन्धी १०८०० पंक्तियों के १२ के भागहर सम्बन्ध से ९०० विभाग हो जाते हैं, ९०० के ३० के भागहर सम्बन्ध से ३० विभाग हो जाते हैं। एवमेव इन यजुः साम-सम्बन्धी १०८०० पंक्तियों के भी इसी क्रम से आरम्भ में ९००, पुनः ३० विभाग हो जाते हैं। यजुःसाम के इसी व्यूहन का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है-"**अथेतरौ वेदौ व्याहौत्-द्वादश बृहतीसहस्राणि-अष्टौ यजुषां, चत्वारि साम्नाम्**" (-४-शत० १०।४।२।२४।)।

———— *

१-द्वादश बृहतीसहस्राणि-४३२०००-ऋच -पंक्तयः-१०८०० (४०)। 'अष्टाशतं शतानि'

२-अष्टौ बृहतीसहस्राणि-२८८०००-यजूंषि-पंक्तयः-७२०० (४०) } **'अष्टाशतं शतानि'**

३-चत्वारि बृहतीसहस्राणि-१४४०००-सामानि-पंक्तयः-३६०० (४०) }

———— *

× चतुर्विंशत् बृहतीसहस्राणि-८६४०००-त्रयो वेदाः-पंक्तयः-२१६०० (४०)

———— *

(१) १०८००+३० भागहरसम्बन्धेन ३६० पंक्तयः

(२) १०८००+१२ भागहरसम्बन्धेन ९०० पंक्तयः

(३) ९००+३० भागहरसम्बन्धेन ३० विभागाः (अष्टाशतं शतानि)

———— *

जिन तीनों वेदों की ८६४००० संख्याओं का ऊपर उल्लेख हुआ है, उनके १०८०० 'अशीति' विभाग हो जाते हैं। अपने १०८०० मुहूर्त्तरूप पर्वों से (एक एक पर्व से) प्रजापति एक एक वेदरूपा अशीति का भोग किया करते हैं। यही इनका आत्मसंस्कार है। तात्पर्य्य यह है कि, 'अशीति' शब्द जहाँ

८० संख्या का वाचक बना हुआ है. वहाँ संख्याविज्ञान के अनुसार यही 'अशीति' अन्न का भी वाचक बन रहा है। मान लीजिए. हमें इन्द्र के लिए आहुति देनी है। आहुति-साधनभूत मन्त्र ८० हों, अथवा मन्त्र के अक्षर ८० हों, इन्हीं से अन्न की भावना गतार्थ मान ली जायगी। 'हम आपके लिए अन्न दे रहे हैं' यह न कह कर 'अशीति' संख्यात्मक वाक्-भाव का प्रयोग कर दिया जायगा। इसी से अन्न-प्रयोजन सिद्ध हो जायगा। ८० संख्या के वाचक 'अशीति', किंवा 'अशिति' शब्द अन्नार्थक कैसे मान लिए गए ?, इसका उत्तर यही प्राकृतिक वेदसंस्था है। सम्वत्सरप्रजापति महदुक्थलक्षण अन्नाद है, अन्नभोक्ता है। यह अपने मुहूर्त्तलक्षण १०८०० पर्वों से क्रमशः वेदात्मक अन्न का अपने आप में आधान करता है। वेदात्मक अन्न २४ बृहतीसहस्र के सम्बन्ध से ८६४००० संख्याओं में विभक्त होता हुआ ४० संख्यात्मिका पंक्ति के सम्बन्ध से २१६०० संख्याओं में विभक्त है। अन्नादपर्वों (१०८००) की अपेक्षा अन्नपर्व द्विगुणित (२१६००) हैं। समतुलनभाव की अपेक्षा से अन्नादपर्वरूप एक एक मुहूर्त्ताग्नि में अन्नपर्वरूपा दो दो पंक्तियाँ संचित हैं। दो पंक्तियों की ८० मात्रा होती है। एक एक (८० मात्रा) दो दो पंक्तियाँ) एक एक मुहूर्त्ताग्नि का अन्न बन रहीं हैं। इसी प्राकृतिक संख्यासाम्य से 'अशीति' (८० वाचक) शब्द अन्न का वाचक बन गया है। प्रकृत में कहना यही है कि, तीनों वेदों की संकलित संख्या (८६४०००) द्विगुणित पंक्तिसम्बन्ध से १०८०० 'अशीति' रूप में परिणत हो रहीं हैं। इसी अशीति से महदुक्थलक्षण मुहूर्त्तावयवकृतमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति का आप्यायन हो रहा है। इसी अशीति-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है-"ते **सर्वे त्रयो वेदाः-दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि अशीतीनामभवन्**' (-ऌ-शत० १०।४।२।२ऌ।)।

सम्वत्सरप्रजापतिर्महदुक्थोऽन्नादः—

१०८००-मुहूर्त्तावयवाः—अन्नादाः

वेदविभागाः-८६४०००

४०-पंक्तिविभागाः-२१६००

८०-अशीतिविभागाः-१०८०० अन्नानि

वेदान्नसंस्कार से संस्कृत बने हुए इस सम्वत्सरप्रजापति ने त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-स्तोमात्मिका, त्रैलोक्यरूपा उखा (उख्यत्रिलोकी) में पूर्वप्रतिपादित छन्द-स्तोम-प्राण-एवं-देवता-लक्षण देवभक्तियों से युक्त अपने आपकी आहुति दी। इस प्रथम आहुति से **अहोरात्रात्मक** प्रथम पर्व का संस्कार हुआ, यही संस्कृत प्रथम पर्व **'अग्निहोत्र'** कहलाया। अनन्तर दूसरी आहुति से प्रथम अहोरात्रपर्व की अपेक्षा बृहत् **(दवीयसि परः)** मासात्मक द्वितीय पर्व का संस्कार हुआ। यही संस्कृत द्वितीय पर्व **'दर्शपूर्णमास'** कहलाया।

अनन्तर तीसरी आहुति से द्वितीय मास पर्व की अपेक्षा बृहत् (दवीयसि परः) तृतीय **ऋतुपर्व** का संस्कार हुआ। यही संस्कृत तृतीय पर्व **'चातुर्मास्य'** कहलाया। अनन्तर चौथी आहुति से तृतीय ऋतुपर्व की अपेक्षा बृहत् चतुर्थ **अयनपर्व** का संस्कार हुआ। यही संस्कृत चतुर्थ पर्व **'पशुबन्ध'** कहलाया। सर्वान्त में समष्ट्यात्मिका पञ्चमी आहुति से सर्वापेक्षया बृहत् पञ्चम **सम्वत्सरपर्व** का संस्कार हुआ। यही संस्कृत पञ्चम पर्व **'सौम्यअध्वर'** कहलाया। इसप्रकार मुहूर्त्तलक्षण अहोरात्रात्मक अग्निहोत्र से आरम्भ कर सम्वत्सरात्मक सौम्य अध्वरपर्य्यन्त, उत्तरोत्तर बड़े पर्वों के संस्कार से वेदद्वारा सम्पूर्ण सम्वत्सर का सर्व, और कृत्स्नरूप से उभयथा संस्कार हो गया। रिरिचान प्रजापति अपनी वेदमहिमा से, व्यूहनकर्म्म से पूर्ण बन गए, पांक्त बन गए, सबकुछ बन गए, आज तक बन रहे हैं।

तात्पर्य्य श्रुति का यही है कि, मूलप्रजापति पहिले तो सम्वत्सर-अयन-ऋतु-पक्ष-अहोरात्र-मुहूर्त्त-भेद से ६ पर्वों में विभक्त होकर पार्थिवसृष्टि का निर्म्माण करते हैं। अनन्तर वेदव्यूहनद्वारा अपनी मुहूर्त्तकलाओं का, मुहूर्तोंसे अहोरात्रों का, अहोरात्रों से पक्षों का, पक्षों से ऋतु का, ऋतु से सम्वत्सर का पुनःसंस्कार कर पूर्ण बन जाते हैं। यह क्रम धारावाहिकरूप से निरन्तर चलता रहता है-**'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः-समाभ्यः'**। इसप्रकार प्राजापत्य अयनादि पर्वों का भी संस्कार हो जाता है, एवं स्वयं समष्टिलक्षण, एकात्मक सम्वत्सर भी संस्कृत बन जाता है। इन्हीं द्विविध (पर्व, और समष्टि) संस्कारों को लक्ष्य में रखकर-**'सर्वः कृत्स्नः समस्क्रियत'** यह कहा गया है। एक का अशेषत्त्व 'कार्त्स्न्य' है, एवं अनेकों का अशेषत्त्व 'सार्व्य' है। एक मनुष्य का सर्वात्मना ग्रहण करते समय-**'कृत्स्नो मनुष्यः'** कहा जायगा। अनेक मनुष्यों की समष्टि का अभिनय करते हुए **'सर्वे मनुष्याः'** कहा जायगा। एक मनुष्य की सर्वाङ्गीणता में-'सर्वो मनुष्यः' कहना अशुद्ध होगा। एवं अनेक मनुष्यों की सर्वाङ्गीणता में 'कृत्स्ना मनुष्याः' कहना अशुद्ध होगा। यहाँ भी पर्वदृष्टि से 'सर्वः समस्क्रियत' कहा गया है, क्योंकि पर्व अनेक हैं। एवं एकाकी सम्वत्सर की दृष्टि से 'कृत्स्नः समस्क्रियत' कहा गया है, क्योंकि एक की अशेषता ही कृत्स्नता है। इसी संस्कार-प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

"स एषु त्रिषु लोकेषु उखायां योनौ रेतोभूतमात्मानमसिञ्चत"

(६-शत० १०।४।२।२६।)।

५–सम्वत्सरः——१ (सौम्यअध्वरः)

४–अयने —— २ (पशुबन्धः)

३–ऋतवः —— ६ (चातुर्मास्यानि)

२–पक्षाः ——२४ (दर्शपूर्णमासौ)

१–अहोरात्राणि–७२० (अग्निहोत्रम्)

* मुहूर्त्ताः–१०८००

"दूवीयसि परः–दूवीयसि परः"

'सम्वत्सर एव सर्वः कृत्स्नः समस्क्रियत'

साम्वत्सरिक-अग्नि के स्वरूप का उपक्रम करते हुए इसके प्राकृतिक 'सुत्या' 'चित्या' भेद से दो पर्व बतलाए गए थे। एवं इन में 'चित्या' पर्व (चयनयज्ञ) के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया गया था कि, वैध (अस्मदादिकृत) चयनयज्ञ में प्राकृतिक चयनयज्ञ से समतुलित ही अग्निचितियाँ होतीं हैं। परिश्रित--लोकम्पृणा–यजुष्मती, आदि का जो संख्याविभाग वहाँ है, ठीक वही संख्याविभाग यहाँ रहता है (देखिए पृ० सं० २०६ से २०८ पर्य्यन्त)। इसप्रकार आधिभौतिक चयनयज्ञ की आधिदैविक चयनयज्ञ से तुलना करते हुए वहीं यह प्रतिज्ञा हुई थी कि, इन चयन पर्वों का वेदमहिमाप्रकरणोपसंहार में स्पष्टीकरण होगा। इसी प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए क्रमप्राप्त इन चयनपर्वों का संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ के परिश्रित, यजुष्मती इष्टका, पुरीष, लोकम्पृणा इष्टका, इन चार पर्वों की अवान्तर संख्याओं का यदि संकलन किया जाता है, तो ११५५६ संख्या हो जाती है। रात्रिलक्षण परिश्रित ३६० हैं, अहर्लक्षणा यजुष्मती इष्टका ३६० हैं, अर्द्धमासलक्षण (शुक्ल–कृष्णपक्षलक्षण) २४ पुरीष, ऋतु–गर्भितमासलक्षण १२ पुरीष, इसप्रकार ३६ पुरीष हैं। मुहूर्त्तलक्षण १०८०० लोकम्पृणाइष्टका हैं। इसप्रकार पृथिवी से आरम्भ कर २१ अहर्गणपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले इस साम्वत्सरिक चयन की पाँच चितियों में कुल ११५५६ इतनें पदार्थ हो जाते हैं। इन के चयन–सम्बन्ध में यह भी जान लेना आवश्यक होगा कि, रात्रिलक्षण ३६० परिश्रितों की चिति का '२१–७८–२६१' यह संख्याक्रम है। पृथिवीलोकलक्षण गार्हपत्याग्नि में २१ परिश्रित होते हैं, अन्तरिक्षलक्षण धिष्ण्याग्नि में ७८ परिश्रित चित्त हैं। एवं द्युलोकलक्षण आहवनीय में २६१ परिश्रित चित है, त्रैलोक्य–परिश्रित–समष्टि ३६० हैं। ऋतुगर्भित मासलक्षण ३६ पुरीष, एवं ३६० अहर्लक्षणा यजुष्मती इष्टका, दोनों के संकलन से '३९६' इष्टका हो जातीं हैं। त्रैलोक्यचिति दो सन्धिस्थानों के समावेश से पाँच भागों में विभक्त रहती है। इसी

आधार पर '**पञ्चचितिकोऽग्निः**' कहा जाता है। ३६६ संख्यायुक्त यजुष्मती इष्टका, एवं पुरीषों का इन पाँचों में क्रमशः '[१]६८–[२]४१–[३]७१–[४]४७–[५]१३८' इतनीं इतनीं चितियाँ प्रतिष्ठित हैं। इनके संकलन से '३६५' चितियाँ हो जातीं हैं *। १०८०० संख्यामें विभक्त मुहूर्त्तचितियाँ पुरीषवत् गार्हपत्य (पृथिवी), धिष्ण्य (अन्तरिक्ष) आहवनीय (द्युलोक), इन तीनों लोकों में क्रमशः '२१-७८-१०७०१' इस क्रम से चित हैं। उक्त चितियों में मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, सम्वत्सर (कालात्मक) इन कालखण्डों की समष्टि '**लोकाः**' है। पार्थिवान्तरिक्ष्यदिव्याग्नि (अग्न्यात्मक सम्वत्सर) लोकप्रतिष्ठ यज्ञाधिष्ठाता '**यजमान**' है। लोकी लोक में प्रतिष्ठित है। लोक उसका शरीर है, लोकी इस शरीर का आत्मा है, समष्टि प्रजापति है। यही इस चयन पर्व का संक्षिप्त दिग्दर्शन है।

१–परिश्रितः——रात्रयः — ३६०
२–यजुष्मत्यः——अहानि — ३६०
३–पुरीषाणि——२४अर्द्धमासाः ऋतुगर्भिता १२ मासाः — ३६
४–लोकम्पृणाः——मुहूर्त्ताः——१०८००

— "**११५५६–चितयः**"–**सम्वत्सरे**

१–पृथिव्यां परिश्रितः—२१
२–अन्तरिक्षे परिश्रितः—७८
३–दिवि परिश्रितः——२६१

— "**३६० परिश्रितः–रात्रयः**"

१–पृथिव्यां–मुहूर्त्ताः——२१
२–अन्तरिक्षे–मुहूर्त्ताः——७८
३–दिवि —मुहूर्त्ताः१०७०१

— "**१०८००–लोकम्पृणाः–मुहूर्त्ताः**"

---

* ३६० यजुष्मती, ३६ पुरीष के संकलन से यद्यपि ३६६ चितियाँ होतीं हैं। उधर संख्याक्रमानुसार ३६५ (१ कम) चितियाँ हुईं हैं। इस न्यूनता का कारण है प्रजापतिका प्रजननधर्म्म। "**न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते**" के अनुसार न्यूनता ही प्रजोत्पत्ति का कारण है। पूर्णता में सृष्टिकर्म का अवसान है। इसी आधार पर–'**यद्वै न्यूनं–तत् पूर्णं, यत् पूर्णं–तन्न्यूनम्**' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

(१) १-पृथिव्यां——१८—प्रथमा चितिः		
(२) ❋ सन्धौ——४१—द्वितीया चितिः		—'३६५-यजुष्मत्यः, पञ्चमासर्त्तवश्च-अहानि' 'एकतो न्यूनाश्चितयः-'न्यूनाद्ध प्रजाः प्रजायन्ते' इत्याहुर्वैज्ञानिकाः ।
(३) २-अन्तरिक्षे——७१—तृतीया चितिः		
(४) ❋ सन्धौ——४७—चतुर्थी चितिः		
(५) ३-दिवि——१३८—पञ्चमी चितिः		

❋

'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'-'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि'-'देवाननुविधा वै मनुष्याः'-'व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं, नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणि" इत्यादि निगम-सिद्धान्तों के अनुसार हमें अपने आधिभौतिक चयनयज्ञ में प्रकृतिवत् '११५५६' चितियों का ही समावेश करना पड़ता है। छन्दोमार्ग से वह उस अन्तक, मृत्युरूप सम्वत्सरमूर्त्ति प्रजापति अग्नि को ही प्राप्त करता है। इससे वह इसके आत्मा में तंस्काररूप से चित हो जाता है। पृ० अन्त० द्यौ की प्रतिकृतिरूप गार्हपत्य, धिष्ण्य, आहवनीय, तीनों में जो क्रमशः '२१-७८-२६१' परिश्रितों का चयन होता है, इन से ३६० भागों में विभक्त रात्रिसम्पत् मिल जाती है। यजुष्मती इष्टकाओं से अहःसम्पत् मिल जाती है, पुरीषचिति से अर्द्धमास, मास, ऋतुः-सम्पत् मिल जाती है। एवं लोकम्पृणा इष्टकाओं से मुहूर्त्तसम्पत् मिल जाती है। इसी समसम्पत् का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

"स यदग्निं चिनुते, एतमेव तदन्तकं मृत्युं सम्वत्सरं प्रजापतिमग्निमाप्नोति, यं देवा आप्नुवन्। एतमुपधत्ते, यथैवैनमदो देवा उपादधत। परिश्रिद्भिरेवास्य रात्रीराप्नोति, यजुष्मतीभिरहानि, अर्धमासान्, मासान्, ऋतून्। लोकम्पृणाभिर्मुहूर्त्तान्। तद्याः परिश्रितः, रात्रिलोकास्ताः। रात्रीणामेव साप्तिः क्रियते, रात्रीणां प्रतिमा। ताः षष्टिश्च, त्रीणि च, शतानि (३६०) भवन्ति। षष्टिश्च, त्रीणि च, शतानि सम्वत्सरस्य रात्रयः। तासामेकविंशतिं (२१) गार्हपत्ये, द्वाभ्यां नाशीतिं (७८) धिष्ण्येषु, द्वे, एकषष्टे, शते (२६१) आहवनीये" (शत० १०।४।३।११-१३ कं०)।

३६० यजुष्मती, ३६ पुरीष मिलकर ३९६ चितियाँ होतीं हैं। एवं इनका पाँच चितियों में क्रमशः '९८-४१-७१-४७-१३८' इस क्रम से विभाजन बतलाया गया है। प्रसङ्गतः इनके नाम उद्धृत कर दिए जाते हैं। पञ्चचिति से सम्बन्ध रखने वाले इन आधिभौतिक पर्वों का आधिदैविक पर्वों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राकृतिक पदार्थों के जो गुण-कर्म्म हैं, वे ही गुण कर्म चित होने वाले इन भौतिक पदार्थों के हैं। जिन्हें प्राकृतिक पर्वों का रहस्यज्ञान अभीष्ट है, उनसे हम निवेदन करेंगे कि, वे शतपथ के उन '६, ७, ८, ९, १०' चार काण्डों का स्वाध्याय करें, जिनमें (६-७-८-९) चयनयज्ञ, एवं अग्निरहस्य (१०) का विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। यहाँ संख्या-साम्य-प्रदर्शन के लिए उन पर्वों के चितिक्रम से नाममात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं।

१–प्रथमा चितिः—

१–दर्भस्तम्बः	१
२–लोगेष्टकाः	३
३–पुष्करपर्णम्	१
४–रुक्मपुरुषौ	२
५–स्रु चौ	२
६–स्वयमातृण्णा	१
७–दूर्वेष्टका	१
८–द्वियजुः	२
९–रेतःसिचौ	२
१०–विश्वज्योतिः	१
११–ऋतव्ये	२
१२–अषाढा	१
१३–कूर्म्मः	१
१४–उलूखलमुसले	२
१५–उखा	१
१६–पशुशीर्षाणि	५
१७–अपस्याः	१५
१८–छन्दस्याः	५
१९–प्राणभृतः	५०
"द्वाभ्यां न शतम्"	९८"

२–द्वितीया चितिः—

१–आश्विन्यः	५
२–ऋतव्ये	२
३–वैश्वदेव्यः	५
४–प्राणभृतः	५
५–अपस्याः	५
६–वयस्याः	१९
"एकचत्त्वारिंशत्"—४१	

३–तृतीया चितिः—

१–स्वयमातृण्णा	१
२–दिश्याः	५
३–विश्वज्योतिः	१
४–ऋतव्याः	४
५–प्राणभृतः	१०
६–छन्दस्याः	३६
७–बालखिल्याः	१४
"एकसप्ततिः"	७१

४–चतुर्थी चितिः—

१–स्तोममया ऋषिप्राणाः	१८
२–स्पृतप्राणाः	१०
३–ऋतव्ये	२
४–सृष्टयः	१७
"सप्तचत्वारिंशत्	४७

५–पञ्चमी चितिः—

१–असपत्नाः	५
२–विराजः	४०
३–स्तोमभागाः	२९
४–नाकसदः	५
५–पञ्चचूडाः	५
६–छन्दस्याः	३१
७–गार्हपत्यचितिः	८
८–पुनश्चितिः	८
९–ऋतव्ये	२
१०–विश्वज्योतिः	१
११–विकर्णी	१
१२–स्वयमातृण्णा	१
१३–अश्मापृश्निः	१
१४–चितेनिधेयाग्निः	१
"अष्टात्रिंशंशतम्"	१३८

१–९८	—३९५
२–४१	
३–७१	
४–४७	
५–१३८	

"ताः सर्वाः पञ्चभिर्न चत्त्वारि शतानि (३९५)। ततो याः षष्टिश्च, त्रीणि च शतानि (३६०) अहर्लोकास्ताः। अह् नामेव साप्तिः क्रियते, अह्नां प्रतिमा। अथ याः षट्त्रिंशत् (३६) पुरीषं, तासां षट्त्रिंशी। ततो याश्चतुर्विंशतिः (२४), अर्धमासलोकास्ताः। अर्धमासानामेव-साप्तिः क्रियते, अर्द्धमासानां प्रतिमा। अथ या द्वादश (१२), मासलोकास्ताः। मासानामेव साप्तिः क्रियते, मासानां प्रतिमा। ता उ द्वे-द्वे सहर्तुलोकाः, ऋतूनामशून्यतायै"–(शत०–१०।४।३।१४–१६)।

१–प्रथमाचितिः—प्रकारान्तरेण (तत्त्वसमन्वयदृष्ट्या)—

१	❀ आत्मा	अव्ययपुरुषः षोडशी
	❀ अग्निः	यजुर्वेदाग्निः–वाय्याकाशरूपं द्विब्रह्म
	१ सत्यं साम	आपः–भृग्वङ्गिरोमयं षड्ब्रह्म
२	२ पुष्करपर्णम्	आपः–बृहत्सामात्मकं लोकत्रयसंस्थानम्
	३ रुक्मः	सूर्य्यबिम्बः–समुद्रजश्चित्याग्निपिण्डः
	४ पुरुषः	सौरप्राणोऽग्निः–अमृताग्निः प्रजापतिः
	५ चित्रंसाम	ज्योतिःसंस्था–विश्वरूपसंस्थानम्
३	६ सर्पनामोपस्थानम्	सूर्य्यमण्डलमभिपृथिव्यादि स्पर्शः (सर्पणम्)
	७ अग्नीन्द्रौ	तेज–ओजसी, पृथिवीत ऊर्ध्वं गच्छतोरनुगमः
४	८ स्वयमातृण्णा	पृथिवी–सूर्य्यज्योतिषि पिण्डपृथिवी–भोगः
	९ व्याहृतिसाम	भूः–रथन्तरसाम्ना पृथिवीरूपम्
५	१० दूर्वेष्टका	पशुः--भूपिण्डोपरि भूतग्रामाः
	११ द्वियजुः	आत्मानौ--भूतग्रामे द्यावा--पृथिव्यप्राणयोगः
	१२ रेतःसिचौ	आण्डौ--विराट्--स्वराजौ, अग्नीन्द्रयोः संस्थे
६	१३ विश्वज्योतिः	अग्निः प्रथमा
	१४ ऋतव्ये	मधु--माधवौ
७	१५ अषाढा	पृथिवी--वाक्--वामभृत् ।
	१६ कूर्म्मः	दधि--घृत--मधु--रसो--द्यावापृथिव्यः
	१७ उलूखलमुसले	अन्नोर्कप्राणो विष्णुः--योनिः
८	१८ उखा	त्रयोलोकाः स्तौम्याः (९--१५--२१)
	१९ पञ्चपशुशीर्षाणि	मनश्चक्षुःप्राणःश्रोत्रवाचः
	❀ हिरण्यशकलाः	पञ्चपशुप्राणाः
	❀ अग्न्युपस्थानम्	अग्निसंस्कारदार्ढ्यम्
९	२० अवस्याः, छन्दस्याः	अवस्याः पञ्चदश, छन्दस्याः पञ्च
	२१ प्राणभृतः	सार्वयाजुषोऽग्निः (पञ्चाशत्)

२- द्वितीया चितिः—	३-तृतीया चितिः—	४-चतुर्थी चितिः—
१-आश्विनः	१-स्वयमातृण्णा-अन्तरिक्षं साम गायति (भुवः)	१-प्राणाः (अष्टादशस्तोमाः, ऋषयः)
२-ऋतव्ये	२-दिश्याः	२-स्पृतप्राणाः
३-वैश्वदेव्यः	३-विश्वज्योतिः	३-ऋतव्ये
४-अपस्याः	४-ऋतव्याः	४-सृष्टयः
५-वयस्याः	५-प्राणभृतः	
६-प्राणभृतः	६-छन्दस्याः	
	७-वालखिल्याः	

५-पञ्चमी चितिः—

(३)-१—असपत्नाः, २—विराजः, ३—छन्दस्याः
(३)-१—स्तोमभागाः, २—नाकसदः, ३—पञ्चचूडाः
(३)-१—पुनश्चितिः, २—ऋतव्याः, ३—विश्वज्योतिः (आदित्यः-उत्तमा)।
(३)-१—विकर्णी, २—अश्मापृश्निः ३—स्वयमातृण्णा (द्यौः साम गायति, स्वः)

*—चितेनिधेयाग्निः

१०८०० संख्या में विभक्त लोकम्पृणा इष्टका एततसंख्यावच्छिन्न मुहूर्त्तों की प्रतिकृति है । इन से मुहूर्त्तसम्पत् प्राप्त होती है। (प्रकृतिवत्) मुहूर्त्तप्रतिकृतिरूप २१ लोकम्पृणा गार्हपत्य में, ७८ लोकम्पृणा धिष्ण्य में, एवं १०७०१ लोकम्पृणा आहवनीय में चित होतीं हैं। इसप्रकार ३६० परिश्रित, ३६० यजुष्मती इष्टका, ३६ पुरीष, १०८०० लोकम्पृणा इष्टका, इन सबका संकलन ११५५६ (११५५५) पर विश्रान्त हैं। इतनें ही सम्वत्सर (प्राकृतिक चयनयज्ञ) के पर्व है, इतनें ही इस वैधयज्ञ के पर्व हैं। इसी छन्दःसाम्य से हमारे इस कर्म्म से वह गृहीत है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"अथ या लोकम्पृणाः-मुहूर्त्तलोकास्ताः। मुहूर्त्तानामेव साप्तिः क्रियते, मुहूर्त्तानां प्रतिमा। ता (लोकम्पृणाः) दश च सहस्राणि, अष्टौ च शतानि (१०८००) भवन्ति। एतावन्तो हि सम्वत्सरस्य मुहूर्त्ताः। तासां (लोकम्पृ०) एकविंशतिं (२१) गार्हपत्यऽ-उपदधाति, द्वाभ्यां नाशीतिं (७८) धिष्ण्येषु, आहवनीयऽइतराः (१०७०१)। एतावन्ति वै सम्वत्सरस्य रूपाणि। तान्यस्यात्राप्तान्युपहितानि भवन्ति" (शत० १०।४।३।२१)।

*–प्रकरणोपसंहार—

जिस **'प्राजापत्यवेदमहिमा'** का अब तक यशोगान हुआ है, उसका निष्कर्ष यही है कि, सम्वत्सराग्नि ही प्रजापति है। यह अग्नि स्तोम भेद से अग्नि--वायु--आदित्य रूप से तीन भागों में विभक्त है। अग्नितत्त्व महदुक्थ बनता हुआ **'ऋक्'** है, वायुतत्त्व पुरुष बनता हुआ 'यजु' है, एवं आदित्यतत्त्व महाव्रत बनता हुआ साम है। *अग्नित्रयी का ही नाम 'वेदत्रयी' है, यही 'प्रजापतिरूप मूलवेद' है, जो कि सूर्य्यरूप से सौर सम्वत्सर के केन्द्र में प्रतिष्ठित है, एवं अन्नादरूप से भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। इस मूलवेद का देवयानोपलक्षित '१२–८–४' भागों में विभक्त, बृहतीसहस्रप्राणात्मक छन्दों के आधार पर २४ बृहतीसहस्रभावों में व्यूहन होता है। फलतः तूल ऋक् ४३२०००संख्या कला में, तूल यजुः २८८०००कला में, एवं तूल साम १४४००० कला में विभक्त हो जाता है। सम्भूय त्रयीलक्षण इस त्रयीवेद की ८६४००० कला हो जातीं हैं। ये उसी तूलवेद की महिमा हैं, मूलवेद के वितान हैं, अतएव इन्हें अवश्य ही 'प्राजापत्यवेदमहिमा' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। एक सम्वत्सरमण्डल में भुक्त अग्निमय–वेदकला कितनीं ?, प्राकृतिक ऋक्-यजुः–साम–मन्त्रों के कितने अवान्तर विभाग ?, इन प्रश्नों का उत्तर–"२४ बृहतीसहस्राणि' (८६४०००)" ही हैं।

यहीं पर अपने इस वेदमहिमाप्रकरण का उपसंहार करते हुए सर्वान्त में यह कहना और आवश्यक समझते हैं कि, जो वेदभक्त शब्दात्मक वेदग्रन्थों पर ही वेदतत्त्व का पर्य्यवसान माने बैठे हैं, उनसे प्रश्न किया जायगा कि, यदि शब्दात्मक वेद ही तत्त्वतः अपौरुषेय वेदपदार्थ है, तो–"**ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च**" इत्यादिरूप से चरणव्यूहसम्मत जो मन्त्रसंख्या प्रामाणिक मानी जाती है, उसके साथ–**"द्वादश बृहतीसहस्राणि--ऋचः, अष्टौ यजुषां, चत्वारि साम्नाम्"** इत्यादि रूप से पूर्वप्रतिपादित वेद कलाओं की ८६४००० संख्याओं का वे किस आधार पर समन्वय करेंगे ?। **"एतावत्यो ह्यर्चो याः प्रजापति-सृष्टाः"** इस श्रुतिसिद्ध वेदसंख्या को वे प्रामाणिक मानेंगे ?, अथवा चरणव्यूहसम्मत संख्या प्रामाणिक मानी जायगी ?, इसी प्रश्न पर हमारा यह **'प्राजापत्यवेदमहिमा'** प्रकरण उपरत हो रहा है, एवं प्रकृत प्रकरण की अपेक्षा भी कहीं अधिक रहस्यपूर्ण, वेदरहस्योद्घाटक अगला प्रकरण उन वेदभक्तों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है, जो तत्त्वतः वेद--पदार्थ की जिज्ञासा रखते हैं।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्डान्तर्गत
"प्राजापत्यवेदमहिमा" नामक
तृतीयस्तम्भ उपरत

—३—

* **"अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्थाः। गार्हपत्य ऋक्, पृथिवी, रथन्तरम्। अन्वाहार्य्यपचनो यजुः, अन्तरिक्षं, वामदेव्यम्। आहवनीयः साम, सुवर्गो लोको, बृहत्। तस्मादग्नीन् परमं वदन्ति"**

(तैत्तिरीय आरण्यक १० प्र०।६३०। अनु०।)

श्रीः

'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

"प्राजापत्य-वेदमहिमा"-नामक

तृतीयस्तम्भ-उपरत

३

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत-

"अपौरुषेयवेद का तात्त्विक इतिवृत्त" नामक

चतुर्थ–स्तम्भ

४

———*———

श्रीः

अपौरुषेयवेद का तात्त्विक इतिवृत्त

१–प्रजापति, और वेद—

प्रजापति की जिस वेदमहिमा का चतुश्चत्वारिंशत् परिच्छेदात्मक पूर्व के तृतीय स्तम्भ में दिग्दर्शन कराया गया है, उस वेदमहिमा से अभी तक हमारी वेद–स्वरूपविषयिणी जिज्ञासा शान्त होती दिखाई नहीं देती। अग्नि–वायु–आदित्य–नामक प्राणदेवता ऋग्–यजुः–साममय हैं ?, अथवा ऋक्–यजुः–सामत्रयी का ही नाम देवत्रयी है ?, अथवा देवत्रयी का ही नाम का वेदत्रयी है ?, इसप्रकार भेद-अभेद मर्य्यादाओं से संदिग्ध वेदपदार्थ अभी तक हमारा 'इदमित्थमेव' रूप से समाधान करने में असमर्थ–सा ही बन रहा है। ऐसी दशा में आवश्यक है कि, इन संदिग्ध भावों का निराकरण करते हुए वेद का कोई ऐसा समन्वय किया जाय, जिससे घट-पटादि भौतिक पदार्थों की भाँति वेदतत्त्व का भी हमें इदमित्थमेव रूप से परिज्ञान हो जाय। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त, छन्दो–वितान–रसलक्षणा–वेदत्रयी का संक्षिप्त स्वरूप वेदप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

पूर्वप्रतिपादित 'प्राजापत्यवेदमहिमा' से यह तो निर्विवाद प्रमाणित है कि, वेद, और प्रजापति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। त्रैलोक्यव्यापक, अग्नि–वायु–आदित्यकृतमूर्त्ति–सौर सम्वत्सरप्रजापति से ही अपने मूलवेद के आधार पर २४ बृहतीसहस्र (८६४०००) कलात्मक वेदमहिमा का विकास हुआ है। अब देखना यह है कि, इस प्रजापति, तथा प्राजापत्यवेद का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?। तत्त्वविवेचन के आधार पर इस सम्बन्ध में हम निम्नलिखित तीन विभिन्न वाक्यों का प्रयोग कर सकते हैं––

१–प्रजापतेर्वेदा उत्पद्यन्ते—— जन्यजनकभावसम्बन्धः।

२–प्रजापतेर्वेदा निःश्वसिताः—अङ्गाङ्गिभावसम्बन्धः।

३–प्रजापतिरेव वेदाः———तादात्म्यसम्बन्धः।

उक्त तीनों सम्बन्धों के समन्वय के लिए हमें 'मृद्–घट' का कार्य्यकारणभाव सामने रखना पड़ेगा। सर्वसाधारण की दृष्टि में उपादानकारण बनी हुई मिट्टी घट का पिता है, स्वयं घट इसका पुत्र है। यद्यपि 'पिता–पुत्र' से सम्बन्ध रखने वाला औपादानिक कार्य्यकारणभाव यहाँ नहीं है। पिता से उत्पन्न पुत्र की स्वतन्त्र सत्ता हो जाती है। पिता के (उपादानकारण के) सत्तोच्छेद से पुत्र (कार्य्य) की कोई हानि नहीं होती, एवं पुत्रसत्तोच्छेद से पिता का कुछ नहीं बिगड़ता। परन्तु मृद्–घट के कार्य्यकारणभाव में यह सत्ता–भेद नहीं है। **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** के अनुसार मिट्टी की सत्ता से ही घट सत्तायुक्त बन रहा है। उपादान (पिता) स्थानीया जो मिट्टी घट (पुत्र) रूप में परिणत हो गई है, वही घट का आत्मा बन रही है। यदि मिट्टी (पिता) का सतोच्छेद हो जायगा, तो अवश्यमेव घटस्वरूप (पुत्र-स्वरूप) उच्छिन्न हो जायगा। इसप्रकार उपादानकारणता से सम्बन्ध रखने वाला कार्य्यकारणसम्बन्ध

'भिन्नसत्ताककार्य्यकारणभाव''-'अभिन्नसत्ताककार्य्यकारणभाव'' भेद से दो भागों में विभक्त मानना पड़ेगा। इनमें पितापुत्रीय सम्बन्ध प्रथम कार्य्य० से सम्बन्ध रखता है, एवं मृद्घटानुबन्धी सम्बन्ध द्वितीय कार्य० से सम्बन्ध रखता है। अभिन्नसत्तात्मक कार्य्यकारणभावापन्न इस मृद्-घट के दृष्टान्त का ही 'प्रजापति-वेद' सम्बन्ध के साथ समन्वय करना है।

क्योंकि मिट्टी ही घट द्रव्य का उपादानकारण है, उपादान ही जनक कहलाया है। अतएव इस दृष्टि से **'मृत्तिकातो घट उत्पद्यते'** यह कहा जा सकता है। जिस प्रकार आँख कान-नाक, आदि इन्द्रियाँ अङ्गीभूत एक ही आत्मा के अनेक अङ्ग हैं, एवमेव यच्चयावत् मृण्मय पदार्थ आत्मभूत अङ्गीरूप एक ही मृत्तिका के अनेक अङ्ग हैं। इस दृष्टि से भी मृद्-घट में अङ्गाङ्गिभाव बन रहा है। एवं निःश्वासदृष्टि से भी अङ्गाङ्गिभाव का समर्थन किया जा सकता है। अङ्गीरूप एक भूतात्मा [सम्वत्सर की प्रतिकृतिरूप अंशात्मक जीवात्मा] से निकलने वाले अङ्गरूप २१६०० श्वास-प्रश्वास इसी के अवयव हैं। एवमेव अङ्गीभूता मृत्तिका की दृष्टि से मृत्तिका को उक्थ मान कर मृत्तिका के आधार पर अपने अर्क [रश्मि] लक्षण निःश्वासरूप [घटस्वरूपाभिव्यक्तिरूप] को प्रतिष्ठित रखने वाला घट अवश्य ही मृत्तिका का अङ्ग है। इस दृष्टि से **"मृत्तिकाया घटो निःश्वासः"** यह भी कहा जा सकता है। यदि घटद्रव्य का तत्त्वतः अन्वेषण किया जाता है, तो सिवाय मृत्तिका के अन्य द्रव्य अनुपलब्ध है। मृत्तिका की एक अवस्थाविशेष को ही 'घट' नाम दे दिया गया है। वस्तुतः मृत्तिका ही घट है। एवं इसी दृष्टि से-**'मृतिकैव घटः'** इस तादात्म्यसम्बन्ध का भी अभिनय किया जसकता है।

अग्नि-वायु-आदित्यकृतमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति का अग्निभाग पिण्ड-(मूर्त्ति)-भाव में आकर छन्दोरूप में परिणत होता हुआ ऋग्वेद बना है। वायुभाग क्रिया-(गति)-भाव में आकर रसरूप में परिणत होता हुआ यजुर्वेद बना है। एवं आदित्यभाग वितान-(तेज)-भाव में आकर वितानरूप में परिणत होता हुआ सामवेद बना है। तीनों प्राजापत्य देवता तीनों के उपादान बन रहे हैं। दूसरे शब्दों में देवत्रयीरूप प्रजापति वेदत्रयी का उपादान बन रहा है, एवं इसी दृष्टि से-**''प्रजापतेर्वेदा उत्पद्यन्ते''** इस जन्यजनकभाव का अभिनय किया जासकता है। सम्वत्सरप्रजापति केन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। इसके मूलरूप से अर्करूपद्वारा विनिर्गत, सम्वत्सरमण्डल में व्याप्त, संख्या में निःश्वासों से समतुलित वेदत्रयी कलाएँ अवश्य ही प्रजापति के निःश्वास माने जा सकते हैं, एवं इसी दृष्टि से **"प्रजापतेर्वेदा निःश्वसिताः"** इस अङ्गाङ्गिभाव का भी समर्थन किया जा सकता है। मूर्त्तिलक्षण छन्दोवेद, गतिलक्षण रसवेद, तेजोलक्षण वितानवेद, तीनों का तत्त्वतः अन्वेषण करने पर प्राजापत्य-(अग्नि-वायु-आदित्य)-प्राण के अतिरिक्त और कुछ उपलब्ध न होगा। इसी आधार पर-**'प्रजापतिरेव वेदाः'** इस तादात्म्यसम्बन्ध का भी समर्थन किया जा सकता है। इसप्रकार कारणभूत प्रजापति के, तथा कार्य्यरूप वेदों के सम्बन्ध में विरुद्धभावानुगता सम्बन्धत्रयी का दृष्टिकोणभेद से यथावत् समन्वय हो रहा है।

उक्त सम्बन्ध समन्वय के अनन्तर अब वेदतत्त्व के निश्चित स्वरूप के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि, सम्पूर्ण सौर-ब्रह्माण्ड में (जिसके एक अल्पप्रदेश में पार्थिव ब्रह्माण्ड भी अन्तर्भुक्त है) सूर्य्य से आरम्भ कर पृथिव्यादि पर्य्यन्त जितनें भी पदार्थ हैं, प्रत्येक में 'अग्नि, वायु, आदित्य' इन तीन

देवताओं का भोग हो रहा है। अथवा **"त्रिदेवसमष्टित्त्वमेव पदार्थत्त्वम्"** ही पदार्थ का अवच्छेदक है। अपने इन यज्ञिय शब्दों को छोड़ कर यदि विज्ञानभाषा के शब्दों से हम इस स्थिति का स्पष्टीकरण करने चलें, तो यह कहा जायगा कि, **'छन्द-रस-वितान'** की समष्टि ही पदार्थत्त्व है। यदि भाषा का स्थान और भी निम्नधरातल पर लाया जायगा, तो इसी स्थिति का यों स्पष्टीकरण होगा कि, **'मूर्ति-गति-तेज'** की समष्टि ही पदार्थ का पदार्थत्त्व है। यदि लोकभाषा के माध्यमसे विचार किया जायगा, तो कहा जायगा कि- **"पिण्ड-क्रिया-विकास"** की समष्टि ही पदार्थ का पदार्थत्त्व है। अग्नि, छन्द, मूर्त्ति, पिण्ड, इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध जो एक तत्त्व है, वही **'ऋग्वेद'** है। अग्निवेद, छन्दोवेद, मूर्त्तिवेद, सब इसी के नामान्तर हैं। वायु, रस, गति क्रिया, आदि नामों में विभक्त तत्त्वविशेष ही **'यजुर्वेद'** है। वायुवेद, रसवेद, गतिवेद, क्रियावेद, सब इसी के नामान्तर हैं। आदित्य, वितान, तेज, विकास, आदि नामों से उपश्रुत तत्त्वविशेष ही **'सामवेद'** है। आदित्यवेद, वितानवेद, तेजोवेद, विकासवेद, सब इसी के नामान्तर हैं। यही वेदत्रयी की प्रत्यक्ष दृष्टि है। प्रत्येक पदार्थ वेदत्रयीयुक्त है, प्रत्येक भौतिक पदार्थ को हम त्रयीवेद के गर्भ में प्रतिष्ठित देख रहे हैं। किंवा त्रयीवेदरूप त्रिपर्वा भूतपदार्थ ही हमारी दृष्टि का विषय बन रहा है, जैसाकि पूर्वप्रकरण में-**"त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्"** इत्यादि श्रुतिव्याख्यान में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

१-अग्निः-	छन्दः-	मूर्त्तिः-	पिण्डः—	ऋग्वेदः	
२-वायुः-	रसः-	गतिः-	क्रिया—	यजुर्वेदः	-पदार्थस्य-पदार्थत्त्वम्
३-आदित्यः	वितानम्-	तेजः-	विकासः-	सामवेदः	

२-सूर्य्य, और वेदत्रयी—

यद्यपि सभी पदार्थों में उक्त वेदत्रयी के दर्शन किए जा सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में (चेतन-जड़, सर्वसाधारण में) 'पिण्ड, क्रिया, विकास' तीन पर्व प्रतिष्ठित रहते हैं। तथापि स्व-ज्योतिर्घन सूर्य्य को उदाहरणरूप से उद्धृत करना विशेष सुविधाजनक होगा। क्योंकि सौरसंस्था वेदत्रयी का एक श्रौत उदाहरण है, साथ ही इसमें त्रयीवेद की (रूपज्योतिर्म्मय पार्थिव पदार्थों की अपेक्षा) स्पष्ट प्रतीति हो रही है। सौरसंस्था पर दृष्टि डालिए। इस मे आप **'सूर्य्यपिण्ड-प्रकाश-गति'** तीन पर्व देखेंगे। आप देखेंगे कि, खगोल में एक स्थान पर (बृहतीछन्द पर) स्थिररूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ, पृथिवी-परिभ्रमण से पार्थिव मनुष्यप्रजा को गतिशील, उदयास्तभावों से युक्त बनाता हुआ सूर्य्य अपनी हिरण्यज्योति (नारायणाग्नि) से बड़े भ्राजभाव से प्रदीप्त हो रहा है-**"परमया जूत्या बल्बलीति"** (शत०ब्रा०)—(परम ओज-वेग-से प्रज्वलित हो रहा है)।

सूर्य्यपिण्ड के अतिरिक्त आप यह भी देखेंगे कि, सूर्य्यपिण्ड के चारों ओर ज्योतिर्म्मयी रश्मियों का प्रसार हो रहा है। **इन** रश्मियों के विकास को ही हम अपनी भाषा में-'प्रकाश' (उजेला-धूप) कहा करते हैं। साथ ही यह भी देखते हैं कि, यह सौर प्रकाश हमारी दृष्टिसीमा से भी कहीं विदूर स्थान

पर्य्यन्त व्याप्त हो रहा है। यहाँ तक कि जिस भूपिण्ड पर हम प्रतिष्ठित हैं, वह इसी प्रकाशमण्डल के गर्भ में भुक्त है। सूर्य्यपिण्ड और रश्मिमय प्रकाशमण्डल, इन दो प्रत्यक्षदृष्ट भावों के अतिरिक्त एक तीसरा गतिभाव इसी सौरसंस्था में हमें और उपलब्ध हो रहा है। जिस पार्थिव प्रदेश में छाया और आतप (धूप), दोनों सहचरसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहते हैं, वहाँ इस गतिभाव का भी साक्षात्कार किया जा सकता है। ज्यों ज्यों धूप आगे बढ़ती जाती है, त्यों त्यों छाया आगे आगे सरकती जाती है। यहाँ तक कि मध्याह्न में सूर्य्य जब हमारे ठीक खस्वस्तिक (शिरोबिन्दु) पर आ जाता है, तो उस समय हमारा सम्पूर्ण शरीर प्रकाशमण्डल में आजाता है, छायाभाग हमारे पैरों के नीचे आजाता है। छायामय असुरों का एकान्ततः पराभव हो जाता है। **"मृत्युर्वै तमश्छाया"** (ऐ० ब्रा० ७।१२) के अनुसार यह छायामय प्राण उस अमृतलक्षण सौर-ज्योति की अपेक्षा अवश्य ही मृत्युलक्षण माना जायगा। छायामय मृत्युभाव, ज्योतिर्म्मय अमृतभाव, दोनों का यथास्थान सन्निवेश इसी सूर्य्य के द्वारा हो रहा है, जैसा कि-**"निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च"**। (यजुः सं०३४।३१) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है।

इस सम्बन्ध में बतलाना यही है कि, रश्मिपुञ्जलक्षण प्रकाश को छायास्थानों में हम प्रत्यक्ष ही गतिशील पारहे हैं। यही गतिभाव की प्रत्यक्षदृष्टि है। इसी सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, रश्म्यवच्छिन्न इस सौरप्राण की गति **'प्राणन-अपानन'** भेद से दो विरुद्ध भावों में परिणत रहती है। न केवल सौर प्राण की ही, अपितु 'गति' नाम को जितनी भी क्रियाएँ हैं, सब में दोनों धर्म्म अवश्य ही प्रतिष्ठित रहते हैं। गति (क्रिया) का स्वरूप ही प्राणन-अपानन है। आगे बढ़ना 'प्राणन' है, पीछे हटना 'अपानन' है। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, हृदय की ओर झुकना अपानन है, हृदय से बाहिर की ओर झुकना प्राणन है। केन्द्रानुगता गति अपानन है, केन्द्रबहिर्द्धा गति प्राणन है। बिना केन्द्रगति (अपानन) को प्रतिष्ठा बनाए बहिर्द्धा गति (प्राणन) असम्भव है। मैदान में दौड़ लगा कर बाजी मारने वाले एक मल्ल को आगे बढने से पहिले (प्राणन से पहिले) उस केन्द्रबललक्षण प्रतिष्ठाबल (अपानन) की प्राप्ति के लिए दो चार कदम पीछे हटना पडता है। आकाश में आगे बढ़ने वाले चील्हादि पक्षी अपने दोनों पक्षों (पंखों) को पीछे हटाते हुए (अपानन करते हुए) ही आगे संचार करने में समर्थ होते हैं। चलते हुए एक पैर पीछे रख कर ही दूसरा आगे बढ़ाया जा सकता है। एँजिन की गति अपानन को मूल बना कर ही प्राणन में समर्थ होती है। इसप्रकार गतिमात्र में **'प्राणन-अपानन'** दोनों भाव समाविष्ट हैं। जिस स्थान पर धूप-छाया का युग्म है, उसके ठीक बीच में धूपसीमा पर आप एक रेखा खैंच दीजिए। आप देखेंगे कि धूप आगे बढ़ने से पहले सहसा पीछे हटती है, फिर आगे बढ़ती है। इसप्रकार अपानन करते हुए ही धूप प्राणन व्यापार करने में समर्थ होती है। सूर्य्यरश्मि पीछे हटती हुई ही आगे बढ़ रही है। गतितत्त्व के इसी स्वाभाविक विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है- **"अन्तश्चरति रोचना, अस्य प्राणदपानती, व्यख्यन् महिषो दिवम्" (यजुः सं ३।७)**। यही तीसरे गतितत्त्व के साक्षात् दर्शन हैं।

इसप्रकार एक सौरसंस्था में 'सूर्य्य-प्रकाश-गति' तीनों भावों का हम साक्षात्कार कर रहे हैं। इन तीनों भावों को हम उस केन्द्रस्थ तत्त्व के ही तीन विकास मानेंगे, जो कि 'प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे कि मनःप्राणवाङ्मय कहा जाता है, जो कि प्रकृति के सम्बन्ध से 'वागग्नि' नाम से भी प्रसिद्ध हो रहा है,

जैसा कि-'**प्रजापतिश्चरति गर्भे**'-'**स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः**'-'**आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्**'-'**तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्**'' इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मश्रुतियों से स्पष्टीकरण हुआ है। मनःप्राणगर्भित, गर्भीभूत वागग्नि के ही 'अग्नि-वायु-आदित्य' नामक तीन विकास हैं। अग्निविकास ही सूर्यपिण्ड है, वायुविकास ही गति है, आदित्यविकास ही प्रकाश है। पिण्ड के आधार पर ही प्रकाश (रश्मियाँ), तथा गति, दोनों भाव प्रतिष्ठित हैं। पिण्ड ही दोनों का उक्थ (प्रभव) बन रहा है, पिण्ड ही दोनों की प्रस्तावभूमि (उपक्रमस्थान) है। अतएव अग्निविकासलक्षण इस पिण्ड को अवश्य ही 'ऋग्वेद' कहा जा सकता है। पिण्ड सीमित है, सीमाभाव ही विज्ञानभाषा में 'छन्दो' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव अग्निपिण्डात्मक इस ऋग्वेद को अवश्य ही 'छन्दोवेद' कहा जा सकता है।

आदित्यविकास ही सौरप्रकाशमण्डल (रश्मिमण्डल, अर्चिर्मण्डल) है। पिण्डकेन्द्र को आधार बना कर ही यह बहिर्मण्डलरूप से वितत हो रहा है-(फैल रहा है) 'ऋक् (पिण्ड) के आधार पर ही इस साम (मण्डल) का गान (विस्तार) हो रहा है-'**ऋच्यध्यूढं साम गीयते**'। प्रकाशमण्डल ही पिण्ड-दृष्टि की अवसानभूमि है। जहाँ तक प्रकाश की सीमा है, वहीं तक वस्तुपिण्ड देखा जा सकता है। मण्डल के बाहिर पिण्डदृष्टि का अवसान है, निधन है। अतएव अवसानात्मक उपसंहारस्थानीय, आदित्यविकास-लक्षण इस वेदको '**सामवेद**' कहा जा सकता है। वितान ही इसका प्रातिस्विकरूप है, इसी आधार पर इसे '**वितानवेद**' कहना भी अन्वर्थ बनता है।

सूर्यपिण्ड, तथा सौरमण्डल, दोनों हीं एकप्रकार की सीमा हैं, आयतन हैं, आकारविशेष हैं। जिस वस्तुतत्व का यह पिण्ड है, एवं जिसका यह मण्डल है, पिण्डमण्डलरूप पुरों के भीतर व्याप्त रहने वाला वह वस्तुतत्त्व ही 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। पिण्ड-मण्डल, दोनों स्थिर हैं, पुरुष गतिमान् है, प्रस्रवणशील है, रसनधर्म्मा है, अतएव इसे 'रस' भी कहा जा सकता है। वायुविकास ही सौरगतितत्त्व है। यह पिण्ड-मण्डल की सीमा से सीमित रहता हुआ भी स्वस्वरूप से छन्दोमर्य्यादा से वञ्चित है। शब्दप्रपञ्च में जो स्थान पद्यात्मिका वाक् का है, अर्थप्रपञ्च में वही स्थान पिण्डात्मक ऋग्वेद का है। जो स्थान गेयात्मक वाक्प्रपञ्च का है, वही स्थान मण्डलात्मक सामवेद का है। एवं जो स्थान गद्यात्मिका वाक् का है, वही स्थान गत्यात्मक यजुर्वेद का है। इस ओर के पिण्डरूप ऋग्वेद, उस ओर के मण्डलरूप सामवेद, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित, अतएव दोनों से योग करता हुआ ही वायुविकासलक्षण यह रसनशील तत्त्व '**यजुर्वेद**' नाम से प्रसिद्ध है। अपनी रसनवृत्ति से ही यह '**रसवेद**' भी कहलाया है। इसप्रकार पिण्ड-प्रकाश-गति (मूर्त्ति-मण्डल-तेज,-छन्द-वितान-रस,) रूप से हम सौरसंस्था में तीनों वेदों का प्रत्यक्ष दर्शन कर रहे हैं। साथ ही हमें यह भी मान लेना चाहिए कि, प्रत्येक पार्थिव वस्तु में भी ये तीनों पर्व नित्य प्रतिष्ठित हैं। इन में वस्तुपिण्ड का हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं, परिवर्त्तनरूप गतिभाव का भी साक्षात्कार हो रहा है। प्रश्न है-प्रकाशमण्डल का। अवश्य ही रूपज्योतिर्म्मय इन पार्थिव पिण्डों का स्वज्योतिर्म्मय सूर्यपिण्ड की भाँति प्रकाशमण्डल नहीं बना करता। किन्तु मण्डल अवश्य बनता है। ज्योतिर्म्मय प्राण हो, अथवा तमोमय। अवश्य ही यह अपना एक मण्डल बनाता है। प्रत्येन वस्तुपिण्ड के चारों ओर वस्तुकेन्द्र से निकल कर बड़ी दूर तक व्याप्त रहने वाला प्राण मण्डलरूप में परिणत रहता है, जैसा कि आगे जाकर विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रकृत में यही वक्तव्य है कि, पदार्थमात्र में भावत्रयी का प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है। 'छन्दोऽपि दृश्यते, वितानमपि,

रसोऽपि' का कभी अपलाप नहीं किया जा सकता। यही वेदसाधारण का एक दृष्टिकोण है, जिसका निम्नलिखित वाजिश्रुति स्पष्टीकरण कर रही है—

१–"अयं वाव 'यजु'र्योऽयं पवते। तदेतद्यजुर्वायुश्चान्तरिक्षञ्च, यच्च जूश्च, तस्माद्यजुः। एष एव 'यत्', एष ह्येव ह्येति। तदेतद्यजुरृक्सामयोः प्रतिष्ठितं, ऋक्सामे वहतः" (शत० १०।३।५।१,२,)।

२–"तस्य वाऽएतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्। वाचा हि चीयते–ऋचा, यजुषा, साम्ना–इति–नु दैव्या। सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता–ऋचो, यजूंषि, सामानि। तेनाग्नि-(वागग्नि) स्त्रेधा विहितः। सोऽयमात्मा त्रेधा विहितः। सोऽनेन त्रेधा विहितेनात्मना-एतं त्रेधा विहितं दैवममृतमाप्नोति" (शत० १०।५।१।१,३।)।

३–"सा या सा वाक्, असौ स आदित्यः। स एष मृत्युः (सम्वत्सरः)। तद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्। सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता–ऋचो, यजुंषि, सामानि। मण्डलमेव (पिण्ड एव) ऋचः, अर्चिः सामानि, पुरुषो यजुंषि" (शत० १०।५।१।४,५,)।

४–"यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थम्। ता ऋचः, स ऋचां लोकः। अथ यदेतद्–र्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम्। तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन्, मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः (प्राणविधः), तानि यजुंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति"(शत० १०।५।२।१,२,)*

५–"ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः—
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत्—
सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥"
(तै० ब्रा० ३।१२।६।२।)।

* यह आधिदैविक वेद का स्पष्टीकरण है। आगे जाकर इसी ब्राह्मण में बड़े विस्तार के साथ आधिभौतिक, तथा आध्यात्मिक वेद का निरूपण हुआ है। वेद के तात्त्विक स्वरूप के जिज्ञासु को उक्त ब्राह्मण अवश्य ही देखना चाहिए।

उपर्युक्त तृतीय श्रुति ने वागग्निरूप आदित्य को मृत्यु बतलाया है। स्वयं सम्वत्सरप्रजापति अहोरात्र-पर्वों से हमारे आध्यात्मिक बृहतीसहस्र (३६०००) आयुः- सूत्रों का एक एक के क्रम से आदान करता हुआ मृत्यु बन रहा है। अन्तक बन रहा है। सम्वत्सरप्रजापतिलक्षण, वेदाग्निमय प्रजापति का यह 'मृत्यु' भाव केवल मध्यस्थ 'यजु' से ही सम्बन्ध रखता है। श्रुतियों में **'मर्त्य'-'मृत्यु'** दो शब्द आया करते हैं। अमृतगर्भित मृत्यु का नाम जहाँ 'मर्त्य' है, वहाँ विशुद्ध मृत्यु को मृत्यु ही कहा गया है। पूर्वप्रतिपादित सौर-वेद में ऋक्-साम, दोनों आयतनरूप आकाशात्मक बनते हुए (अपरिवर्त्तन की दृष्टि से) जहाँ 'अमृत' माने जायँगे, वहाँ दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित गति-लक्षण यजु (परिवर्त्तन की दृष्टि से) मृत्यु माना जायगा। **"तदेतद्यजुरृक्सामयोः प्रतिष्ठितं, ऋक्सामे वहतः"** के अनुसार मृत्युलक्षण यह मध्यस्थ यजु अमृतलक्षण, अवारपारीण ऋक् साम के आधार पर प्रतिष्ठित है। यजुर्लक्षण मृत्युभाव अपने क्षणिक परिवर्त्तन के कारण क्षण क्षण में बदल रहा है। ऐसी दशा में प्रश्न होना चाहिए था कि, यदि यजु मृत्यु है, यही वस्तुतत्त्व है, तो प्रत्येक पदार्थका स्वरूप क्षण क्षण में बदलता रहना चाहिए, एवं 'स एवायम्' यह अपरिवर्त्तनरूपा प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिए ?। इस प्रश्न का समाधान यही होगा कि, अवश्य ही यजुरूप मृत्यु मृत्यु है, क्षणिक परिवर्त्तनशील है, अतएव पदार्थ क्षण क्षण में बदल भी रहे हैं। तथापि क्योंकि यह मध्यस्थ मृत्यु (यजुः) उभयतः अर्चिर्लक्षण अमृत (ऋक्- साम) से परिगृहीत है। इसी अवारपारीण अविच्छिन्न धरातल के आधार पर-'स एवायम्' प्रत्यभिज्ञा होती रहती है। अतएव पदार्थ बदलते हुए भी न बदलते से दिखलाई देते हैं। यही इस यजुर्मृत्यु का अमृतभाव है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर आगे जाकर वाजिश्रुति कहती है—

"अथैतदमृतं-यदर्चिर्दीप्यते। तस्मान्मृत्युर्न म्रियते। अमृते ह्यन्तः।
तस्माद्* न दृश्यते। अमृते ह्यन्तः। तदेषः श्लोको भवति—
अमृतं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति॥

(शत० १०।५।२।३,४,)।

१-महदुक्थम्--ऋचः—आदौ—अमृतम्	
२-पुरुषः ——यजूंषि--मध्ये—मृत्युः	—'निवेशयन्नमृतं-मर्त्यं च'
३-महाव्रतम्—सामानि--अन्ते—अमृतम्	

* मण्डल-पिण्ड-गति, तीनों में वस्तुतत्त्व गतिरूप यजु ही है। परन्तु आश्चर्य है कि, जो वस्तुतत्त्व (यजु-गति) है, उसे तो हम नहीं देखते। देखते हैं मण्डल, तथा पिण्डरूप आकारमात्र को। अमृतके दर्शन हो रहे हैं, दूसरे शब्दों में मृत्युगर्भित (यजुर्गर्भित) अमृत (ऋक्-साम) का ही साक्षात्कार हो रहा है।

१-मण्डलम्-पिण्डः—छन्दः—ऋचः	(छन्दोवेदः)	—"सैषा त्रयीविद्या तपति"
२-पुरुषः—गतिः—रसः—यजुंषि	(रसवेदः)	
३-अर्चिः—विकासः-वितानम्—सामानि	(वितानवेदः)	

३-वेदत्रयी का सामान्य परिचय—

जिस त्रयीवेद का पूर्वपरिच्छेद में दिग्दर्शन कराया गया है, उस की 'लाभार्थ' के साथ तुलना करते हुए भी वेदत्रयी का सामान्य परिचय कराया जा सकता है। **'विद्यते, वेत्ति, विन्दते'** तीनों हीं निर्वचनों से संसिद्ध वेदशब्द का प्रकृत में **'विन्दते'-इति वेदः'** यह लाभार्थक भाव ही अभिप्रेत है। जिस पदार्थ के साथ हमारा ऐन्द्रियक सम्बन्ध होता है, उसे **'ज्ञेय'** कहा जाता है। जिन इन्द्रियों के द्वारा सम्बन्ध होता है, वह ऐन्द्रियकज्ञान **'ज्ञान'** है। एवं संस्काररूप ऐन्द्रियक-मानसज्ञान के आधार पर 'इदमहं जानामि' कहने वाला 'अहं' भाव ही **'ज्ञाता'** है। ज्ञाता अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है, ज्ञान अन्तःकरण-वृत्यवच्छिन्न चैतन्य है, एवं ज्ञेय विषयावच्छिन्न चैतन्य है। तीनों के एकत्र समन्वय से ही हमें तत्पदार्थ का प्रत्यय होता है, इसी प्रत्यय को हम पदार्थोपलब्धि कहा करते हैं। उपलब्धिलक्षण पदार्थ (ज्ञानीय पदार्थ) ही वस्तुलाभ है। यह लाभात्मक भाव ही वेदत्रयी है, एवं इसी लाभार्थ को लक्ष्य में रख कर हम वेदशब्द का 'विन्दते-इति वेदः' यह निर्वचन किया करते है।

ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय, तीनों के उक्त विवेचन से थोड़ी देर के लिए हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, ज्ञाता, ज्ञान, ये दो पर्व तो आध्यात्मिक हैं, एवं ज्ञेयपर्व आधिभौतिक है। दो सम्पत्तियाँ हमारी, एक बाह्यसम्पत्, तीनों के संयोग से तात्कालिक प्रत्यय का उदय माना गया है। परन्तु तत्त्वदृष्ट्या विचार करने पर हमें इस तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, जिसे हम 'ज्ञाता' कहते है, उसमें भी ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, तीन पर्व हैं। एवं जिस भौतिक पदार्थ को 'ज्ञेय' कहते हैं, उसमें भी 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' तीनों पर्व हैं। पहिले 'ज्ञाता' से सम्बन्ध रखने वाली पर्वत्रयीं का ही विचार कीजिए।

चिल्लक्षण आत्मा ही दर्शनपरिभाषा में **'ज्ञाता'** नाम से प्रसिद्ध है। वैदिकविज्ञान इस आत्मा को आत्मा न कह कर अपनी विज्ञानभाषा में **'प्रजापति'** कहा करता है, जो कि प्रजापति शब्द 'ज्ञाता' की अपेक्षा कहीं रहस्यपूर्ण, एवं अन्वर्थ शब्द बन रहा है। यद्यपि स्वयं 'ज्ञाता' शब्द भी सापेक्ष बनता हुआ वैज्ञानिक प्रजापति शब्द की यथाकथञ्चित् पूर्ति कर देता है, तथापि अध्यात्मसंस्था का जैसा विस्पष्ट ग्रहण प्रजापति शब्द से हो रहा है, ज्ञाता शब्द इस दृष्टि से सर्वथा असमर्थ है। यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों का यह प्रजापति शब्द अपनी विशेषताओं से असंख्य स्थानों में व्याप्त हो रहा है। तथापि यहाँ सामान्यरूप से चार व्याप्तियों का, एवं विशेष रूप से एक व्याप्ति का ही दिग्दर्शन करावा जायगा।

सहस्रवल्शात्मक, सहस्रविश्वात्मक, महामायावच्छिन्न, षोडशकल, चतुष्पाद, सर्वाधार, निराधार, सर्व-धर्म्मोपन्न महेश्वर ही **'अमृतप्रजापति'** नामक पहिला प्रजापति है। पञ्चकलाव्ययाक्षरक्षर ही इसका विवर्त

है। यह सम्पूर्ण महाविश्व का एक प्रजापति है। एकवल्शात्मक, पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यवल्शात्मक विश्व का आत्मा, योगमायावच्छिन्न, पञ्चकल, विश्वाधार, सर्वधर्म्मविशिष्ट उपेश्वर ही **'सत्यप्रजापति'** नामक दूसरा प्रजापति है। ब्रह्मनिःश्वसित वेद ही इसका शरीर है। नारायणाग्निमूर्त्ति, पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व से समन्वित भृग्वङ्गिरोमय, गायत्रीमात्रिकवेदमूर्त्ति, मैथुनीसृष्ट्यधिष्ठाता, गोसहस्रकृतात्मा, यज्ञेश्वर ही **'यज्ञप्रजापति'** नामक तीसरा प्रजापति है। एवं अग्नि-वायु-आदित्यकृतमूर्त्ति, त्रैलोक्यव्यापक, रोदसीब्रह्माण्डाधिनायक, रुद्रकृतात्मा, पलितवामाग्निलक्षण, सम्वत्सरचक्रप्रवर्त्तक, यज्ञमात्रिकवेदमूर्त्ति, सहस्रशीर्ष-सहस्राक्ष-सहस्रपाल्लक्षण, सौरब्रह्माण्डकृतशरीर 'ईश्वर' ही **'विराट्प्रजापति'** नामक चौथा प्रजापति है। विराट् की प्रतिष्ठा यज्ञ है, यज्ञ की प्रतिष्ठा सत्य है, सर्वप्रतिष्ठा अमृत है। साथ ही चारों का परस्पर अन्तरान्तरीभावसम्बन्ध है। विराट्प्रजापति ही पूर्वप्रतिपादित-अमृतमृत्युलक्षण वह सम्वत्सरप्रजापति है, जो वेदत्रयी के द्वारा सम्पूर्ण भूतों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखता है। इसी विराट्प्रजापति का प्रकृत में 'वेदत्रयी' शब्द से ग्रहण है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा सत्यप्रजापति बन रहा है। सत्य के आधार पर यज्ञ होता है, यज्ञाधार पर विराड्वेद का विकास होता है। अतः प्रकृत प्रकरण में सत्यप्रजापति की ओर ही विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

*

स्वतन्त्रः—[१—अमृतप्रजापतिः—षोडशीपुरुषो महामायावच्छिन्नः।—अश्वत्थब्रह्माण्डं-शरीरम्

समन्विताः—{
२—सत्यप्रजापतिः—प्राकृतपुरुषो योगमायावच्छिन्नः।—स्वायम्भुवब्रह्माण्ड-शरीरम्
३—यज्ञप्रजापतिः—यज्ञपुरुषो योगनिद्रावच्छिन्नः।—पारमेष्ठ्यब्रह्माण्डं-शरीरम्
४—विराट्प्रजापतिः—सम्वत्सरपुरुषो गुणमायावच्छिन्नः।—सौरब्रह्माण्डं-शरीरम्

*

ब्रह्मनिःश्वसितवेदमूर्त्ति सत्यप्रजापति के आधार पर यज्ञ का वितान होने वाला है, एवं इसी यज्ञाधार से हमें छन्दो-वितान-रसलक्षणा-वेदत्रयी का सामान्य विवेचन करना है। अतः सर्वप्रथम सत्यप्रजापति का ही विवर्त्त लक्ष्य में रखना होगा। 'सत्यम्' शब्द का अर्थ है-'विपर्वातत्त्व' A। **'स-ति-यम्'** ही सत्य का प्रातिस्विक निर्वचन है। तीन पर्वों की सूचना के लिए ही तद्वाचक शब्द के तीन पर्व उपस्थित हुए हैं। वे तीन पर्व क्रमशः-**'नाभि-मूर्त्ति-महिमा'** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। महिमा उसीका **'प्रजा'** रूप है, मूर्त्ति उसीका **'शरीर'** है, एवं **'नाभि'** उसी का **'आत्मा'** है। आत्मा, शरीर, प्रजा, लक्षण नभ्य-शरीर-महिमा-भावत्रयी की समष्टि ही **'सत्यप्रजापति'** है।

"**यद्वै किञ्च प्राणि, स प्रजापतिः**" यह प्रजापति का सामान्य लक्षण माना गया है। प्राणतत्त्व विना भूत के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। क्योंकि प्राण गतिमान् है, गतिरूप है, क्रियात्मक है। क्रिया अपने संचार के लिए प्रत्येक दशा में किसी निष्क्रिय धरातल की अपेक्षा रखती है। क्रियात्मक प्राण का

A 'सत्यम्' शब्द की विशद वैज्ञानिक व्याख्या 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' द्वितीयखण्ड 'ग' विभागान्तर्गत 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक प्रकरण के 'वैदिककर्म्मयोग' नामक अवान्तर प्रकरण में देखनी चाहिए।

आधारभूत वह निष्क्रिय पदार्थ ही जहाँ विज्ञानभाषा में 'पशु' कहलाया है, वहाँ लोकभाषा में वही 'भूत' कहलाया है। प्राण क्रिया है, भूत पशु है, दोनों हीं जड़ हैं। जिस प्रकार बिना भूतप्रतिष्ठा के क्रिया का सञ्चार अवरुद्ध है, एवमेव बिना ज्ञानमयी कामना के भी क्रिया का विकास असम्भव ही है। **"अकामस्य क्रिया काचित्०** *" इत्यादि मानवसिद्धान्तानुसार अवश्य ही ज्ञानोत्थिता कामना से ही प्राणात्मिका क्रिया का विकास होता है, एवं पशुरूप निष्क्रिय भूतभाग ही इसकी संचारभूमि बनता है। क्रियाविकासक, कामनामय उसी ज्ञान को-**'मन'** कहा जाता है। इसप्रकार **'यद्वै प्राणि०'** की व्याप्ति **"पशुगर्भितो यः प्राणः, तद्‌गर्भितः-य आत्मा, स प्रजापतिः"** इत्यादिरूप से **'मनः-प्राण-पशु- समष्टिः प्रजापतिः'** इस लक्षण पर विश्रान्त हो रही है। भूतरूप पशुभाग वागाकाशमूलक है। वाङ्मय मर्त्याकाश ही पञ्चभूतरूप में परिणत हुआ है। अतएव इसे 'वाक्' कहा जायगा। इसप्रकार प्रजापतिलक्षण आत्मा का अन्ततोगत्त्वा-**'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः"** इस प्रसिद्ध लक्षण पर ही पर्य्यवसान मानना पड़ेगा। 'मन-प्राण-वाक्' तीनों को ही प्राणात्मक भी माना जा सकता है। क्योंकि प्रजापति की मध्यस्था प्राणविभूति की तीनों ओर व्याप्ति है। तभी तो **'यद्वै-किञ्च-प्राणि०'**-'प्राणः प्रजानाम्' इत्यादि कहना अन्वर्थ बनता है। निम्न लिखित श्रुति से तो स्पष्टरूप से ही प्रजापति की प्राणप्रधानता व्यक्त हो रही है—

> **"तद्वै स प्राणोऽभवत् महान् भूत्वा प्रजापतिः। भुजो भुजिष्या वित्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि" इति। आत्मा (शरीरं) वै पूः। यद्वै प्राणान् प्राणयत, तस्मात् प्राणा देवाः। अथ यत् प्रजापतिः प्राणयत्, तस्माद् "प्रजापतिः प्राणः"** (शत० ७।५।१।२१।)।

मनःप्राणवाग्लक्षणा इस प्राणत्रयी के प्राणात्मक मनोमय आत्मा को 'मुख्यप्राण' कहा जायगा, व्यवहार में इसे 'आत्मा' बोला जायगा। मुख्यप्राणलक्षण मनोमय आत्मा के अङ्गभूत प्राणलक्षण प्राण को **'प्राणाः'** कहा जायगा, एवं वाङ्मयी प्राणलक्षणा वाक् (पशु) को 'श्रीः' कहा जायगा। इसप्रकार **"मनः-प्राण-वाक्"-"आत्मा-प्राणाः-श्रीः"-"नाभिः-मूर्त्तिः-महिमा"-"ज्ञानं-क्रिया-अर्थः"**-इत्यादि रूप से त्रिपर्वा सत्यप्रजापति का अनेक प्रकार से अभिनय किया जा सकेगा।

१—मनः—ज्ञानम्—नाभिः—आत्मा—आत्मा—आत्मा	"सत्यप्रजापतिः"
२—प्राणः—क्रिया—महिमा—प्राणाः—प्राणः—महिमा	
३—वाक्—अर्थः—मूर्त्तिः—श्रीः—पशुः—शरीरम्	

*** अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।**
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्॥
—मनुः २।४।

इस त्रिपर्वा सत्यप्रजापति का अत्र एव स्वतन्त्र दृष्टिकोण से 'विश्वातीत-विश्वात्मा-विश्व' नामक तीन पर्वों में उपभोग देखिए। प्रजापति का मनोभाग **'रस'** है, प्राणभाग **'बल'** है, एवं वाग्भाग **'अभ्व'** है। रस **'ब्रह्म'** है, बल **'कर्म्म'** है, अभ्व **'माया'** है। ब्रह्म **'अमृत'** है, कर्म्म **'मृत्यु'** है, माया **'विलक्षणं'** है। अमृत **'आभू'** है, मृत्यु **'तुच्छ'** है, एवं विलक्षणं **'वस्तुभूतं'** है। रस-बल-अभ्वावस्थापन्न वही मनः-प्राणवाङ्मय आत्मा विश्वातीत **'परात्पर'** है। ज्ञानक्रियार्थापन्न वही मनःप्राणवाङ्मय आत्मा विश्वात्मलक्षण **'पुरुष'** है। एवं नामरूपकर्म्मात्मक मनःप्राणवाङ्मय वही आत्मा विश्वलक्षण **'पुर'** है। इन तीनों में प्रकृत में मध्यस्थ विश्वात्मलक्षण पुरुष ही सत्यप्रजापतिरूप से गृहीत है।

१—रसः—ब्रह्म—अमृतम्—आभूः—ज्ञानम्—मनः
२—बलम्—कर्म्म—मृत्युः—तुच्छम्—क्रिया—प्राणः
३—अभ्वम्—माया—विलक्षणम्—वस्तुभूतम्—अर्थः—वाक्

} प्रजापतिः

१—मनः
१—मनः—रसः
२—प्राणः—बलम्
३—वाक्—अभ्वम्
} परात्परो विश्वातीतः (मनःप्रधानः)

२—प्राणः
१—मनः—मनः
२—प्राणः—प्राणः
३—वाक्—वाक्
} पुरुषो विश्वात्मा (प्राणप्रधानः)—'सत्यप्रजापतिः'

३—वाक्
१—मनः—रूपम्
२—प्राणः—कर्म्म
३—वाक—नाम
} पुरं विश्वम् (वाक्प्रधानम्)

मनःप्राणवाङ्मय सत्यप्रजापति की अपने इन्हीं तीन पर्वों से तीन अवस्था हो जातीं हैं, जिन्हें कि क्रमशः **'अणोरणीयान्–मध्यम;–महतोमहीयान्'** इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। नाभिलक्षण नभ्यभाव 'अणोरणीयान्' है, मूर्त्तिलक्षण मध्यभाव 'मध्यम' है, महिमालक्षण बाह्यभाव 'महतोमहीयान्' है। तात्पर्य्य यही है कि, अपने मनोभाग से (आत्मरूप से) वही प्रजापति केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता हुआ **'नभ्य-प्रजापति'** कहलाने लगता है। यह सुसूक्ष्म है, अतः इसे अवश्य ही अणोरणीयान् कहा जा सकता है। अपने प्राणभाग से वही प्रजापति महिमामण्डलरूप में परिणत होता हुआ, सर्वप्रपञ्च को अपने गर्भ मे रखता हुआ महतोमहीयान् 'सर्वप्रजापति' है। एवं अपने वाग्भाग से वही प्रजापति मूर्ति (पिण्ड) रूप में परिणत होता हुआ मध्यस्थ **'उद्गीथप्रजापति'** है। इसप्रकार केन्द्र, महिमा, मूर्त्ति–भावात्मक मनः–प्राण–वाङ्मय प्रजापति ही प्रत्येक पदार्थ का तात्त्विक स्वरूप बना हुआ है। किसी भी वस्तु को ले लीजिए। उसमें आपको ये तीनों भाव मिलेंगे, चाहे वह वस्तु जड़ हो, अथवा चेतन हो। नभ्यप्रजापति पशुपति है, ज्ञाता है। सर्व-प्रजापति पाश है, ज्ञान है। एवं उद्गीथप्रजापति पशु है, ज्ञेय है। इसप्रकार एक ही प्राजापत्यसंस्था मे केन्द्रावच्छिन्न मनोऽवच्छेदेन ज्ञाता, महिमावच्छिन्न प्राणावच्छेदेन ज्ञान, एवं मध्यमावच्छिन्न वागवच्छेदेन ज्ञेय, रूप से वही ज्ञाता है, वही ज्ञान है, वही ज्ञेय है, समष्टि प्रजापति है। यही अध्यात्म है, यही अधिदैवत है, यही अधिभूत है–**'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च–सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः'**।

१–नभ्यप्रजापतिः (नाभिः—हृदयम्–आत्मा—मनः)–ज्ञाता
२–उद्गीथप्रजापतिः (मूर्त्तिः—पिण्डः–पशवः—वाक्)–ज्ञेयः } **"प्रजापतिः**
३–सर्वप्रजापतिः (महिमा–वितानम्–प्राणाः—प्राणः)–ज्ञानम्

यद्यपि नाम–रूप–कर्म्म–भावों का क्रमशः मनोमय नभ्यप्रजापति के साथ रूप का, प्राणमय सर्वप्रजापति के साथ कर्म्म का, एवं वाङ्मय उद्गीथप्रजापति के साथ नाम का सम्बन्ध माना जाता है। तथापि 'मूर्त्तामूर्त्तविज्ञान' परिभाषा की दृष्टि से नामरूपकर्म्मात्मक व्याकृत भावों का एकमात्र उद्गीथप्रजापति के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना जायगा। केन्द्रस्थ नभ्यप्रजापति भी अपने अमूर्त्त भाव से अव्याकृत है, एवं महिमामय प्राणलक्षण सर्वप्रजापति भी अव्याकृत ही है। व्याकृत है मूर्त्तलक्षण, वाङ्मय भूतात्मक उद्गीथप्रजापति। पदार्थगत सम्पूर्ण धर्म्मों का उत्थान मूर्ति (पिण्ड) लक्षण इसी प्रजापति से हुआ है। अतएव यही **ऋग्वेदरूप** 'उक्थ' है। इसी के आधार पर ये प्रतिष्ठित हैं, अतएव यही यजुरूप 'ब्रह्म' है। एवं यही सर्ववाक्प्रपञ्च (भूतसृष्टि) में समरूप से व्याप्त है, अतएव यही सामलक्षण 'साम' है। उक्थ–ब्रह्म–सामलक्षण, त्रयीवेदमूर्त्ति उद्गीथ-प्रजापति ही वाक्प्रपञ्च का आत्मा बना हुआ है, जैसा कि छन्दोवेदपरिच्छेद में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

१–नभ्यप्रजापतिः (मनोमयः)—अव्याकृतः, अमूर्त्तः
२–उद्गीथप्रजापतिः (वेदवाङ्मयः)–व्याकृतः, मूर्त्तः } **"उभयं हैतद्भवति-मूर्त्तं चामूर्त्तंच"**
३–सर्वप्रजापतिः (प्राणमयः)—अव्याकृतः, अमूर्त्तः

१-* मूर्त्तिरेव-उक्थम्-ऋक्	व्याकृतधर्म्माणां-उक्थं, ब्रह्म, साम,त्तिरेव । आतश्च मूर्त्तिरेबात्मा-उद्गीथप्रजापतिः ।
२-* मूर्त्तिरेव—ब्रह्म—यजुः	
३-* मूर्त्तिरेव—साम—साम	

४-विज्ञानदृष्टि, और त्रिपुटीविवर्त्त—

प्रसङ्ग यह चल रहा था, कि सर्वसाधारण की दृष्टि में ज्ञाता, ज्ञान, दोनों जहाँ आध्यात्मिक तत्त्व, एवं ज्ञेय आधिभौतिक पदार्थ है, वहाँ विज्ञानदृष्टि से प्रत्येक पदार्थ त्रिपुटी से युक्त है । जब प्रत्येक पदार्थ 'प्रजापति' है, एवं प्रजापति पूर्वकथनानुसार जब त्रिपर्वा है, तो अवश्य ही प्रत्येक को त्रिपर्वा माना जासकता है । यहीं सीमा समाप्त नहीं हो जाती । अपितु मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव से तो आगे जाकर 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' प्रत्येक त्रिपर्वा बन रहा है, जैसा कि अन्य निबन्धों में (ईशादिभाष्यों में) विस्तार से निरूपित है । शास्त्रीय दृष्टि से प्रत्येक संस्था में तीनों पर्वों का भोग बतलाया गया । अब लोकदृष्टि से भी विचार कर लीजिए ।

यह एक सिद्ध विषय है कि, हमें जितनें भी ऐन्द्रियक प्रत्यय (ज्ञान) होते हैं, दूसरे शब्दों में हम जिन ऐन्द्रियक विषयों का अनुभव करते हैं, वे सब संस्काररूप से हमारे प्रज्ञान--धरातल पर पहिले से ही प्रतिष्ठित हैं । जो ज्ञेय विषय संस्काररूप से हमारी अध्यात्मसंस्था में जन्मकाल से ही प्रतिष्ठित रहते हैं, हम अपने जीवन में इन्द्रियों के द्वारा तत्संस्कारसम आधिभौतिक ज्ञेय पदार्थों का ही अनुभव कर सकते हैं । गन्ध एक प्रकार का ज्ञेय विषय है । यदि गन्धमात्रा पहिले से विद्यमान है, तभी हम बाह्य गन्ध का ग्रहण कर सकते हैं । अन्यथा गन्धप्रत्यय से हम वञ्चित रह जाते हैं । प्रत्येक इन्द्रिय में 'प्रज्ञा-प्राण-भूत' भेद से तीन तीन मात्राओं का समावेश रहता है । प्रज्ञामात्रा ज्ञाता है, प्राणमात्रा वृत्ति (ज्ञानसाधक) है, भूतमात्रा ज्ञेय है । ऐन्द्रिक अन्तर्जगत् में प्रतिष्ठित ज्ञेयलक्षण भूतमात्रा का बहिर्जगत् में प्रतिष्ठित ज्ञेयलक्षण भूतपदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है, तत्काल तद्विषयक प्रत्यय का उदय हो जाता है । हम देखते हैं कि, प्रत्येक व्यक्ति का ऐन्द्रियक प्रत्यय भिन्न भिन्न रहता है । किसी को वही मरीचिका (मिर्च) अति तिक्त (चरचरी) प्रतीत होती है, किसी को तिक्तता का अनुभव भी नहीं होता । ज्वरार्त्त रोगी को मधुर पदार्थ कटु लगने लगते हैं । इन सब अनुभवभेदों का एकमात्र कारण हमारी आध्यात्मिक भूतमात्राओं (ज्ञेयों) के विकास अविकास का तारतम्य ही माना जायगा । एवं इसी आधार पर यह निश्चयरूप से कहा जायगा कि, जिन बाह्य ज्ञेयों का हमें अनुभव होता है, उनकी मात्रा पहिले से ही हमारी अध्यात्मसंस्था में भी प्रतिष्ठित हैं । इसप्रकार केवल अध्यात्मसंस्था में हीं (पुरुषसंस्था में हीं) ज्ञाता (आत्मा), ज्ञान (इन्द्रियाँ), ज्ञेय (भूतमात्रा) तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है । हमारा मनोमय ज्ञान-भाग पुरोऽवस्थित ज्ञेय के मनोमय ज्ञानभाग से, प्राणमय ज्ञानभाग उसके प्राणमय ज्ञानभाग से, एवं वाङ्मय ज्ञेयभाग (भूतमात्रा) उसके वाङ्मय ज्ञेयभाग से युक्त होता है, हमारे तीनों पर्व उसके तीनों पर्वों से युक्त होकर ही प्रत्यय के कारण बनते हैं ।

अब इस सम्बन्ध में प्रश्न यह रह जाता है कि, यदि हमारी भाँति 'जड़' नाम से प्रसिद्ध भौतिक पदार्थों में--(जिन्हें सामान्य भाषा में केवल ज्ञेय कहा जाता है) भी यदि 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' तीनों पर्व हैं, तो उन्हें प्रत्यय क्यों नहीं होता ? । हम देखते हैं कि, पाषाण-लोष्टादि में न तो इन्द्रियाँ (ज्ञान) ही हैं, न इन्द्रियप्रवर्त्तक सुखःदुःखानुभवकर्त्ता प्रज्ञान ही है, न आयतनवर्द्धक, चेष्टाकर्म्मप्रवर्त्तक आत्मा (ज्ञाता) ही है। फिर यह किस आधार पर कहा जा सकता है कि, "हमारे साथ उनका समतुलन है, किंवा जो पर्वत्रयी अध्यात्मसंस्था में है, वही पर्वत्रयी अधिभूतसंस्था में है" !

एक आस्तिक भारतीय के लिए तो उक्त प्रश्न का महत्त्व इसलिए नहीं है कि, **'ईशावास्य-मिदं सर्वम्'-'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** पर निष्ठा रखने वाला यह भारतीय 'जड़' नाम की कोई वस्तु मानता ही नहीं। 'जड़-चेतन' व्यवहार तत्त्वतः निर्मूल है। "पाषाणादि में आत्मा नहीं है, इसलिए वे जड़ हैं, मनुष्यों * में आत्मा है, इसलिए वे चेतन हैं" यदि 'जड़-चेतन' व्यवहार का यह कारण माना जाता है, तब तो सर्वथा भ्रान्ति है। क्योंकि सर्वव्यापक आत्मा की कहीं सत्ता रहे, कहीं सत्ता न रहे, यह सर्वथा असम्भव है। यदि "जिनमें इन्द्रियों का विकास है, वे चेतन हैं, एवं जिनमें इन्द्रियों का विकास नहीं है, वे जड़ हैं" जड़-चेतन व्यवहार की यह परिभाषा मानी जाती है, तो वह आस्तिक भारतीय को भी मान्य है। क्योंकि **'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्'** (चरकसंहिता) इत्यादिरूप से इन्द्रिय-विकासानुबन्धी चेतनभाव, इन्द्रियविकासाभावानुबन्धी जड़भाव स्वयं भारतीय विद्वानों को भी अभिमत है। वस्तुतत्त्व सब में समान हैं, केवल अभिव्यक्ति, अनभिव्यक्ति में तारतम्य है । क्योंकि भूतपदार्थों में ज्ञाता-ज्ञान की अनभिव्यक्ति है, अतएव वे जड़ मान लिए गए हैं, अतएव च उन्हें अस्मदादि की भाँति न तो प्रत्यय ही होता, न आयतनवृद्धि आदि चेतनधर्म्म ही इनमें विकसित होते ।

५-ज्ञानधारा के दो विभिन्न दृष्टिकोण—

'जड़-चेतन' का प्रसङ्ग चल रहा है। अतएव इस सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली विविध भ्रान्तियों का निराकरण-प्रासङ्गिक प्रतीत होता है। व्यवहारजगत् से सम्बन्ध रखने वाला, अधिकारी की योग्यता के तारतम्य से अपने प्रतिपाद्य विषयों का श्रेणि-विभाजन करने वाला, ज्ञान के क्रमिक उत्थान के लिए- **"असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते"** को अपना लक्ष्य बनाने वाला, अतएव प्रतिपाद्य विषयों में परस्पर विरुद्ध गमन करता हुआ सा प्रतीत होने वाला, किन्तु 'शिक्षा-सिद्धान्त' के अनुसार अपने अपने विभिन्न-प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त बना रहने वाला, त्रिधा विभक्त भारतीय

* कुछ समय पूर्व पश्चिमी विद्वानों में यह विवाद चला था कि, अश्व-गज-सिंह-व्याघ्रादि पशुओं में आत्मसत्ता है, अथवा नहीं ? । उन्होंने इस सम्बन्ध में क्या मन्तव्य अभिव्यक्त किया ?, प्रश्न इसलिए अमीमांस्य है कि, भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार तो पाषाणादि धातुवर्ग भी विश्वेश्वरात्मसत्ता से वञ्चित नहीं है। प्रश्न है केवल 'अभिव्यक्ति' का। इस सम्बन्ध में यह निश्चित राद्धान्त है कि, सर्वव्यापक भी विश्वात्मा एकमात्र मानव में हीं स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। और इस अभिव्यक्ति की दृष्टि से समस्त चराचरविश्व में एकमात्र मानव ही आत्मवान्-आत्मयाजी है, जैसाकि खण्डचतुष्टयात्मक **'भारतीय मानव'** नामक महान् निबन्ध मे यत्रतत्र विस्तार से निरूपित है।

A"दर्शनशास्त्र" इस सम्बन्ध में (जड़-चेतन के विवेक में) अपना जो निर्णय व्यक्त करता है, वह श्रेणिविभागाक्रान्त सामान्य अधिकारियों के लिए उपयुक्त बनता हुआ भी सहजज्ञानानुमोदित प्राकृतिक तत्त्व के अनुगामी विशेष अधिकारियों की जिज्ञासा यथावत् शान्त नहीं कर सकता, नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करना दर्शनशास्त्र की सुप्रसिद्ध "दर्शन" मर्यादा के बाहिर जाना है। दर्शन-ज्ञान का जहाँ हमारे बौद्ध जगत् से सम्बन्ध है, वहाँ आत्मज्ञान का आत्मविवर्त्त से सम्बन्ध है। सीधी भाषा में हमें यों कहना चाहिए कि, हमारी अध्यात्मसंस्था में मुख्यतः दो ज्ञान-धाराएँ प्रवाहित रहतीं हैं। इन दोनों का स्थलभेद से प्रत्यक्ष किया जासकता है।

एक ऐसा व्यक्ति, जिसने शब्दशास्त्र का यत्किञ्चित् भी अध्ययन नहीं किया है, बुद्धिवादी विद्वान् जिसे 'मूर्ख' कहा करते हैं, जिस मूर्ख का एकमात्र लक्ष्य है-अपनी सहजभाषा से लोकव्यवहारों का सञ्चालन करते हुए खाते-कमाते-परिवार का भरण-पोषण करते लीलासंवरण कर जाना। संसार में क्या हो रहा है ?, कौन विद्वान् है, कौन मूर्ख है ?, क्या अच्छा है, क्या बुरा है ?, राष्ट्र क्या है ?, समाज क्या है ?,राष्ट्र-समाजोत्थान कैसे सम्भव है ?, ईश्वर ने जगत् क्यों, कैसे, कब, किससे, कहाँ बनाया ?, इत्यादि 'क्यों' के प्रपञ्चों की दुनिया से हमारा वह 'मूर्ख' सर्वथा तटस्थ है। जैसा कुछ बन पड़ता है, सुविधानुसार राम-राम कर लेता है, पुण्यपथ का प्रेमी बना रहता है, पाप से भय करता रहता है। किन्तु ईश्वर-पुण्य-पाप की वैज्ञानिक व्याख्या सुनने-सुनाने की न इसमें योग्यता है, न समय, न प्रवृत्ति। ज्ञानगर्व से मदोन्मत्त बने हुए सदसद्विवेकी विद्वद्गण ईश्वर की साक्षात् प्रतिमारूप इसी 'मूर्ख' को-'**ग्रामीण**'-'**जँगली**'-'**असभ्य**'-'**पशु**' आदि उपाधियों से अलङ्कृत करते हुए अंशतः भी तो लज्जित नहीं होते। यह तो हुआ ज्ञानधारा का एक दृष्टिकोण। अब दूसरे दृष्टिकोण से विचार कीजिए।

एक ऐसा व्यक्ति, जो किसी महानगर के महाप्रासाद में, महासम्पत्तिशाली बड़े आदि के घर पैदा हुआ है। पूर्ण सुविधाओं से युक्त रहता है। लालन-पालन-शिक्षा-दीक्षा-सभ्यता-सदाचार-शिष्टाचार, आदि में मनमाना खर्च होता है। समय पाकर आरम्भ का वह अबोध व्यक्ति, मूर्खसम व्यक्ति पूर्ण योग्य बन जाता है, विद्वान् बन जाता है। इसने दर्शन पढ़ा है, राजनीति-समाजनीति, धर्म्मनीति, शिल्प, कला, वाणिज्य, आदि सभी कुछ सीखा है। अपने इसी शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर यह एक दिन समाज का 'बुद्धिमान्' नेता मान लिया जाता है। समाज इसे प्रतिष्ठा देता है, अपना नियन्ता मानता है, मुखिया समझता है। और यह भी समाज के द्वारा मिलने वाली इस व्यक्तिप्रतिष्ठा से, व्यक्ति-पूजन से, अपने शास्त्रीय ज्ञान से, बुद्धिमानी से अपने आपको सचमुच में महापुरुष (बड़ा आदमी) मान बैठता है। प्रत्येक विषय का अपने शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर बुद्धि-पूर्वक निर्णय करना ही इसका मुख्य लक्ष्य बन जाता है। साथ ही यह उन्हीं विषयों को अपने ज्ञानीय-प्राङ्गण में स्थान देता है, जो विषय तर्क-युक्तिसम्मत बुद्धिपूर्वक प्रतिपादित होते हैं। यह मूर्ख की भाँति 'अन्धा' नहीं रहता। मनमाना श्रद्धा-विश्वास नहीं कर बैठता। प्रत्येक विषय को पहिले ज्ञान के काँटे पर तौलता है, उसमें जो बावन तोला पाव रत्ती उतरता है, वही इसके लिए उपादेय

A इस विषय का विशद विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत' 'आत्मपरीक्षा' नामक द्वितीय खण्ड के 'ख' विभाग में '**दार्शनिक दृष्टि से आत्मपरीक्षा**' नामक प्रकरण में देखना चाहिए।

बनता है। जब तक इसकी समझ (बुद्धि) में नहीं आता, तब तक यह आत्मा, ईश्वर, जीव, पाप, पुण्य, आदि को भी श्रद्धा विश्वास की दृष्टि से देखने में असमर्थ है। ऐसा बुद्धिमान् , शास्त्रज्ञ, विवेकी, कुशल, चतुर व्यक्ति ही हम साधारण मनुष्यों की ओर से–**'नागरिक'–'सभ्य'–'मनुष्य'–'विद्वान्'–'बड़ा आदमी'** इत्यादि उपाधियों से अलङ्कृत किया जाता है। यही ज्ञानधारा का दूसरा दृष्टिकोण है।

इतना तो निश्चित है कि, पुराणशास्त्रप्रतिपादित, श्रुतिसम्मत सृष्टि के क्रमिक विकास की दृष्टि से मूर्ख ज्येष्ठभ्राता है, बुद्धिमान् कनिष्ठभ्राता है। अवश्य ही आरम्भ में इस जगतीतल पर मूर्खों का ही साम्राज्य रहा होगा, जिनके कि स्वर्णमय शान्ति-साम्राज्य को अगली पीढ़ियों में उत्पन्न होने वाले बुद्धिमानों नें वीरान कर दिया। ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गई, त्यो त्यों कृत्रिमता घर करती गई, प्राकृतता नष्ट होती गई। व्यवहार की सामान्य भाषा के स्थान में परिष्कृत विविध भाषाओं नें जन्म लिया। ग्रामों नें नगरों का रूप धारण किया। अशिक्षा का आसन शिक्षा नें छीन लिया। निःसीम शब्दशास्त्र अवतीर्ण हुआ। इनकी बुद्धिपूर्विका विविध व्याख्याएँ हुईं। इसप्रकार अतीत पर वर्त्तमान ने अपना पूरा पूरा सिक्का जमा लिया, जिसका इतिवृत्त आज के बुद्धिमानों के सामने प्रत्यक्षवत् * स्फुट है।

'मूर्ख' ज्ञानशून्य है, यह तो सम्भवतः बुद्धिमान् भी बुद्धिसम्मत न मानेंगे। क्योंकि बुद्धिमानों की दृष्टि में बिना ज्ञान के कोई भी कर्म्म नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में मूर्ख को ज्ञानाभावलक्षण 'अज्ञान' शब्द से तो व्यवहृत नहीं किया जा सकेगा। अवश्य ही मूर्ख भी 'ज्ञानवान्' है। इधर बुद्धिमानों की ज्ञाननिष्ठा में तो सन्देह भी करना भारी अपराध है। हाँ तो ज्ञानवान् दोनों हीं हैं। अब प्रश्न यह रह जाता है कि, यदि मूर्ख बुद्धि-लक्षण (विद्वानों के) ज्ञान से अपने मूर्खतारूप कर्म्मों का सञ्चालन नहीं करता, तो वह ज्ञान कौन सा है ?। बुद्धिमान् अन्वेषण करेंगे, तो उत्तर में इनकी भाषा में **'आत्मज्ञान'** शब्द उपस्थित होगा, जिसे मूर्खों की भाषा में हम **'सहजज्ञान'–'ईश्वरीयज्ञान' 'प्राकृतिकज्ञान'** आदि शब्दों से व्यवहृत करेंगे। विद्वान् लोग क्योंकि बुद्धि से काम लेते हैं। साथ ही शास्त्रद्वारा इनका यह ज्ञान विकसित हुआ है। दूसरे शब्दों में कृत्रिम साधनों से इनका ज्ञान प्रकट हुआ है, अतएव इनके इस महापौरुष लक्षण महाज्ञान को, बुद्धिमानी को इन विद्वानों की भाषा में–**'तर्क–युक्ति–सम्मत बौद्धज्ञान'** कहेंगे, एवं मूर्खों की भाषा में यही ज्ञान **'कृत्रिमज्ञान' 'जीवज्ञान'–'विकृतज्ञान'** आदि शब्दों से व्यवहृत होगा।

बुद्धिमानों के अन्तर्जगत् में क्षोभ उत्पन्न करने वाली मूर्खों की वह सहज ज्ञानधारा अवश्य ही एक विचित्र पहेली मानी जायगी। साथ ही वेद की बुद्धिसम्मत व्याख्या के प्रेमी हमारे पाठक भी इस सर्वथा अप्रासङ्गिक ज्ञान–चर्चा से अपने बौद्ध धरातल को क्षुब्ध ही अनुभूत करेंगे। परन्तु जब उनके सामने 'मूर्खतापूर्ण–सहजज्ञान' का वास्तविक इतिहास आ जायगा, तो उन्हें सम्भवतः यह मान लेना पड़ेगा कि, हम अप्रस्तुत विषय का अनुगमन करते हुए भी अपने 'वेदत्रयी' प्रकरण से बाहिर नहीं जा रहे हैं। अच्छा, तो अब उस मूर्खतापूर्ण सहजज्ञान का संक्षिप्त इतिहास सुन लीजिए।

---

* बुद्धिमानों के इस क्रमिक सृष्टीतिवृत्त का विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका'न्तर्गत 'बहिरङ्गपरीक्षात्मक'–प्रथमखण्ड के–**'आरम्भिक निवेदन'** नामक प्रकरण में देखना चाहिए।

मूर्खतापूर्ण सहजज्ञान वह ज्ञान है, जिसे हम 'आत्मसंवेदन' (आत्मा की पुकार) कहा करते हैं। यह वह ज्ञान है, जिसका मूलस्रोत सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, स्वयं जगदीश्वर है। यह विमलज्ञानधारा वह ज्ञानधारा है, जिसके अविच्छिन्न प्रवाह में अच्छा-बुरा, राग-द्वेष, पाप-पुण्य, हिंसा, स्तेय, असत्य, कृत्रिमत्रा, वितण्डा, छल, आदि बुद्धिगम्य महा-ग्रहों का प्रवेश एकान्ततः निषिद्ध है। यह वह-ज्ञानगरिमा है, जिसने सम्पूर्ण प्राणीवर्ग का भार वहन कर रक्खा है। यह-वह सम-ज्ञान है, जिसका विभक्त विश्व पर्वों में अविभक्तरूप से साम्राज्य है। यह वह सहजज्ञान है, जो सहजशब्दों का प्रवर्त्तक बना रहता है। यह वह निर्म्मल ज्ञान है, जिसका हम एक ३-४ वर्ष के शिशु में भी पूर्ण विकास देखते हैं। यह वह ज्ञान है, जिसका परमानन्दघन बालकों की बालक्रीड़ा में प्रत्यक्ष किया जासकता है। यह वह ज्ञान है, जिसका स्वाभाविक (सहज) आकर्षण कभी कभी उन बुद्धिमानों को भी अपने बुद्धिक्षेत्र से विकम्पित कर देता है, जोकि बुद्धिमान् आरम्भ में कृत्रिमज्ञान के पक्षपाती बनते हुए अन्त में 'नेति-नेति' कहकर उपसंहृत हो जाते हैं। यह वह ज्ञान है, जिसके अनुग्रह से हमारे जीवन के सर्वस्वभूत श्रद्धा-विश्वास नाम के दो भाव उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित होते रहते है।

और यह वही ज्ञान है, जो हमनें हमारी बुद्धिमानी से खो दिया है, अथवा तो खोते जा रहे हैं। यह वही ज्ञान है, जो प्रवृद्ध बुद्धिवाद के अनुग्रह से स्वस्वरूप (सहजभाव) से आवृत होता हुआ श्रद्धा-विश्वास से वञ्चित हो गया है। यह वही ज्ञान है, जिसे हमनें कृत्रिम शब्दजाल का अनुगामी बनाने की भूल करते हुए पलायित कर दिया है। यह वही ज्ञान है, जो बुद्धिवाद का बाना पहिन कर शान्ति के स्थान में क्रान्ति का कारण बन रहा है। यह वही ज्ञान है, जिसने बुद्धिवाद का अनुगमन करते हुए अपने शान्तिप्रद 'ईश्वर' और 'धर्म्म' इन दो रूपों को अन्तमुंख बना लिया है, एवं फलस्वरूप शान्तिसंवाहक ईश्वर, तथा धर्म्ममूर्त्ति वही ज्ञान आज विश्वशान्ति के लिए एक महा संकट बन गया है।

६-मूर्खतापूर्ण सहजज्ञान, और ऋषिदृष्टि—

और यह वही ज्ञान है, जिसके सहज उपासक जहाँ बुद्धिमानों की भाषा में 'मूर्ख' कहलाए है, वहाँ सहज भाषा में 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। यह वही ज्ञान है, जो बिना प्रयास, किंवा सहज प्रयास के द्वारा श्रद्धा-विश्वास की सजीव प्रतिमारूप, निर्म्मल अन्तःकरण वाले उन महर्षियों की सहजवाणी के द्वारा विनिर्गत है। यह वही ज्ञान है, जिसके सहज शब्द 'वेद' नाम से श्रुत हैं। यह वही ज्ञान है, जिसे ऋषियों नें जैसा सुना, वैसा ही लोक के अभ्युदय के लिए 'श्रुति' नाम से हमारे सामने मूर्तिवत् रख दिया है।

और यह वही वेदज्ञान है, जिसके 'जर्फरी-तुर्फरी' आदि सहस्रों सहज शब्द सहजज्ञान से वञ्चित बुद्धिमान् व्याख्याताओं की दृष्टि में अद्यावधि भी एक पहेली ही बने हुए हैं। यह वही वेदज्ञान है, जिसके सहज सन्देश को अपनी बुद्धिमानी से समझने में असमर्थ रहते हुए बुद्धिमानों नें शिक्षा-कल्पादि षडङ्गों की सृष्टि कर डाली है। यह वही वेदज्ञान है, जो काल पाकर षड़ङ्गों के धरातल से भी गिराया जाकर दर्शनशास्त्र का पात्र बना दिया गया है। यह वही वेदज्ञान है, जिसने इसीप्रकार विविध भाष्य, बुद्धिसम्मत असंख्य व्याख्याएँ, टीका उपटीका, आदि के आवरण-प्रत्यावरण-प्रत्यन्तावरण-सूक्ष्मान्तरावरण आदि लक्षण-अनेक आवरणों से आज के इस बुद्धिवादप्रधान युग में अपना सहजभाव सर्वथा छोड़ दिया है। सर्वान्त में यह वही वेदज्ञान है, जो अपनी

सहजज्ञानमूला सहज परिभाषाओं से वञ्चित होता हुआ आज सर्वथा तत्त्वशून्य, वितण्डावादमूलक पौरुषेया-पौरुषेय जैसे निरर्थक वादों का अनुगामी बना दिया गया है। यही हमारे इस मूर्खतापूर्ण ज्ञान (ईश्वरीयज्ञान, सहजज्ञान, ऋषिदृष्टि, आर्षधर्म्म, वेदज्ञान,) का संक्षिप्त, किन्तु सहजसिद्ध इतिवृत्त है, जिसे भुला देने से वेदज्ञान-प्रतिपादक वेदशास्त्र आज वेदस्वरूपप्रतिकृतिभूत कृष्णमृग की विहारभूमि इस भारतवर्ष के विद्वानों के लिए भी एक जटिल समस्या बन रहा है, जिसका कि आगे के 'मन्त्रापौरुषेय' प्रकरण में समाधान होने वाला है। रही बात विद्वत्तापूर्ण-बौद्धज्ञान के इतिवृत्त की। इस सम्बन्ध में इसलिए कुछ नहीं कहा जा सकता कि, आज हम जो कुछ जानते हैं, पढ़ते हैं, लिखते हैं, कर्म करते हैं, वह सब कुछ इस कृत्रिम बौद्धज्ञान का ही महा विस्तृत इतिवृत्त है।

७–जड़चेतनात्मक रहस्यवाद—

उक्त ज्ञानेतिवृत्त की प्रासङ्गिक चर्चा के अनन्तर पुन. प्रक्रान्त जड़–चेतनवाद की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। दर्शनशास्त्र ने इस सम्बन्ध में जो निर्णय किया है, वह बौद्धज्ञान की दृष्टि से सर्वथा आदरणीय है। अब आत्मज्ञानलक्षण उस 'सहजज्ञान' की दृष्टि से जड़–चेतनभाव की मीमांसा कीजिए, जो सहजज्ञान **'वेदज्ञान'–'ज्ञानसहकृतविज्ञान'** आदि नामों से प्रसिद्ध है। इस विज्ञानदृष्टि से विचार करने पर हमें इस तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, ईश्वरीय सृष्टिप्रपञ्च **'ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय'** भेद से तीन भागों में विभक्त है। ज्ञाता **'आत्मा'** है, ज्ञान इस आत्मा की **'रश्मियाँ'** है, ज्ञेयभाग इसी आत्मा का **'प्रवर्ग्य'** अंश है। आत्मा **'चित्'** है, रश्मियाँ **'चेतना'** है, प्रवर्ग्य **'अचित्'** है। चित् **'अवारपारीण'** है, चेतना **'मध्यस्था'** है, प्रवर्ग्य **'उपसंहार'** है। इस विषय की उत्थानिका से पहिले ही यह लक्ष्य में रख लेना चाहिए कि 'मनः-प्राणवाङ्मय प्रजापति के अंशरूप सभी सृष्टिविवर्त्त मनःप्राणवाङ्मय ही हैं। इस दृष्टि से सभी को **'ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय'** कोटि में रक्खा गया है, सभी त्रिपर्वा हैं। अतएव भारतीय व्यापक चिद्वाद (आत्मवाद) निरापद है। अतएव मनुष्येतर पदार्थों के (पशु–पक्षी,वृक्षादि के) उत्पीड़न से होने वाला 'पाप' भाव ज्यों का त्यों सुरक्षित है। इस दृष्टि को मूलाधार मान कर ही आगे चलना है।

सृष्टिप्रपञ्च को हम सामान्यरूप से पहिले तीन भागों में विभक्त करेंगे। कुछ पदार्थ तो ऐसे हैं, जिनका न तो आयतन घटता–बढ़ता, न जिनमें कोई (प्रत्यक्ष में) आदान–विसर्गभाव ही उपलब्ध होता। पाषाण, मृत्, लोष्ट, धातु, उपधातु, रस, उपरसादि पदार्थ इसी प्रथम कोटि में मानें जायँगे। कुछ पदार्थ ऐसे हैं, जो घटते–बढ़ते हैं, आदान–विसर्गलक्षण व्यापार करते हुए प्रतीत होते हैं, परन्तु अपने स्थान से अन्यत्र गमन करने में असमर्थ रहते हैं। ओषधि–वनस्पति (वृक्ष–लता–गुल्मादि) पदार्थ इसी द्वितीय कोटि में मानें जायँगे। कुछ पदार्थ ऐसे हैं, जिनका मिथुनभाव से सर्जन होता है, इन्द्रियों का विकास रहता है, अवस्था, तथा जात्यनुरूप बढ़ते हैं, प्रत्यक्ष में ध्वनि–शब्दादि वाक् का उपयोग करते हैं, एक-स्थान से स्थानान्तर में गमनागमन करते हैं, कृश–स्थूलादि आकारभेदों में परिणत होते रहते हैं। 'मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, कृमि' इन पाँच वर्गों का इस तृतीय कोटि में ही अन्तर्भाव माना जायगा। तीनों वर्गों के पदार्थ क्रमशः **'असंज्ञ–अन्तःसंज्ञ–ससंज्ञ'** कहलाएँगे। यदि ऐन्द्रियक दृष्टि से चेतन–अचेतन की व्यवस्था की जायगी, तो धातूपधातुलक्षण असंज्ञजीवों को **'अचेतन'** (नितान्त जड़) कहा जायगा। क्योंकि इन पदार्थों

में चिद्विगर्मनभूत इन्द्रियविकास का नितान्त अभाव है । ओषधि-वनस्पतिलक्षण अन्तःसंज्ञजीवों को **'अर्द्ध चेतन'** (चेतन-जड़ की मध्यावस्था) माना जायगा । क्योंकि इनमें त्वगिन्द्रियमात्र का विकास रहता है । एकमात्र इस त्वगिन्द्रिय के विकास से ही इनके केन्द्र में रहने वाली ज्ञानधारा इतर सब ऐन्द्रियक ज्ञानों की प्रवर्त्तिका बन जाती है, जैसा कि—**"तस्माद् रुदन्ति पादपाः, हसन्ति, जिघ्रन्ति'** (महाभारत) इत्यादि वचनों से स्पष्ट है । क्योंकि इनमें चेतनोपोद्बलक सर्वेन्द्रिय विकास का अभाव है । इसलिए तो इन्हें 'चेतन' नहीं कहा जा सकता । साथ ही त्वगिन्द्रिय विकास के प्रभाव से चित् के आंशिक विकास से ये वञ्चित भी नहीं हैं । अतएव इन्हें अर्द्धचेतन कहना सर्वथा अन्वर्थ बनता हैं । मनुष्यादि ससंज्ञजीवों को **'चेतनजीव'** कहा जायगा । क्योंकि इनमें ऐन्द्रियक ज्ञान का विकास देखा जाता है । इसप्रकार पार्थिव पदार्थों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है ।

१-चेतनपदार्थाः—-ससंज्ञजीवाः—-मनुष्य-पशु-पक्षि-कीट-कृमयः ।

२-अर्द्धचेतनपदार्थाः-अन्तःसंज्ञजीवाः-ओषधिवनस्पतयः ।

३-अचेतनपदार्थाः—असंज्ञजीवाः—-धातूपधातवः ।

८-आत्मा, और जीव का पार्थक्य—

अब एक दूसरी दृष्टि से इन्हीं तीनों के तीन विभाग किए जाते है, जिस दृष्टिकोण का हमारे प्रकृत प्रकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है । मनुष्यों का एक स्वतन्त्र विभाग समझिए । 'पशु-पक्षी-कीट-कृमि-ओषधि-वनस्पति' इन का एक स्वतन्त्र विभाग समझिए, एवं धातुवर्ग का एक स्वतन्त्र विभाग मानिए । इन तीनों में प्रथम विभाग को-'ज्ञातृविभाग' कहा जायगा, दूसरे को 'ज्ञानविभाग' माना जायगा, एवं तीसरे को 'ज्ञेयविभाग' माना जायगा । इन तीन विभागों के साथ ही हमारे सम्मुख पूर्वोक्त प्रश्न का समाधान स्वतः उपस्थित हो जाता है । परन्त इस समाधान के साथ ही एक दूसरा जटिल प्रश्न और सामने आ जाता है । हमारी भाँति बहुतों को यह ऊहापोह हुआ होगा कि, मनुष्य के सदृश पशु-पक्षी-आदि इतर चेतन जीवों को भी क्या पाप-पुण्य-लगता है ?, क्या इन्हें भी अच्छे बुरे का फल भोगने के लिए यातनाशरीर धारण कर लोकान्तर में जाना पड़ता है ?, दूसरे शब्दों में क्या इन का भी पुनर्जन्म होता है ?, क्या इन में भी वही कर्म्मभोक्ता आत्मा है, जो मनुष्यों में प्रतिष्ठित है ? ।

इन सब प्रश्नों का समाधान भी उक्त विभागत्रयी से भलीभाँति गतार्थ बन रहा है । एवं इस गतार्थता के लिए **'जीवात्मा'** नामक सुप्रसिद्ध व्यावहारिक शब्द ही पर्य्याप्त बन रहा है । सभी को यह विदित है कि, जीव को आत्मा कहा जाता है, आत्मा जीव माना जा रहा है । यदि यह पर्य्याय-मान्यता ठीक है, तो 'जीवात्मा' का क्या अर्थ ? । एक साथ समानार्थक दोनों शब्दों के प्रयोग का क्या प्रयोजन ? । सहज ज्ञान उत्तर देगा कि, यह पर्य्याय सम्बन्ध नितान्त अशुद्ध है । 'आत्मा' भिन्नार्थक शब्द है, एवं जीव भिन्नार्थक शब्द है । जीव अवश्य ही 'आत्मा' कहा जासकता है, परन्तु आत्मा जीव नहीं माना जासकता । आत्मा अवारपारीण है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जा चुका है । जीव सादि सान्त है । पूर्वजन्मानुभूति, आवागमन, पाप-पुण्य आदि का विपर्य्यय, ये सब भाव उन जीवों के साथ युक्त रहते हैं, जिन में अवारपारीण आत्मा की अभिव्यक्ति रहती

है। जिन जीवों में इस आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं रहती, दूसरे शब्दों में जो जीव आत्मस्वरूप को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहते हैं, उन में पूर्वजन्मानुभूति की कथा तो विदूर रही, इस जन्म में भी संस्कारों का धारावाहिक क्रम नहीं रह सकता। न इन्हें पाप-पुण्य लगता, न पुनरागमन का ही प्रश्न उठाया जा सकता। मनुष्य, तथा पश्वादि के स्वरूप में यही एक बहुत बड़ा अन्तर है।

मनुष्य नामक संसज्ञजीव जहाँ आत्माभिव्यक्तित्त्व से युक्त है, वहाँ पश्वादि नामक ससंज्ञजीव इस आत्माभिव्यक्तित्त्व से वञ्चित हैं। 'मानव' नामक प्राणी आत्माभिव्यक्तित्त्व से युक्त रहते हुए जहाँ जीवात्मा' कहलाएँगे, वहाँ पश्वादि केवल 'जीव' शब्द से ही व्यवहृत होंगे। सहजज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली सहजभाषा में इन पश्वादि प्राणियों के लिए 'जीवात्मा' शब्द प्रयुक्त न होकर 'जीव-जन्तु' शब्द ही प्रयुक्त होंगे,हुए हैं। पशुओं में आत्मा की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती ?, इस प्रश्न का उत्तर वही प्राणात्मक ज्ञानप्रपञ्च है, जिसे हमनें ऐन्द्रियक ज्ञान कहा है। ऐन्द्रियकज्ञानप्रधानता ही आत्माभिव्यक्तित्त्व का कारण है। यही कारण है कि, ऐसे नितान्त मूर्ख, जिनको सिवाय ऐन्द्रियक ज्ञान के कुछ भी बोध नहीं हैं, जो मूढगर्भवत् नितान्त पशुवत् हैं, उन मनुष्यों में भी आत्मा अभिव्यक्त नहीं रहता। फलतः वे भी जड़भरत बनते हुए पशुओं की भाँति ही जीवन्मुक्त बने रहते है। इस के अतिरिक्त आत्माभिव्यक्तित्त्व की चरम सीमा पर पहुँचे हुए वे परमहंस भी अपने आत्मा को जीवसम्बन्ध से पृथक् करते हुए जीवन्मुक्त बन जाते हैं।

तत्त्वतः निष्कर्ष यही है कि, आत्मा सर्वव्यापक है। इस की अपने स्वरूप से सर्वत्र सभी जीवों में यद्यपि अभिव्यक्ति है। तथापि जीवसंस्था की योग्यता के तारतम्य से जीवों में इस की अभिव्यक्ति-अनभिव्यक्ति हो रही है। पुरुष नामक जीव ही इस आत्माभिव्यक्तित्त्व का मुख्य पात्र है। अतएव जीवसृष्टि में पुरुष ही प्रजापति (ईश्वर) के नेदिष्ठ (समसम्बन्धी-समीपतम) माना गया है, जैसाकि-'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' (शतपथब्राह्मण) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। पश्वादि जीवों में इस अभिव्यक्तित्त्व का अभाव है, अतएव इन में अवारपारीण-सस्कारों का अभाव है। अतएव ये कर्म्मजनित संस्कारों से विनिर्मुक्त रहते हुए मुक्तवत् हैं। इनकी अपेक्षा वृक्षादि निम्न श्रेणि में हैं। क्योंकि पशुओं में जहाँ पाँचों इन्द्रिओं का विकास है, वहाँ इन अन्तःसज्ञ जीवों में केवल त्वगिन्द्रिय का ही विकास है। भूतवर्ग इन से भी अपेक्षाकृत निम्न श्रेणि में प्रतिष्ठित हैं। अतएव यहाँ ऐन्द्रियक विकास का आत्यन्तिक अभाव है। इसप्रकार 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' भेदसे जीववर्ग तीन विभागों में विभक्त रहता हुआ सर्वथा व्यवस्थित बन रहा है।

१-मनुष्याः——————————— ज्ञातृविभागः (संसज्ञाः-चिन्मयाः)

२-पशु-पक्षि-कृमि-कीट-ओषधि-वनस्पतयः——ज्ञानविभागः (संसज्ञाः, अन्तःसंज्ञाः चेतनायुक्ताः)

३-धातूपधातवः——————————ज्ञेयविभागः (असंज्ञाः-अचेतनाः)।

६-सामान्या वेदत्रयी—

प्रासङ्गिक चर्चा समाप्त हुई। अब उस वेदत्रयी का विचार कीजिए, जिस के सम्बन्ध में 'नभ्य-उद्गीथ-सर्व' लक्षण, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयत्रयीमर्त्ति सत्यप्रजापति का परिच्छेदारम्भ में ही दिग्दर्शन कराया जा

चुका है। यह सत्यप्रजापति अपने नभ्यलक्षण आत्मस्वरूप से केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता हुआ सर्वोक्थ बनता हुआ ऋग्वेद है। प्राणलक्षण सर्वभाव महिमात्मक सामवेद है, एवं वाग्लक्षण उद्‌गीथभाव यजुर्वेद है। ऋग्वेद छन्दोवेद है, सामवेद वितानवेद है, यजुर्वेद रसवेद है। वागग्निरूप यही रसवेद यज्ञवितान का कारण बनता है। पदार्थमात्र में इस वेदसाधारण का उपभोग हो रहा है। तीनों वेद पदार्थरूप में परिणत होते हुए क्या क्या कार्य्य करते हैं ?, यह विचार कीजिए। रसवेद वागग्निलक्षण अन्नाद है। अन्नाहुति से स्वस्वरूप को प्रतिष्ठत रखना अन्नादाग्नि का स्वाभाविक धर्म्म है। अपनी इस स्वाभाविक वृत्ति से यह रसाग्नि (यजुः) अन्नका आहरण करता है। इस अन्नयज्ञ के योग-तारतम्य से ही पदार्थों में स्वास्थ्य-क्षय-वृद्धि आदि भावों का उदय होता रहता है। पदार्थों का जीवन, स्थिति, आदानविसर्गात्मक इस अन्नान्नादयज्ञ पर ही अवलम्बित है। यह यज्ञ रसाग्निलक्षण यजुः की ही महिमा है। वस्तुप्रतिष्ठा, एवं वस्तुतत्त्व, ये दोनों कर्म्म इसी रसवेद के हैं। प्रत्येक वस्तु में आकुञ्चन, प्रसारण, ये दो धर्म्म प्रतिष्ठित रहते हैं। ये दोनों धर्म्म प्राणलक्षण वितानवेद (सामवेद) से सम्बन्ध रखते हैं। प्रत्येक वस्तु समीप से बड़ी दिखलाई देती है, दूरसे छोटी प्रतीत होती है। यह ह्रस्व-दीर्घभाव वाग्लक्षण-छन्दोवेद (ऋग्वेद) से सम्बन्ध रखते हैं। इसप्रकार स्थिति, वस्तुतत्त्व, आकुञ्चन-प्रसारण, ह्रस्व-दीर्घादि भाव त्रयीवेद से ही सञ्चालित हैं। क्योंकि पदार्थमात्र में इन धर्म्मों का समावेश है, अतएव इस वेदत्रयी को हम 'सामान्यवेद' कह सकते हैं। उपलब्ध होने वाले प्रत्येक पदार्थ में तीनों का भोग है। उपलब्धिरूप प्रत्येक प्रत्यय में तीनों का समन्वय है। अतएव * 'विन्दति' भाव को आगे रखने वाली इस वेदत्रयी को हम 'सामान्य' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। लाभार्थिका, सामान्यलक्षणा वेदत्रयी का यही सामान्य-परिचय है। अब विशेष परिचय के लिए क्रमशः तीनों का तात्त्विक-स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

१०-ऋगलक्षण छन्दोवेद—

मूर्त्ति को ही छन्दोवेद कहा जाता है। यही छन्दोवेद 'ऋग्वेद' है। त्रयीवेद का मूल ऋगग्निलक्षण छन्दोवेद ही माना गया है। अग्नि स्वस्वरूप से त्रिवृत् है, अतएव अग्नि-वायु-आदित्य, ये तीनों अग्निविवर्त्त (प्रत्येक) तीनों से युक्त हैं। ऐसे त्रिवृत् (९) अग्नि से सम्बन्ध रखने वाली, तद्रूपा वेदत्रयी भी अवश्य ही त्रिवृता ही मानी जायगी। एवं इसी त्रिवृद्‌भाव के कारण आदित्यवायुगर्भित अग्निप्रधान ऋग्वेद में भी ऋक्-यजुः-साम का उपभोग मानना पड़ेगा। अग्न्यादित्यगर्भित वायुप्रधान यजुर्वेद में भी तीनों का समन्वय मानना पड़ेगा। एवं अग्निवायुगर्भित आदित्यप्रधान सामवेद में भी तीनों का समन्वय मानना पड़ेगा। इन तीन वेद त्रिकों में से क्रमप्राप्त प्रथम छन्दोवेदलक्षणा, ऋग्-युजुः-साममयी-ऋग्वेदत्रयी के ही संक्षिप्त स्वरूप की मीमांसा की जाती है।

इसी सम्बन्ध में पहिले एक विषय को लक्ष्य में ओर रख लेना चाहिए। छन्दोलक्षण ऋग्वेद क्योंकि अपने उक्थभाव से वस्तुस्वरूप की प्रतिष्ठा बनता है, अतएव इसे हम 'प्रतिष्ठावेद' कहेंगे। रसलक्षण यजुर्वेद क्योंकि अपने पुरुषभाव से वस्तुस्वरूप का आत्मा बनता है, अतएव इसे 'आत्मवेद' कहा जायगा। एवं वितानलक्षण सामवेद क्योंकि अपने तेजोभाव से वस्तु का (ज्योतिर्ल्लक्षण) महिमामण्डल बनता

* सत्तायां विद्यते, ज्ञाने वेत्ति, विन्ते विचारणे।
विन्दते-विन्दति-प्राप्तौ, श्यन्-लुक्-श्नम्-शेष्विदं क्रमात् ॥

है, अतएव इसे 'ज्योतिर्वेद' कहा जायगा (देखिए, ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य द्वितीयखण्ड, १६ पृष्ठ से ४६ पृष्ठ पर्यन्त)।

प्रतिष्ठालक्षण ऋग्वेद **'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः'**, इस तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार मूर्त्ति-निर्म्मापक बनता हुआ तद्रूप है। उदाहरण के लिए प्रतिष्ठारूप किसी भी वर्त्तुलाकार (गोलाकार) वस्तु-पिण्ड को सामने रख लीजिए, एवं इसी पिण्ड के आधार पर ऋग्वेदत्रयी का विचार कीजिए। मूर्त्ति छन्दोवेद है, यही ऋग्वेद है। इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा होती है कि, इस मूर्त्ति का स्वरूप क्या है ?। प्रश्नसमाधि के लिए 'पिप्पलादोपनिषत्' (प्रश्नोपनिषत्) के **'रयिप्राण'** प्रकरण की ओर ही पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया जायगा।तेजः-स्नेह नामक दो तत्त्वों की समन्वितावस्था ही 'मूर्त्ति' है। तेजः पदार्थ वही आपका सुप्रसिद्ध आङ्गिरस अग्नि है, एवं स्नेहतत्त्व सुप्रसिद्ध भार्गव सोम है। तेजोऽग्नि की **'सम्प्रासरण'** संज्ञा है, स्नेहसोम की **'संचार'** संज्ञा है। अग्नि विशकलनधर्म्मा है, उत्तरोत्तर विकासमान है। सोम संकोचधर्म्मा है, उत्तरोत्तर संहृत है। विकासशील इस अग्नितत्त्व का ही नाम **'प्राण'** है। एवं संकोचशील सोमतत्त्व ही **'रयि'** नाम से व्यवहृत हुआ है। जहाँ विशुद्ध प्राणाग्नि का साम्राज्य है, वहाँ भी वस्तुस्वरूप की उत्क्रान्ति है, एवं जहाँ विशुद्ध रयिप्राण का आधिपत्य है, वहाँ भी वस्तुस्वरूपाभाव है। दोनों के 'याग' नामक रासायनिक मिश्रण (यज्ञ) से ही वस्तुपिण्ड की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। जब विशकलनधर्म्मा प्राणाग्नि में संकोचधर्म्मा सोम की (अन्तर्य्यामसम्बन्ध से) आहुति होती है, तभी वह अग्नि उस सोम को अपने गर्भ में ले कर पिण्डरूप में परिणत होता है। पिण्डस्वरूपनिर्म्माण के लिए प्राणाग्नि का, किंवा प्राणाग्नि के स्वाभाविक विकास का मूर्च्छित होना आवश्यक है। यह मूर्च्छाभाव ही पिण्डाविर्भाव का कारण बनता है। एवं सोम ही इस मूर्च्छा-वृत्ति का प्रवर्त्तक है। क्योंकि अपने स्वाभाविक स्नेहधर्म्म से यह स्वयं मूर्च्छित है। अग्नि में हुत होकर यह उसी प्रकार प्राणाग्नि के स्वाभाविक विकास को मूर्च्छित कर देता है, जैसा कि भोजन से पहिले अशनायाके द्वारा प्रदीप्त रहने वाला शारीराग्नि भोजनरूप अन्नसोम को गर्भ में लेते ही मूर्च्छित हो जाता है। भोजनोत्तर अग्नि-विकास का मन्द पड़ जाना सर्वानुभूत है। क्योंकि मूर्च्छित अग्नि मूर्त्ति है, मूर्च्छाभाव मूर्च्छित सोमाहुति पर निर्भर है, अतएव 'मूर्त्ति' का विश्लेषण करते हुए हम प्राणाग्नि-रयिसोम के समतुलन में रयिसोम को ही मूर्त्ति कहेंगे। मूर्त्ति के इसी तात्त्विक स्वरूप को लक्ष्य में रखकर भगवान् पिप्पलाद ने कहा है—**"तस्मात्-मूर्त्तिरेव रयिः"** (प्रश्नोपनिषत्। १।५।)। अग्निसम्बन्धी, किंवा तद्रूप ऋक् ही रयि (सोम) का सहयोग प्राप्त कर मूर्त्ति (पिण्ड) रूप में परिणत हुई है। इसी आधार पर पूर्व श्रुति का-**"ऋक् से सम्पूर्ण मूर्त्तियों को उत्पन्न बतलाते हैं"** यह कथन अन्वर्थ बन रहा है।

११-ऋग्वेद के दो दृष्टिकोण—

ऋक्प्रतिष्ठालक्षणा यह मूर्त्ति दो प्रकार से त्रयीवेद की अनुगामिनी बन रही है। एक दृष्टिकोण का दार्शनिकभाव से, एवं दूसरे का विज्ञानभाव से सम्बन्ध है। दोनों में से क्रमप्राप्त दार्शनिकभाव का ही पहिले दिग्दर्शन कराया जाता है। यद्यपि भूमिकाप्रथमखण्ड में **'आत्मप्रतिष्ठाज्योतिर्लक्षणवेदनिरुक्ति'** प्रकरण मे इस दृष्टि का दिग्दर्शन कराया जा चुका है-(देखिए, उप० भू० प्र० खं० वै० वेदनिरुक्ति, पृ० ३५)। तथापि सन्दर्भपङ्क्ति की दृष्टि से यहाँ भी संक्षेप से उस विषय का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। सहज-ज्ञान की सहजभाषा में प्रतिष्ठा का अर्थ है-**'ठहराव'**। दार्शनिकभाषा में इसी के लिए **'अस्ति'** शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो 'अस्ति' प्रतिष्ठात्रयी का एक पर्वविशेष ही माना जायगा।

जैसकि पूर्व में कहा गया है, मनोमय नभ्यप्रजापति, एवं प्राणमय सर्वप्रजापति, दोनों अव्याकृत बनते हुए अमूर्त हैं। मूर्त है एकमात्र वाङ्मय उद्गीथप्रजापति। यही अपने अव्याकृतरूप से नाम–रूप कर्म्म की व्याकृति की प्रतिष्ठा बन रहा है। प्रतिष्ठातत्त्व वाग्रूप है। यह वाक्तत्त्व अपने स्वाभाविक त्रिवृद्भाव के कारण मनःप्राणवाङ्मय है। अतएव इस एक ही वाक् के मनोमयीवाक्, प्राणमयीवाक्, वाङ्मयीवाक्, ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इनमें मनोमयी वाक्प्रतिष्ठा **'आत्मधृति'** है। प्राणमयी वाक्प्रतिष्ठा **'असतोधृति'** है, एवं वाङ्मयी वाक्प्रतिष्ठा **'सतोधृति'** है। आत्मधृतिलक्षणा वाक्प्रतिष्ठा (मनः–प्रतिष्ठा) रूपव्याकृति की, असतोधृतिलक्षणा वाक्प्रतिष्ठा (प्राणप्रतिष्ठा) कर्म्मव्याकृति की, एवं असतोधृतिलक्षणा वाक्प्रतिष्ठा (वाक्प्रतिष्ठा) नामव्याकृति की प्रतिष्ठा बनी हुई है। रूप का मनोमयी वाक् से, कर्म्म का प्राण–मयी वाक् से, एवं नाम का वाङ्मयी वाक् से सम्बन्ध है, यही तात्पर्य्य है। मन ही वागवच्छेदेन रूपों का, प्राण ही वागवच्छेदेन कर्म्मों का, एव वाक् ही स्वावच्छेदेन नामों की प्रवर्त्तिका बन रही है। नामरूपकर्म्म की समष्टि ही 'मूर्त्ति' है, मनःप्राणवाक् की समष्टि ही मूर्त्तिप्रतिष्ठा है। व्यवहारभाषा में यों कहा जा सकता है कि, मूर्त्तिप्रतिष्ठा मूर्त्ति की अव्याकृतावस्था है, स्वयं मूर्त्ति इसी की व्याकृतावस्था है, जबकि परमार्थतः व्याकृत पदार्थों की अपेक्षा वाक्प्रपञ्च व्याकृत ही माना जायगा।

'अव्याकृत' का सीधासा अर्थ है–'अमृतभाव', एवं व्याकृत की परिभाषा है 'मृत्युभाव'। 'मनः–प्राण-वाङ्मय' सत्यप्रजापति अमृतधर्म्मा बनता हुआ अव्याकृत है। परन्तु स्वयं इसकी तीनों कलाओं का जब विचार किया जायगा, तो मनोमय नभ्यभाव, प्राणमय महिमाभाव, ये दो तो अमृतप्रधान बनते हुए अव्याकृत मानें जायँगे, एवं वाङ्मय उद्गीथभाव मर्त्यसृष्टि का आरम्भक (उपादान) बनता हुआ व्याकृत माना जायगा। इसी दृष्टिकोण से इस वाक् को व्याकृत कह दिया जाता है। परन्तु जब नामरूपकर्म्म की अपेक्षा से वाक् का विचार किया जायगा, तो उस दशा में वाक् को अव्याकृत ही माना जायगा। क्योंकि मर्त्य नामरूपों का उपादान बनता हुआ भी यह वाग्भाव अविकृतपरिणामवाद के अनुसार अमृत ही बना रहता है।

यह कहा गया है कि, मनोमय नभ्यप्रजापति आत्मा है, यही आत्मवेद है, यही रसलक्षण यजुर्वेद है। प्राणमय सर्वप्रजापति महिमा है, यही ज्योतिर्वेद है, यही वितानलक्षण सामवेद है। वाङ्मय उद्गीथप्रजापति मूर्त्ति है, यही प्रतिष्ठावेद है, यही छन्दोलक्षण ऋग्वेद है। तीनों हीं त्रिवृद्भावापन्न हैं। अतएव तीनों में तीनों वेदों का उपभोग रहा है। प्रकृत में तीनों में से त्रिवृत्–वाङ्मय प्रतिष्ठालक्षण छन्दोवेद का ही दिग्दर्शन अपेक्षित है। शेष दोनों त्रयीभावों का आगे आने वाले 'वितानलक्षण सामवेद, रसलक्षण यजुर्वेद' नामक परिच्छेदों में स्पष्टीकरण होगा। नाम साम्य से विषय–सन्दर्भ–सङ्गति में अव्यवस्था सम्भव है। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए यहाँ त्रिवद्भाव की समष्टि उद्धृत कर दी जाती है। इसको लक्ष्य में रखते हुए ही दार्शनिकदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले तीनों वेदविवर्त्तों पर क्रमिक दृष्टि डालना उपयुक्त होगा—

❋ सत्यप्रजापतिः—

१–नभ्यप्रजापतिः——आत्मा (मनः—अव्याकृतम्)–यजुर्वेदो रसात्मकः	अव्याकृतप्रजापतिः
२–सर्वप्रजापतिः-——प्राणाः (प्राणः–अव्याकृतः)—सामवेदो वितानात्मकः	
३–उद्गीथप्रजापतिः—पशवः (वाक्—व्याकृता)——ऋग्वेदश्छन्दोमयः	

१—नभ्यप्रजापतिस्त्रिवृतः–(मनःप्राणवाङ्मयः–अव्याकृतः) । (मनः)–आत्मा । (यजुः)

रसदेवत्रयी	१–मनोमयं मनः (मनः)—आत्मा (अव्याकृतः)—ऋग्वेदो रसात्मकः
	२–मनोमयः प्राणः (मनः)—प्राणाः (अव्याकृताः) —सामवेदो रसात्मकः
	३–मनोमयी वाक् (मनः)—पशवः (व्याकृताः)—यजुर्वेदो रसात्मकः

२—सर्वप्रजापतिस्त्रिवृतः–(मनःप्राणवाङ्मयः–अव्याकृतः) (प्राणः)—प्राणः । (साम)

वितानवेदत्रयी	१–प्राणमयं मनः (प्राणः)—आत्मा (अव्याकृतः)—ऋग्वेदो वितानात्मकः
	२–प्राणमयः प्राणः (प्राणः)—प्राणा. (अव्याकृताः)—सामवेदो वितानात्मकः
	३–प्राणमयी वाक् (प्राणः)—पशवः (व्याकृताः)—यजुर्वेदो वितानात्मकः

३—उद्गीथप्रजापतिस्त्रिवृतः–(मनःप्राणवाङ्मयः–व्याकृतः) (वाक्)–पशवः । (ऋक्)

छन्दोवेदत्रयी	१–वाङ्मयं मनः (वाक्)—आत्मा (व्याकृतः)—ऋग्वेदछन्दोमयः
	२–वाङ्मयः प्राणः(वाक्)—प्राणाः (व्याकृताः)—सामवेदछन्दोमयः
	३–वाङ्मयी वाक् (वाक्)—पशवः(व्याकृताः)—यजुर्वेदश्छन्दोमयः

१२-प्रतिष्ठात्रयी (धृतित्रयी) का मौलिक रहस्य—

प्रतिष्ठावेदत्रयी ही छन्दोवेदत्रयी है, यही प्रकृत परिच्छेद का मुख्य लक्ष्य है। प्रत्येक वस्तु ठहरी हुई सी प्रतीत होती है। यह ठहराव तीन भावो में विभक्त किया जा सकता है। 'अस्ति' रूप ठहराव एक प्रकार का ठहराव है। 'वस्तु है' यही एक प्रतिष्ठाभाव है। जिस दिन अस्तिलक्षणा यह प्रतिष्ठा इस वस्तु से निकल जाती है, वस्तु का अस्तित्व मिट जाता हैं। आत्मसत्ता से जैसे शरीर सत् है, एवमेव इस अस्तिप्रतिष्ठा से वस्तु सत् है। अतएव इस अस्तिप्रतिष्ठा को अवश्य ही **'आत्मप्रतिष्ठा'** कहा जा सकता है। यह प्रतिष्ठा वस्तु का ब्रह्मौदन है, अपना भाग है। इसे कोई अपहृत नहीं कर सकता। प्रत्येक पदार्थ भागधेयलक्षण इस अपने अपने अस्तित्त्व का आप ही भोक्ता है। अतएव इसे **'स्वप्रतिष्ठा'** भी कहा जा सकता है। इसी ने वस्तुस्वरूप को 'अस्ति' रूप से अपने ऊपर धारण कर रक्खा है, अतएव इसे 'आत्मविधृति' भी कहा जा सकता है। स्वसत्ता, स्वप्रतिष्ठा, अस्तित्वप्रतिठा, आत्मप्रतिष्ठा, आत्मविधृति, इत्यादि अनेक नामो से प्रसिद्ध यही पहिली वाङ्मय-मनोमयी आत्मसत्ता है। इसी से-'घटोऽस्ति'-'घटो विद्यते'-'अहमस्मि' इत्यादि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं।

दूसरा पर्व असल्लक्षण है। प्राणतत्त्व का ही नाम 'असत्' है (देखिए शत० ६।१।१।१)। असत् नाम से व्यवहृत, किन्तु सद्रूप प्राण ही वागवच्छेदेन, दूसरे शब्दों में प्राणमयी, अतएव असद्नाम से व्यवहृता किन्तु सद्रूपा वाक् ही वाङ्मय पदार्थों के जन्मभाव का आरम्भक बनी हुई है। प्रत्येक पदार्थ अपने जन्म से पहले 'असत्' रहता है। जब असद्रूप (प्रागभावरूप) इस पदार्थ में असद्रूपा (प्राणमयी वाग्रूपा) सत्ता का प्रवेश होता है, तभी प्रागभावलक्षण पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यह घट अभी नहीं है। कुम्भकार ने वाग्रूपा मृत्तिका में अपने हाथों का असद्रूप प्राण (बल) डाला। कालान्तर में इस प्राणसत्ता से वह चक्रावच्छिन्न मृद्भाग घटरूप में परिणित हो गया। यह सत्ता स्वयं घट की सत्ता नहीं है। अपितु मृत्सत्ता से घट सत् बन रहा है। मृत् में पानी की सत्ता, पानी में अग्निसत्ता, अग्नि में वायुसत्ता, वायु में आकाशसत्ता, इसप्रकार पाँचों भूतों में सत्ता का उत्तरोत्तर अनुगमन हो रहा है। पाँचों भूतों की उत्पत्ति परसत्ता को लेकर हुई है। पाँचों हीं भूत स्वस्वरूप से असत् हैं, परसत्ता से सत् बने हुए हैं। जब तक यह जन्ममूला परसत्ता इनमें प्रतिष्ठित रहती है, तभी तक इनकी स्वरूपरक्षा है। उस आत्मसत्ता ने परम्परया इन असत् पदार्थों के स्वरूप निर्म्माण के लिए आत्मसमर्पण कर रक्खा है। यही इन पदार्थों की 'असत्तोधृति' है। क्योंकि इस परसत्ता ने असत् पदार्थों को अपने ऊपर धारण करते हुए इन्हें सद्रूप बना रक्खा है, अतएव (असत्-पदार्थों के धारण करने से ही) इस परप्रतिष्ठा को 'असत्तोधृति' कहना अन्वर्थ बनता है, जिसका कि परम्परया पूर्वोक्त आत्मविधृतिलक्षणा स्वप्रतिष्ठा पर ही पर्य्यवसान हो रहा है।

प्रश्न हो सकता कि, जब वही आत्मसत्ता-**'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'** इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार पञ्चभूतों में प्रविष्ट होती हुई पाञ्च-भौतिक पदार्थों में प्रतिष्ठित है, एवं इसी को जब 'परप्रतिष्ठालक्षणा' असत्तोधृति कहा जाता है, तो पूर्वप्रतिपादिता स्वप्रतिष्ठालक्षणा आत्मविधृति, और इस असत्तोधृति के स्वरूप में भेद क्या रहा ?, किस आधार पर दो भेद माने गए ?। प्रश्न यथार्थ है। साथ ही निरुपाधिक सत्ताभाव की दृष्टि से आत्मप्रतिष्ठा ही परप्रतिष्ठा है, परप्रतिष्ठा ही आत्मप्रतिष्ठा है। परन्तु सोपाधिकभावमूलक द्वैतविवर्त्त में दोनों के सर्वथा विभिन्न दो क्षेत्र हो जाते हैं। पूर्वकथनानुसार जिन

पदार्थों में आत्माभिव्यक्तित्त्व नहीं है, उन्हें छोड़ते हुए आत्माभिव्यक्तित्त्व के सत्पात्र मनुष्यविवर्त्त को उदाहरण बनाइए।

हमारी अध्यात्मसंस्था में **'आत्मा-शरीर'** दो पर्व हैं। आत्मा अविनाशी है, अनुच्छित्तिधर्म्मा है। शरीर विनाशी है, उच्छित्तिधर्म्मा है। जीवनदशा में आत्मा भी है, शरीर भी है। जब आत्मा (जीव) निकल जाता है, तब शरीर यहीं पड़ा रह जाता है। इसी स्थिति का 'शरीर रह गया, आत्मा निकल गया' इस रूप से अभिनय किया जाता है। यही अभिनय सत्ताभेद का सूचक बन रहा है। पाञ्चभौतिक शरीर आत्मसत्ताकाल में चलता फिरता था, इसमें जीवनीय रस था। आत्मसत्ताभावकाल में शरीर स्थिर यष्टिवत् पड़ा रहता है, केवल यही अन्तर है। परन्तु शरीर शरीरत्वेन आज भी है। पाञ्चभौतिक शरीर का संगठन, आकार ज्यों का त्यों विद्यमान है। यदि प्रयोगविशेषों का उपयोग किया जाता है, तो बरसों शरीर शरीररूप से रह सकता है। यह शरीर का अस्तित्व जहाँ परप्रतिष्ठालक्षणा 'असतोधृति' कहलावेगा, वहाँ स्वप्रतिष्ठालक्षणा आत्मसत्ता 'आत्मविधृति' कहलाएगी। वही आत्मा साक्षात् रूप से, किंवा सूर्य्यद्वारा, किंवा अन्नरसद्वारा हमारा आत्मा (जीवात्मा) बनता हुआ-आत्मविधृति बन रहा है, अहंलक्षण आत्मा बन रहा है, स्वप्रतिष्ठा बन रहा है। एवं वही आत्मा 'आकाश-वायु-अग्नि-जल-मृत्-शरीर-' इन असद्भावों में परम्परया प्रविष्ट बनता हुआ इनका भी स्वरूपसमर्पक बन रहा है। यही उसका पाञ्चभौतिक शरीरानुबन्धी 'असतोधृति' नामक दूसरा विवर्त्त है। आत्मविधृति नभ्य-आत्मानुग्राहिणी है, असतोधृति पिण्डशरीरानुग्राहिणी है। आत्मधृति का सत्पदार्थ से साक्षात् सम्बन्ध है, अतएव यह स्वप्रतिष्ठा है। असतोधृति भूतपरम्परया आगत है, अतएव यह परप्रतिष्ठा है। इसप्रकार क्षेत्रभेद (आत्मक्षेत्र, शरीरक्षेत्र-भेदों) से दोनों प्रतिष्ठाओं का पार्थक्य भलिभाँति सिद्ध हो जाता है।

स्वप्रतिष्ठालक्षणा आत्मप्रतिष्ठा, एवं परप्रतिष्ठालक्षणा शरीरप्रतिष्ठा, इनमें से दूसरी शरीरप्रतिष्ठा के आगे जाकर शरीरप्रतिष्ठा, भूतप्रतिष्ठा, भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। जन्म से पूर्व सर्वथा असत् (प्रागभाव) रूप बने हुए पार्थिव पदार्थ उस परप्रतिष्ठा से आज सत् बन रहे हैं। प्रागभावावस्था भावावस्था में परिणत हो रही है। अतएव आत्मधृतिगर्भित असतोधृतिरूप इन पदार्थों को हम 'सत्' कह सकते हैं। सद्रूप ये भौतिक पदार्थ एक दूसरे के आधार पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। आकाशाधारपर वायु, वायु पर अग्नि, अग्नि पर जल, जल पर मिट्टी, मिट्टी पर पार्थिव पदार्थ प्रतिष्ठित हैं। असतोधृति का **'तत्सष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** से सम्बन्ध है। एवं इस तीसरी प्रतिष्ठा का केवल आधारभाव से सम्बन्ध है।

आधार आलम्बन (आश्रय) नाम से प्रसिद्ध है। यह आधार सर्वतः आधार, एकतः आधार, भेद से दो भागों में विभक्त है। सर्वतः आधार को वैदिकभाषा में **'आवपन'** कहा जाता है, एकतः आधार को 'आयतन' कहा जाता है। घट में प्रतिष्ठित रहने वाली असतोधृति घट का आपवनलक्षण आधार है। बाहिर-भीतर-चारों ओर-सब ओर से मृण्मयी असतोधृति घट का आधार बन रही है। मृण्मयी पृथिवी का आवपनाधार जलसत्ता है, जलसत्ता का आवपन अग्निसत्ता है, अग्निसत्ता का आवपन वायुसत्ता है, वायुसत्ता का आवपन आकाशसत्ता है। यही सर्वतः-आधारलक्षण असतोधृति नाम को शरीरप्रतिष्ठा है। यही 'तत्सष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' है। मृण्मयी आवपनरूपा असतोधृति से सद्रूप बने हुए पार्थिव पदार्थ

किस पर प्रतिष्ठित हैं ?, पृथिवी पर । पृथिवी ही पार्थिव पदार्थों का आयतन (एकतः आधार) है । आपोमयी असतोधृति से सद्रूप बनी हुई पृथिवी का आयतन कौन ?, समुद्र (पानी)—**'समुद्रमभितः पिन्वमानम्'** । अग्निमयी असतोधृति से सद्रूप बने हुए पानी का आयतन कौन ?,-'अग्नि' (सम्वत्सरअग्नि) । वायुमयी असतोधृति से सद्रूप बनने वाले अग्नि का आयतन कौन ?, वायु (पारमेष्ठ्य वायुसमुद्र) । आकाशमयी असतोधृति से सद्रूप बने हुए वायु का आयतन कौन ?, * **"आकाश एव सर्वेषां भूतानामेकायतनम्"** ।

छोटे आकार का भौतिक पदार्थ अवश्य ही किसी न किसी बड़े आकर के भौतिक पदार्थ पर प्रतिष्ठित रहता है । यही आयतनलक्षणा, एकतः आधारभूता तीसरी भूतप्रतिष्ठा है । यही शरीरप्रतिष्ठा का दूसरा पर्व है । इनमें प्रतिष्ठा बना हुआ भूत भी सत् है, प्रतिष्ठित पदार्थ भी सत् है । एक बड़े सत् ने अपने ऊर्ध्व पृष्ठ पर दूसरे सत् का अधःपृष्ठ अपने ऊपर प्रतिष्ठित कर रक्खा है । इस सद्भूत के सम्बन्ध से ही हम इस तीसरी प्रतिष्ठा को **'सतोधृति'** कह सकते हैं । आत्मविधृतिलक्षणा प्रतिष्ठा नित्या है, असतोधृतिलक्षणा शरीरप्रतिष्ठा भूतपर्वों के स्वप्रभवों में विलयन होने से पहिले पहिले तक प्रतिष्ठित है । सतोधृतिलक्षणा भूतप्रतिष्ठा इसी जीवन में बदलती रहती है । आत्मविधृति की मूलप्रतिष्ठा मनोमय पुरुष है, असतोधृति की मूलप्रतिष्ठा प्राणमयी प्रकृति है, एवं सतोधृति की मूलप्रतिष्ठा वाङ्मयी विकृति है । ज्ञातृप्रधान मानव वर्ग में पुरुषानुगृहीता आत्मप्रतिष्ठा की प्रधानता है, ज्ञानप्रधान पश्वादिवर्ग में प्रकृत्यनुगृहीता असतोधृति की प्रधानता है, एवं ज्ञेयप्रधान धातुवर्ग में विकृत्यनुगृहीता सतोधृति की प्रधानता है । आत्मप्रतिष्ठा में शाश्वतनित्यता है, शरीरप्रतिष्ठा में धारावाहिक नित्यता है, एवं भूतप्रतिष्ठा में क्षणिक अनित्यता है । इसप्रकार तारतम्य से प्रत्येक पदार्थ में तीनों प्रतिष्ठाओं का साक्षात्कार किया जा सकता है ।

१३-प्रतिष्ठात्रयी, और वेदत्रयी—

पूर्वोक्ता तीनों धृतियाँ हीं क्रमशः ऋक्, साम, यजुर्वेद हैं । 'उक्थ-**ब्रह्म**-साम' ही तीनों वेदों की सामान्य भाषा है (देखिए, भू० १ ख० वै० नि० ३५) । उक्थ ही ऋक् है, ब्रह्म ही यजु है, साम ही साम है । यह स्मरण रखने की बात है कि, भूमिकाप्रथमखण्ड के तत्प्रकरण में हमनें आत्मधृति को उक्थस्थानीय

---

* १–**"आकाशाद्योनेः सम्भूतः"** (कौषीतकि० १।६।) ।

२–**"अस्य लोकस्य का गति रिति ?, आकाश इति"** (छान्दोग्य० १।६।१।) ।

३–**"इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति"** (छां० १।६।१।) ।

४–**"आकाशो ह्येवैभ्यो (भूतेभ्यो) ज्यायान्, आकाशः परायणम्"** (छां० १।६।१।)

ऋग्वेद, असतोधृति को प्राणस्थानीय यजुर्वेद, सतोधृति को वाक्स्थानीय सामवेद कहा है। एवं यहाँ ठीक इसके विपरीत आत्मधृति को ऋग्वेद, असतोधृति को सामवेद, एवं सतोधृति को यजुर्वेद कहा जा रहा है। अवश्य ही सामान्य दृष्टि से दोनों निरुक्तियों में विरोध प्रतीत हो रहा है। परन्तु दृष्टिकोणभेद से दोनों का समन्वय हो रहा है। बात एक ही है, केवल शब्दों में अन्तर है। यही क्यों, इसी सम्बन्ध में एक तीसरी दृष्टि और है, जिसका ईशभाष्य में स्पष्टीकरण हुआ है। उसका भी तत्त्वतः निर्विरोध समन्वय हो रहा है। द्वितीयखण्डारम्भ में ही हम यह निवेदन कर चुके हैं कि, वेदपदार्थ सर्वथा ऋजु रहता हुआ भी परिभाषाज्ञानविलुप्ति से आज हमारे लिए जटिल समस्या बन रहा है। यही कारण है कि, सामान्य दृष्टि से अवलोकन करने पर हमारे ही पूर्वापरग्रन्थों में पाठकों को विरोध प्रतीत होने लगता है। इस आक्षेप से बचने के लिए, साथ ही वेदतत्त्व के यथावत् समन्वय की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि, इस वेदनिरूपणात्मक प्रकरण में उन पूर्वापर-विरोधों का यथासम्भव निराकरण कर दिया जाय। प्रस्तुत खण्ड से पहिले ईशभाष्य द्वितीय खण्ड की वेदनिरुक्ति में (पृ० सं० १२ से ४६ पर्य्यन्त), एवं उपनिषद्भूमिका प्रथमखण्ड की **'आत्मज्योतिप्रतिष्ठालक्षणवेदनिरुक्ति'** प्रकरण में (पृ० सं० ३१ से ३८ पर्य्यन्त) त्रिवृद्भावापन्न वेदत्रयी का निरूपण हुआ है। प्रकृत स्थल उसी वेदत्रयी-प्रकरण का तीसरा उपबृंहण है। साथ ही दृष्टिकोणभेद से तीनों ही स्थल पार्थक्य से सम्बन्ध रख रहे हैं। इतर ग्रन्थोक्त दोनों निरुक्तियों को सामने रख लीजिए, तदनन्तर प्रकृत निरुक्ति का विचार कीजिए। इस समतुलन से निम्नलिखित रूप से तीन विवर्त्त पाठकों के सम्मुख उपस्थित होंगे। तीनों में से दो विवर्त्तों का स्वरूप तो तद्ग्रन्थों में ही देखना चाहिए। यहाँ तुलना के लिए उनकी केवल तालिका उद्धृत कर दी जाती है। तीसरी त्रयी में से प्रकृत में केवल छन्दोवेदलक्षणा त्रयी का ही स्पष्टीकरण हुआ है। शेष दोनों त्रिकों का आगे आने वाले वेदप्रकरणों में स्पष्टीकरण किया जायगा। निरर्थक प्रतीयमाना पुनरुक्ति,तथा विस्तारदोष भी विषयसमन्वय की दृष्टि से महान् प्रयोजन से ही अनुप्राणित माने जायँगे।

१– ईशोपनिषत्–प्रतिपादितवेदत्रयीविवर्त्त—(अग्निवेदविवर्त्तम्)

अग्निर्वेदस्त्रयीवेदः—(मूलवेदः)।

१-आत्मवेदः--आनन्दः--(आनन्दः) - यजुर्वेदः
* २-प्रतिष्ठावेदः--सत्ता -- (सत्)--ऋग्वेदः
३-ज्योतिर्वेदः--चेतना ——(चित्)--सामवेदः
} "अग्निमयो-मूलवेदः"

यजुः १
१-उक्थम्--उक्थवेदः .... ऋग्वेदः
२-ब्रह्म——ब्रह्मवेदः .... यजुर्वेदः
३-साम——सामवेदः .... सामवेदः
} आत्मवेदः— यजुर्वेदः--यजुरग्निः (वायुः)।

ऋक् २
१-आत्मा—आत्मधृतिवेदः ...... ऋग्वेदः
२-धृतिः—-असतोधृतिवेदः ...... यजुर्वेदः
३-विधृतिः—सतोधृतिवेदः ...... सामवेदः
} प्रतिष्ठावेदः-ऋग्वेदः-ऋगग्निः (अग्निः)

साम ३
१--आत्मा-ज्ञानज्योतिर्वेदः ...... ऋग्वेदः
२—भूतानि-भूतज्योतिर्वेदः ...... यजुर्वेदः
३--नामरूपे-सत्यज्योतिर्वेदः ...... सामवेदः
} ज्योतिर्वेदः—सामवेदः—सामाग्निः (आदित्यः)

१–यजुः——यजुर्वेदत्रयी-- वाक्प्राणमनोमयी मनःप्रधाना, आनन्दलक्षणा—'रसवेदत्रयी'।
२–ऋक्——-ऋग्वेदत्रयी--मनोवाक्प्राणमयी प्राणमयी प्राणप्रधाना, सल्लक्षणा-'छन्दोवेदत्रयी'।
३–साम——-सामवेदत्रयी—मनःप्राणवाङ्मयी वाक्प्रधाना चिल्लक्षणा "वितानवेदत्रयी'।

२–उनिषद्भूमिकाप्रथमखण्डप्रतिपादित–वेदत्रयीविवर्त्त—

(क)

१–आनन्दः—ज्ञानशक्तिमयं मनः (आनन्दविकासभूमिः)

२–चेतना— –क्रियाशक्तिमयः प्राणः (चेतनाविकासभूमिः)

३–सत्ता——-अर्थशक्तिमयी वाक् (सत्ताविकासभूमिः)

१–आनन्दात्मकः—मनोमय आत्मा—आत्मा

२–चेतनात्मकः——प्राणमय आत्मा—ज्योतिः

३–सत्तात्मकः——वाङ्मय आत्मा—प्रतिष्ठा

१–आनन्दात्मको मनोमय आत्मा—आत्मा—(आत्मा) आत्मवेदः—रसवेदः (यजुर्वेदः) ।

२–चेतनात्मकः प्राणमय आत्मा—आत्मा—(ज्योतिः) ज्योतिर्वेदः—वितानवेदः (सामवेदः)

३–सत्तात्मको वाङ्मय आत्मा——आत्मा—(प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठावेदः—छन्दोवेदः (ऋग्वेदः)

(ख)

१–तदित्थमानन्दात्मके मनोमये आत्मलक्षणे युजर्वेदे मनसस्त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः ।

१–आनन्दगर्भितं मनोमयं मनः——(मनः)—सामवेदः
२–आनन्दगर्भितो मनोमयः प्राणः—(मनः)—यजुर्वेदः
३–आनन्दगर्भिता मनोमयी वाक (मनः)—ऋग्वेदः

} आत्मवेदत्रयी–मनोमयी—"मनः"[1]

२–तदित्थं चेतनात्मके प्राणमये ज्योतिर्ल्लक्षणे सामवेदे प्राणस्य त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः ।

१–चेतनागर्भितं प्राणमयं मनः (प्राणः)—ज्ञानज्योतिः—ऋग्वेदः
२–चेतनागर्भितः प्राणमयः प्राणः (प्राणः)—भूतज्योतिः—यजुर्वेदः
३–चेतनागर्भिता प्राणमयी वाक् (प्राणः) – सत्यज्योतिः—सामवेदः

} ज्योतिर्वेदत्रयी प्राणमयी "प्राणः"

३–तदित्थं सत्तात्मके वाङ्मये प्रतिष्ठालक्षणे ऋग्वेदे वाचस्त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः ।

१–सत्तागर्भितं वाङ्मयं मनः (वाक्)—आत्मधृतिः—ऋग्वेदः
२–सत्तागर्भितो वाङ्मयः प्राणः (वाक्)—असतोधृतिः—यजुर्वेदः
३–सत्तागर्भिता वाङ्मयी वाक् (वाक्)—सतोधृतिः—सामवेदः

} प्रतिष्ठावेदत्रयी–वाङ्मयी "वाक्"

प्रकारान्तरेण समन्वयो द्रष्टव्यः—

(क)
१–आत्मवेदः—आनन्दः–आनन्दः–यजुर्वेदः
२–ज्योतिर्वेदः—चेतना—चित्—सामवेदः
३–प्रतिष्ठावेदः —सत्ता—सत्—ऋग्वेदः

} —"सच्चिदानन्दवेदत्रयी"

(ख)

१–उक्थं–उक्थवेदः—ऋग्वेदः २–ब्रह्म—ब्रह्मवेदः—यजुर्वेदः ३–साम–सामवेदः—सामवेदः	—आत्मवेदो वेदत्रयात्मकः—"यजुर्वेदः"–"आनन्दः[१]"
१–आत्मा—आत्मघृतिवेदः—ऋग्वेदः २–धृतिः—असतोघृतिवेदः—यजुर्वेदः ३–विधृतिः—सतोघृतिवेदः—सामवेदः	—प्रतिष्ठावेदो वेदत्रयात्मकः—"ऋग्वेदः"–"सत्ता[२]"
१–आत्मा—ज्ञानज्योतिर्वेदः–ऋग्वेदः २–भूतानि—भूतज्योतिर्वेदः—यजुर्वेदः ३–नामरूपे–सत्यज्योतिर्वेदः—सामवेदः	—ज्योतिर्वेदो वेदत्रयात्मकः—"सामवेदः–"चेतना[३]"

उक्त तालिकाओं में से ईशतालिका में सत्तालक्षण प्रतिष्ठावेद को 'ऋग्वेद' कहा गया है। आगे जाकर इसी के मूल विवर्त्त में आत्मघृति को ऋग्वेद कहा है, असतोघृति को यजुर्वेद माना है, सतोघृति को सामवेद माना है। आत्मघृति का मनोभाव से, असतोघृति का प्राणभाव से, एवं सतोघृति का वाग्भाव से सम्बन्ध मानते हुए मन का ऋग्वेद से, प्राण का यजुर्वेद से, एवं वाक् का सामवेद से सम्बन्ध सिद्ध किया गया है। और इस सिद्धि का कारण यह बतलाया गया है कि, मनोमयी आत्मघृति इतर दोनों घृतियों का प्रस्ताव बनती हुई उक्थरूपा 'ऋक्' है। वाङ्मयी सतोघृति आत्मघृति से समतुलित है। अतएव 'ऋचा समं मेने' परिभाषानुसार इसे 'साम' कहना अन्वर्थ बनता है। असतोघृति में कार्य्य–कारणसत्ता का परस्पर यजन है। कार्य में कारण-सत्ता का योग हो जाना ही असतोघृति है। इस 'यजनात्' से यह सतोघृति यजु कहला सकती है। इसप्रकार प्रस्ताव, ऋचासम, यजनात्, भाव ही वहाँ तीनों को ऋक्–साम–यजुः–शब्द से व्यवहृत करने के कारण बने हैं।

भूमिकाप्रथमखण्ड की वेदतालिका में भी सत्तालक्षण प्रतिष्ठावेद को ही ऋग्वेद माना गया है। एवं इस दृष्टि से ईशभाष्य, तथा भूमिका, दोनों निर्विरोध हैं। मनोमयी आत्मघृति को वहाँ ऋग्वेद माना गया है, प्राणमयी असतोघृति को यजुर्वेद माना गया है, वाङ्मयी सतोघृति को सामवेद कहा गया है। इसप्रकार सत्तात्मिका त्रिवृद्वाक् से सम्बन्ध रखने वाला भूमिकाविवर्त्त ईशविवर्त्त से सर्वथा समतुलित है।

उक्त दोनों विवर्त्तों को लक्ष्य में रखते हुए अत्र प्रकृत स्थल का विचार कीजिए। प्रकृत में मनः-प्राण-वाङ्मयी, सत्तालक्षणा, पशुरूपा वाक् को ही ऋग्वेद माना गया है, एवं इसी को छन्दोवेद कहा गया है। इस अंश में तो इसका उक्त-दोनों विवर्त्तों के साथ निर्विरोध समतुलन है। अन्तर है—अवान्तर पर्वों में। आत्मधृति मनोमयी है, यही ऋग्वेद है। असतोधृति प्राणमयी है, यही सामवेद है। सतोधृति वाङ्मयी है, यही यजुर्वेद है। इस दृष्टि से जहाँ उक्त विवर्त्तों में प्राणमयी असतोधृति यजुर्वेद था, वाङ्मयी सतोधृति सामवेद था, ठीक इसके विपरीत यहाँ प्राणमयी असतोधृति को सामवेद माना गया है, वाङ्मयी सतोधृति को यजुर्वेद माना गया है। कारण इस दृष्टि का यही है कि, आत्मधृति तो सर्वमूल बनने से उक्थस्थानीया बनती हुई ऋग्वेद है ही। प्राणलक्षणा असतोधृति का कारण-कार्य्यरूप में उत्तरोत्तर वितान होता है। वितान ही साम है। इस दृष्टि से यहाँ प्राणात्मिका असतोधृति सामवेद मान लिया गया है। यजनदृष्टि से जहाँ इसे (* दार्शनिक भाव में) यजुर्वेद कहा जायगा, वहाँ कार्य्यकारणरूप वितानभाव की दृष्टि से इसे सामवेद भी कहा जा सकेगा। वाङ्मयी असतोधृति को यहाँ यजुः कहने का एकमात्र कारण यही है कि, वाङ्मयी वाक् पशुलक्षणा है। पशुभाव (अन्नलक्षण मर्त्यभाव) ही परस्पराहुति के द्वारा यज्ञ का स्वरूपसमर्पक बन जाता है। इस दृष्टि से यहाँ 'यजन' सम्बन्ध घटित है। अतएव इसे यजुः कहना अन्वर्थ बन जाता है। ऋचा-समतुलन दृष्टि से जहाँ इसे साम कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती, वहाँ यजनभावापेक्षया यजुः कहने में भी कोई संकोच नहीं किया जा सकता। इसप्रकार तात्त्विक वैज्ञानिकदृष्टि से जहाँ तत्त्वतः सब पदार्थ नियत हैं, वहाँ दार्शनिकदृष्टि भेद से भिन्नवत् प्रतीत होने वाले पदार्थों का भी समन्वय किया जा सकता है। प्रकृत में इस प्रासङ्गिक दार्शनिक दृष्टि के सम्बन्ध में यही कहना है कि—अस्तिमत् प्रत्येक वस्तु के अस्तिलक्षण प्रतिष्ठातत्त्व को तीन भागों के आधार पर त्रयीरूप से देखा जा सकता है। अस्तित्रयी के अनुग्रह से वस्तुपिण्डलक्षण केवल छन्दोवेद (ऋग्वेद) में हीं तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है। अत्र क्रमप्राप्त वैज्ञानिकभावानुबन्धी तत्त्ववाद की ओर तत्त्वज्ञों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

केवल वस्तुपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाले वस्तुपिण्डावच्छिन्न, वस्तुपिण्डाकारमूर्त्ति, छन्दोलक्षण-ऋग्वेद का वैज्ञानिक समन्वय करने से पहिले इस वेदत्रयी (छन्दोवेदत्रयी) की परिभाषा जान लेना आवश्यक होगा। एवं इस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए छन्दोवेदत्रयी के ऋक्-साम-यजुः-पर्वों का स्पष्टीकरण वाले निम्नलिखित श्रौत वचनों को अवधान पूर्वक लक्ष्य में रख लेना अत्यावश्यक होगा—

१४—छन्दोवेदमयीं ऋक्परिभाषाएँ—(१)

१—"अथेमानि प्रजापतिर्ऋक्यपदानि शरीराणि सञ्चित्याऽभ्यर्चत्। यदभ्यर्चत्, ता एवर्चोऽभवत" (जै० उ० ब्रा० १।१५।६।)।

"नथ्य प्रजापति ने ऋक्पदरूप शरीरों को संचिति से प्रस्तुत किया। इस प्रस्तुति से ही शरीरलक्षण पद (पिण्ड) ऋच् नाम से प्रसिद्ध हुआ"।

* दार्शनिक भावों का केवल दृष्टि से सम्बन्ध है। यहाँ दृष्टिकोणभेद से पदार्थव्यवहारों में विपर्य्यय हो जाता है।

२—"अस्थि वा ऋक्" (शत० ७।५।२।२५)—'अस्थि (घनवस्तुपिण्ड) ही ऋक् है'।

३—"स (प्रजापतिः) ऋचैव आशंसत्" (कौ० ब्रा० ६।१०)। 'उस प्रजापति ने ऋक् से ही शंसन (विभक्ति-विभाग-लक्षण शस्त्र) कर्म्म किया"।

४—"महदुक्थं-ऋचां समुद्रः" (शत० ६।५।२।१२।) 'महदुक्थ (वस्तुपिण्ड) ऋचाओं का समुद्र है'।

५—"ऋग्वेदाद् गार्हपत्योऽजायत" (षड्विंशब्रा० ४।१।) 'ऋग्वेद से गार्हपत्य (पिण्ड) उत्पन्न हुआ"।

६—"अयं लोक ऋग्वेदः" (ष० १।५।)–'यह (पिण्ड) लोक ऋग्वेद है"।

७—"ऋक्सम्मिता वा इमे लोकाः" (कौ० ब्रा० ११।१।) 'ये (महिमात्मक) लोक ऋक् (पिण्ड) से समतुलित हैं'।

८—"ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः" (तै० ब्रा० ३।१२।६।१।) 'ऋचाओं से ही सम्पूर्ण मूर्तियों (पिण्डों) की उत्पत्ति मानी गई है'।

६—"वागेव ऋक्" (शत० ४।६।७।५।)–'(सतोधृतिलक्षणा वाङ्मयी) वाक् ही ऋक् है"।

—X:X:X:X—

१५–छन्दोवेदमयी यजुः–परिभाषाएँ—(२)

१—"यजो ह वै नामैतद्यद्यजुरिति" (शत० ४।६।७।१३)–'ऋक्–साम को मिलाने से 'यज' नाम से प्रसिद्ध तत्त्व (हृदय) ही यजु कहलाया है"।

२—"प्राणो वै यजुः। प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते" (शत० १४।८।१४।२।) 'प्राण (नभ्य प्रजापति) ही यजु है, इसी में सम्पूर्ण भूतों (पिण्ड) का योग हो रहा है'।

३—"अथ यन्मनो, यजुष्टत्"–'जो मन (हृद्यभाव) है, वही यजु है'।

४—"सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्"—(तै० ब्रा० ३।१२।६।१।)–'(स्थितिगर्भितगतिलक्षण हृद्य-प्रजापतिरूप) यजु से ही सम्पूर्ण गतिभावों का विकास हुआ है'।

५—"तस्माद्यजूंषि निरुक्तानि सन्त्यनिरुक्तानि" '(अपने इस सर्वमूलभूत हृद्यभाव से (ही) ये यजु (कहने को) निरुक्त बनते हुए भी वस्तुतः अनिरुक्त (हृद्य) ही हैं"।

६—"स यजूंष्येव हिङ्कारमकरोत्" '(उस प्रजापति ने (हृद्य) यजु के आधार पर (यजुरूप से) ही हिंकार (उपक्रम) किया'।

७—"मज्जा यजुः" (शत० ८।१।४।५।)–'अस्थि (पिण्ड) लक्षण ऋक् के गर्भ में प्रविष्ट रहने वाला मज्जालक्षण भाव (हृद्य सारभाग) ही यजु है'।

८—"यजुर्वेदो महः" (शत० १२।३।४।६।)-'अपने हृद्यभाव के वितान से यजुः मह (महिमा) है"।

९—"ऋक्सामे यजुरपीतः" (शत० १०।१।१।१६।) 'ऋक्साम, दोनों यजु में डूबे हुए हैं"।

—*—

१६–छन्दोवेदमयीं सामपरिभाषाएँ—(३)

१—"साम्ना समानयन्। तत् साम्नः सामत्त्वम्" (तै० ब्रा० २।२।८।७।)-'प्रजापति ने साम से (वस्तु का) समानयन (ग्रहण) किया, अतएव यह साम कहलाया'।

२—"यद्वै तत् सा च, अमश्च समवदतां, तत सामाभवत्। तत् साम्नः सामत्त्वम्" (गो०ब्रा० उ० ३।२०।)। "सा (ऋक्–विष्कम्भ), अम (साम–परिणाह) दोनों के मिलने से साम-स्वरूप का प्रादुर्भाव हुआ'।

३—"साम वा ऋचः पतिः" (श० ८।१।३।५।) '(परिणाहात्मक) साम ही ऋक् (विष्कम्भ) का पति (स्वरूपसंग्राहक) है'।

४—"सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्" (तै० ब्रा० ३।१२।९।२।)–'तेजोलक्षण मण्डल (परिणाह) ही साम है'।

५—"महाव्रतं साम्नां समुद्रम्" (शत० ६।५।२।१२।)–'महाव्रतलक्षण परिणाह ही सहस्र सामों का समुद्र (कोश) है'।

६—"साम हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्ता" (शत० ४।४।५।६।)-'सामलक्षण परिणाह ही पिण्ड पर होने वाले बाह्य आक्रमणों से पिण्ड की रक्षा करता है'।

७—"ऋचि साम गीयते" (शत० ८।१।३।३।)--'ऋग्रूप विष्कम्भ के आधार पर परिणाहरूप साम का गान (फैलाव) होता है'।

८—"एतदु वाव साम, यद्वाक्" (जै० उ० ब्रा० २।१५।४।)-'यह वाक् (परिणाहात्मक पिण्ड) ही साम है'।

९—"त्र्यृचं साम" "विष्कम्भलक्षण तीन ऋचाओं से परिणाहलक्षण एक साम बनता है"।

—*—

१७–वस्तु के तीन पर्व—

जिस के लिए 'वस्तु' 'पदार्थ'–'इयं'–'अयं'–'इदं'–'असौ' 'तत्'–'सः' इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उसके "वस्तुतत्त्व–मूर्त्ति–मण्डल" ये तीन पर्व हैं। तीनों की समष्टि के लिए ही 'वस्तु'–'पदार्थ' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ करता है। अणु से अणु, महान् से महान्, किसी भी वस्तु को उदाहरण बना लीजिए, प्रत्येक के साथ आप तीन दृष्टियों का समन्वय प्राप्त करेंगे। इन तीन दृष्टियों में से दृष्ट वस्तु की वस्तुतत्त्वदृष्टि

प्रकृत में यजुर्वेददृष्टि कहलाएगी, मूर्त्तिदृष्टि को ऋग्वेददृष्टि कहा जायगा, एवं मण्डलदृष्टि सामवेददृष्टि मानी जायगी। साथ ही आप यह भी देखेंगे कि, ऋग्वेदमयी मूर्त्तिदृष्टि से सम्बद्ध, एवं सामवेदमयी मण्डलदृष्टि से सम्बद्ध वस्तुगत मूर्त्ति, और मण्डल, दोनों विशुद्ध 'भातिसिद्ध' तत्त्व रहेंगे। न मूर्त्ति ही वस्तुतत्त्व है, न मण्डल ही वस्तुतत्त्व है। गुरुत्व-द्रवत्त्व-कठिनत्व-आकुञ्चनत्त्व-प्रसारणत्त्व-आदि-जितनें भी द्रव्यधर्म्म हैं, उन का इन दोनों से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। मूर्त्ति भी एक प्रकार का आकार है, मण्डल भी एक प्रकार का आकार है। आभ्यन्तर आकार मूर्त्ति है, बाह्य आकार मण्डल है। इन दोनों भातिसिद्ध भावों से सर्वथा भिन्न, किन्तु दोनों से सीमित यजुर्वेदमयी वस्तुतत्त्वदृष्टि से सम्बद्ध वस्तुगत वस्तुतत्त्व सत्तासिद्ध पदार्थ है। गुरुत्वादि धर्म्मों का इसीके साथ सम्बन्ध है। इसीकी मूर्त्ति है,इसीका मण्डल है। यह वस्तुतत्त्व मूर्त्ति-मण्डलाकारों से आकारित है। आकारित यही सत्तासिद्ध पदार्थ अस्तिलक्षण 'रस' है। इसी की रसरूपसे उपलब्धि होती है। अतएव इसे अवश्य ही 'रसवेद' कहा जा सकता है। अपिच वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर मण्डलपरिधि पर्य्यन्त इस का रसन होता है, इसलिए भी इसे रसवेद कहना अन्वर्थ बनता है। मूर्त्तिरूप आकार से पिण्डावच्छिन्न रसवेद छन्दित (सीमित) रहता है। मूर्त्तिलक्षण, छन्दनलक्षण-सीमालक्षण छन्द है। अतएव मूर्त्तिलक्षण ऋग्वेद को अवश्य ही छन्दोवेद माना जा सकता है। मण्डल इसी वस्तु की बाह्य विकासावस्था का आकार है, सीमा है। मण्डलाधार पर ही रस का वितान होता है। किंवा मण्डल ही अपने वितानभाव से रसवितान का कारण बनता है। अतएव मण्डलक्षण सामवेद 'वितादनवेद' नाम से व्यवहृत किया जा सकाता है। पदार्थ से सम्बन्ध रखने वाली इस वेदत्रयी में से प्रकृत में आकारलक्षण, ऋग्रूप, मूर्त्ति-स्वरूप छन्दोवेद का ही निरूपण प्रक्रान्त है। इसीके साथ तीनों वेदों का (जो आकारविशेषमात्र होंगे) समन्वय करना है।

१-वस्तुतत्त्वभावः-सत्तासिद्धपदार्थः-आकारितवस्तु—यजुर्वेदः-रसवेदः	—"पदार्थ"
२-मूर्त्तिः—भातिसिद्धपदार्थः—आभ्यन्तराकारः—ऋग्वेदः—छन्दोवेदः	
३-मण्डलम्—भातिसिद्धपदार्थः—बाह्याकारः——सामवेदः—वितानवेदः	

१८-केन्द्र-व्यास-परिधि-भाव—

त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण, आदि सभी पिण्डों के साथ यद्यपि उक्त त्रयी का समन्वय हो रहा है। तथापि विषयऋजुता की दृष्टि से यहाँ वर्त्तुल-पिण्ड (गोलाकारपिण्ड) को ही उदाहरण बना कर छन्दोवेद का विचार करना सुविधाजनक होगा। वर्त्तुल-वस्तुपिण्ड के यों तो शतशः विभाग मानें जा सकते हैं। परन्तु तत्त्वतः **"हृदय, विष्कम्भ, परिणाह"**, इन तीन विभागों से ही मूर्त्ति का सम्पूर्ण स्वरूप गृहीत हो जाता है। ये तीनों शब्द वैदिक हैं। प्रचलित संस्कृतभाषा में इनके लिए **"केन्द, व्यास, परिधि"** शब्द नियत हैं। इन्हीं तीनों भातिसिद्ध पदार्थों को लक्ष्य में रखते हुए छन्दोवदेत्रयी का विचार अपेक्षित है।

१-हृदयम्—

पहिले क्रमप्राप्त **'हृदय'** का ही विचार कीजिए। सामान्यदृष्टि से विचार करने पर वस्तुपिण्ड की उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म मध्यस्थ बिन्दु को हृदय मान लिया जाता है, जिसके आधार पर विष्कम्भ और परिणाह, दोनों

प्रतिष्ठित रहते हैं। यथार्थ है। अवश्य ही व्यास–परिणाह, दोनों हृदय नाम की सुसूक्ष्म मध्यस्थ बिन्दु पर ही प्रतिष्ठित हैं। परन्तु केवल यही कह देने से हृदय की व्याख्या सुसमन्वित नहीं मानी जा सकती। केन्द्रशक्ति, हृदयबल, आदि शब्दमात्र इसका तात्त्विक स्वरूप व्यक्त करने में असमर्थ हैं। उस मध्य बिन्दु का क्या स्वरूप है ?, क्यों वह सब का आधार बन जाती है ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान एकमात्र वैदिक **'प्राजापत्यविद्या'** पर ही निर्भर है। पहिले हृदय को एक बिन्दु मानते हुए ही विचार कीजिए।

वैदिक विज्ञानने **हृदय, पृषत्, स्तोक, द्रप्स,** भेदसे बिन्दु का चार स्थलों में विभाजन किया है। जिस बिन्दु से फिर कोई सूक्ष्म बिन्दु न हो, सर्वसुसूक्ष्म उसी बिन्दु का नाम **'हृदय'** है। शिक्षणकाल में यद्यपि शिक्षक लेखिनी से एक सुसूक्ष्म बिन्दु बना कर उसे 'हृदय' कह दिया करता है। परन्तु यह शिष्य का शिक्षक के द्वारा उपलालनमात्र है। किसी भी यन्त्र से कैसी भी सूक्ष्म बिन्दु बना लीजिए, उस साकार बिन्दु के गर्भ में अवश्य ही हृदयबिन्दु रहेगी। प्रयत्नसहस्रों से भी उसका आकार-प्रदर्शन असम्भव है। यही इस बिन्दु की अनिरुक्तता, एवं अनिर्वचनीयता है, जिस का हम अपने व्यवहार में स्थूलबिन्दु के समाश्रय से तटस्थलक्षणविधा निर्वचन किया करते है। श्रुति ने–**'प्रजापतिर्वै हृदयम्'**-(शत० १४।८।४।१।)-**'अनिरुक्तो वै प्रजापतिः'** (शत० १।१।१।१३।) इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में प्रजापतिरूप हृदय को अनिरुक्त कहा है। तत्त्वतः है भी ऐसा ही।

दार्शनिकभाषा में इसी 'हृदय' को हम 'प्रकृति' कहेंगे। प्राधानिक शास्त्र ने प्रकृति से ही वैकारिक विश्व की अभिव्यक्ति मानी है। **कृ**ति कार्य्य है। एवं कार्य्य की प्रथमावस्था ही **प्रकृ**ति है। कारण ही कार्य्य की प्रथमावस्था कहलाया है। हृदय ही वस्तुकार्य्य की कारणावस्था है, अतएव हृदय को अवश्य ही **'प्रकृति'** (प्रकृतिः–कृतेः प्रागवस्था, कारणं) कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष में भी हम हृदय को ही कार्य्यरूप पदार्थ की मूलप्रतिष्ठा देखते हैं। जब तक हमारा हृदय (हॉर्ट) ठीक ठीक काम करता रहता है, तब तक शरीरपिण्ड सुव्यवस्थित रहता है। हृच्छक्ति के उत्क्रान्त होते ही सम्पूर्ण कार्य्यविवर्त्त विश्राम कर लेता है।

प्रकृतिलक्षण इसी हृदय को वैदिक अध्यात्मभाषा में **'अन्तर्य्यामी'** कहा गया है। प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला वह तत्त्व, जो वस्तुस्वरूप का यथानुरूप नियन्त्रण करता रहता है, अन्तर्य्यामी है। इस का व्यापार ही नियति-की चर्य्या है। सब अपने अपने नियतिब्रह्म की चर्य्या से आक्रान्त हैं। निष्कर्ष यही हुआ कि, जो सुसूक्ष्म बिन्दु स्वयं निराकार, अनिरुक्त, अनिर्वचनीय रहती हुई स्थूल, साकार, निरुक्त, निर्वचनीय पदार्थों का नियतभाव से सञ्चालन करती है, अन्तर्य्यामी, प्रजापति, प्रकृति, आदि नामों से प्रसिद्ध उसी अव्यवहार्य्य बिन्दु को हृदय कहा जाता है।

वर्षाऋतु में बरसने वाले पानी की सुसूक्ष्म फुहारें ही **'पृषत्'** नाम की बिन्दु है। इन्हीं को **'सीकर'**–**'जलकण'** आदि कहा गया है। वर्षा की सामान्य बिन्दुएँ (जिन्हें लोकभाषा में 'बूँद' कहा जाता है) **'स्तोक'** नाम से प्रसिद्ध हैं। वर्षा की बड़ी बड़ी बिन्दुएँ (जिन्हें लोकभाषा में **'टपका'** कहा जाता है) **'द्रप्स'** नाम से प्रसिद्ध है। विश्वविज्ञान के सफल कवि (महर्षि) अपनी अलङ्कारभाषा में कहा करते हैं कि, 'यह ज्योतिर्घन सूर्य्य उस आपोमय परमेष्ठी प्रजापति का 'द्रप्स' ही है–**'द्रप्सश्चस्कन्द'** (ऋक्सं० १०।१७।११।)। जिस प्रकार भातिसिद्ध एकत्वादि निर्वचनीय संख्याओं की अपेक्षा सत्तासिद्ध एकत्वसंख्या अनिर्वचनीय, तथा

अव्यवहार्य्य है, एवमेव पृषदादि तीनों निर्वचनीय बिन्दुओं की अपेक्षा हृदयबिन्दु भी सर्वथा अनिर्वचनीय, एवं अव्यवहार्य्य ही है।

हृदय की तटस्थ व्याख्याएँ जहाँ यत्र तत्र सर्वत्र तारतम्य से सुनी-सुनाई-जाती हैं, वहाँ इसकी स्वरूप-व्याख्या का श्रेय ऋषिशास्त्र (वेदशास्त्र) को ही मिलना चाहिए। क्योंकि उसी ने हृ-द-य' रूप से हृच्छक्ति का पूरा पूरा विश्लेषण किया है। एक चमत्कार और देखिए। सबकी प्रतिष्ठा हृदय है, किन्तु हृदय की प्रतिष्ठा हृदय ही है। वह अपने आप में ही स्वस्वरूप से स्वमहिमा में प्रतिष्ठित है। यद्यपि यह कथन विरुद्ध-सा प्रतीत होता है। परन्तु जब हम तत्त्व की महिमा का स्वरूप अवगत कर लेते हैं, तो विरोध हट जाता है। **'वाग् वा अस्य (प्रजापतेः) स्वो महिमा'** (शत० ३।४।२।१७।) के अनुसार वाक् ही इस प्रजापति की अपनी महिमा है। वाक् आकाशलक्षण स्थितितत्त्व है। इसके 'अणु-महान्' भेद से दो सोपाधिकरूप बन जाते हैं। हृदय (सर्वसूक्ष्मभाव) इसी का अणोरणीयान् रूप है, महामहिममय बहिर्मण्डल इसी का महतोमहीयान्रूप है। अपनी वाक्साहस्री के वितान के आधार यह अणोरणीयान् ही महतोमहीयान् बन रहा है। व्यवहार में दो रहते हुए भी परमार्थतः दोनों एक हैं, अभिन्न हैं। हृदय ही महिमा है। यही उपनिषदों का हृदयाकाश है, जो कि 'हृदय' का 'यम्' नामक, वाङ्मय, आकाशात्मा 'ब्रह्माक्षर' नाम से उपश्रुत है। **'हृदि-अयं हृदयम्'** का प्रतिष्ठारूप हृदय **"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा"** (शत० ६।१।१।६।) वाला स्थितिलक्षण, वागाकाशमूर्त्ति यही ब्रह्माक्षर है। यही अन्तर्य्यामी का एक पर्व है। यही तुरीय पद है। यही **प्रणवब्रह्म है।**

प्रणवब्रह्मात्मक, आकाशात्मक इस स्थिर ब्रह्मधरातल पर-जिसे कि वेदविज्ञानपरिभाषानुसार हम **'जूः'** (**'अयमेवाकाशो जूः'**-शत० १०।३।५।२।) कहेंगे—तीन सोपाधिकरूप प्रतिष्ठित रहते हैं। पहिला सोपाधिकरूप स्वयं स्थितिलक्षण-ब्रह्माक्षर है, दूसरा सोपाधिकरूप 'गति' तत्त्व है। अर्वाक्-पराक्, भेद से यह गतिभाव ही 'आगति-गति' भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। आगतितत्त्व विष्णवक्षर है, गतितत्त्व इन्द्राक्षर है। स्थितिलक्षण ब्रह्माक्षर अपनी प्रतिष्ठा से दोनों गत्यक्षरों का नियमन करता हुआ 'यम्' है। आगतिलक्षण विष्णु-अक्षर आहरण का अधिष्ठाता बनता हुआ 'हृ' है। गतिलक्षण इन्द्राक्षर खण्डन (विसर्ग) का प्रवर्त्तक बनता हुआ 'द' है। 'हृ-द-यम्' की समष्टि ही **'हृदयम्'** है। यही उस हृदय का सोपाधिकरूप है। प्रत्येक पदार्थ में कार्य्यदृष्टि से **'हृदयम्'** का प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

प्रत्येक पदार्थ स्वस्वरूप से ठहरा हुआ है, स्थित है, प्रतिष्ठित है। यही स्थितिलक्षण ब्रह्माक्षर के बाह्यव्यापार के प्रत्यक्षदर्शन हैं। यदि पदार्थों में यह प्रतिष्ठाधर्म्म न होता, तो पदार्थप्रत्यक्ष ही असम्भव बन जाता। विद्युत् में गतिधर्म्मा इन्द्र के समावेश से क्योंकि प्रतिष्ठा स्वल्प है, अतएव क्षणमात्र में वह स्वप्रभव (आकाशेन्द्र) में विलीन हो जाती है। प्रतिष्ठा के अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थ में गति-आगति धर्म्मों का भी प्रत्यक्ष हो रहा है। परिवर्त्तनरूपा गति ही तो गति है। धारावाहिक स्थिरता ही तो आगति है। इन्द्रगति, विष्णु-आगति, दोनों की प्रतिस्पर्द्धा का पूर्वप्रकरणों में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। एक पुष्प पर दृष्टि डालिए। पुष्प विकसित हो रहा है। यह विकासगति का प्रत्यक्ष है। परन्तु पुष्प की पँखुड़ियाँ पुष्पमूल को छोड़ कर पलायित नहीं हो जातीं। यही संकोचलक्षणा आगति का प्रत्यक्ष है। अस्तु इस विषय का अधिक विस्तार

इसलिए अनपेक्षित है कि, प्रकाशित अन्य ग्रन्थों में, विशेषतः ईशभाष्य के-**'अनेजदेकं मनसो जवीय,'** मन्त्रभाष्य में हृदयाक्षरों का विशद वैज्ञानिक विवेचन किया जा चुका है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही ज्ञातव्य है कि, स्थिति के आधार पर प्रतिष्ठित गतितत्त्व ही हृदयभाव है। आकाशावपन में प्रतिष्ठित यह गतिभाव विरुद्धदिग्द्वयगति, परागगति, अर्वागति, भेद से तीन भागों में विभक्त है। यही गतित्रयी उस स्थित्याकाशलक्षण हृदय में प्रतिष्ठित रहने वाला हृ-द-य है। यही आगे के सम्पूर्ण भूतविवर्त्त का संग्राहक बनता हुआ-'गृह्णाति' इस निर्वचन से 'गर्भ' नाम से प्रसिद्ध है। 'हृदय में हृदय रहता है', जो तात्पर्य्य इस विज्ञानभाषा का है, वही तात्पर्य्य-'गर्भ में प्रजापति विचरता है' इस वाक्य का है। इसीका हम 'गर्भ में गर्भ विचरता है', इस रूप से भी अभिनय कर सकते हैं। **'पुरुष उ गर्भः** (जै० उ० ब्रा० ३।३६।३) इत्यादि वचन पुरुषप्रजापति को भी गर्भ बतला रहा है। **'प्रजापतिश्चरति गर्भे**, का 'गर्भे' शब्द निरुपाधिक स्थित्याकाश का द्योतक है, प्रजापति-शब्द सोपाधिक मूर्तित्रयीलक्षण गति का वाचक है। इसी गतिभाव को स्पष्ट करने के लिए 'चरति' कहा गया है। गति का विरुद्धदिग्द्वयगतिभाग ही 'स्थिति' है, यही 'जू' है। आगति, गति, नामक दोनों पर्व 'यत्' है। 'यत्-जू' की समष्टि ही 'यज्जू' है. यही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'यजुः' है। यही हमारा छन्दोमय यजुर्वेद है। स्थिति-गति, दोनों हीं वस्तुतत्त्व के (अग्नीषोमात्मक वस्तुपिण्ड के) जनक बनते हैं। स्वयं स्थिति-गति तो एक प्रकार के छन्द ही मानें जायँगे। अतएव हृदयरूप यजु को अवश्य ही छन्दोलक्षण यजुर्वेद कहा जायगा। क्योंकि छन्द ऋग्वेद है, इसी में इस यजुर्लक्षण छन्दोवेद का उपभोग हो रहा है, अतएव इसे ऋग्वेदरूप ही माना जायगा। हृदय की उक्त व्याख्या को लक्ष्य में रखते हुए ही पूर्वोद्धृत यजुःसम्बन्धी बचनों का समन्वय कीजिए।

विष्कम्भ और परिणाह, दोनों का यजन (मेल), और स्वरूपसत्ता हृदयबिन्दु के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। हृदय ही व्यास की प्रतिष्ठा है, हृदय ही परिणाह की मूलभित्ति है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, हृदय बिन्दु ही अपने सहस्रभाव से आगे जाकर व्यास बनती है, यही परिणाह बनती है। हृदय-लक्षण प्रजापति सहस्रभावापन्न है। इस साहस्री का परिणाम यह होता है कि, सम्पूर्ण मूर्त्ति हृदय-बिन्दुओं के वितान से ही प्रतिष्ठित है; साधारण दृष्टि के अनुसार एक वस्तुपिण्ड में एक हृदय है। परन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि में हृदयसमष्टि का नाम वस्तुपिण्ड है। अनेक क्षरपरमाणुओं के रासायनिक समन्वय से पिण्ड का निर्म्माण होता हैं। प्रत्येक परमाणु अपना अपना एक स्वतन्त्र हृदय रखता है। प्रत्येक का अपना व्यास, परिणाह पृथक् पृथक् है। व्यास-परिणाहावच्छिन्न अनन्त हृद्बिन्दुओं के एकायतन में समन्वित होने से ही बस्तुपिण्ड का उदय होता है। इसीलिए तो हृदयरूप यजु को 'यजुः' न कह कर 'यजूंषि' कहा जाता है। यजुः एक नहीं, अनन्त हैं, **'यजुषां समुद्रः'** है। अपने गतिभाव के कारण ही यह यजुः प्राण कहलाया है। हृदय में ही मन प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में हृदयावच्छिन्न रसबलात्मक, उभयात्मक तत्त्व ही मन है। अतः यजुः को मन कहना भी अन्वर्थ बनता है। मूर्त्तिपिण्ड स्वयं निरुक्त है। पूर्वकथनानुसार यह हृदयवितान की ही प्रतिकृति है, एवं इसी दृष्टि से यजु को भी निरुक्त कहा जा सकता है। परन्तु तत्त्वतः यह अनिरुक्त ही है। हृदयरूप यजु ही वस्तु का उपक्रम है। उपक्रम ही 'हिङ्कार' है। व्यासात्मक वस्तु-पिण्ड यदि घनभाव के कारण अस्थि है, तो अस्थि का भी सारभूत बना हुआ हृदयरूप यजु अवश्य ही मज्जा है। इसप्रकार पूर्व प्रदर्शित सभी यजुः-परिभाषाओं का हृदयलक्षण, छन्दोमय, यजुर्वेद के साथ समन्वय हो रहा है।

२-विष्कम्भः—

विष्कम्भ को हमनें ऋक् कहा है । यही विष्कम्भ सामान्य भाषा में 'व्यास' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे कि वर्तमान विज्ञान 'डायमिटर' नाम से व्यवहृत किया करता है । कोशकार ने कपाट-मध्य अर्गला को 'विष्कम्भ' कहा है । 'विष्कम्नाति' इसका निर्वचन किया है । अर्गला दोनों कपाटों का ग्रन्थिबन्धन कर देती है, अतएव यह विष्कम्भ है । एवं व्यास शब्द को विस्तारवाचक माना है । विज्ञानदृष्टि से प्रकृत में दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं । मूर्त्तिपिण्ड की अर्गला मध्यस्थ व्यास ही है । व्यास ने ही मूर्त्ति को सीमाभाव से बद्ध कर रक्खा है । अतएव व्यास को विष्कम्भ कहा जाता है । गोलाकार पिण्ड की मध्यरेखारूप विष्कम्भ ही पार्श्ववर्त्ती बिन्दु-द्वय के उत्तरोत्तर-भावी क्रमिक वितान से महिमारूप में वितत होता है, फैलता है, जैसाकि मण्डलात्मक वितानवेदप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है । विस्तार का मूल यही विष्कम्भ बनता है, अतएव इसे व्यास भी कहा जा सकता है *।

मूर्त्ति के स्वरूप निर्म्माण में "आयाम[1] (लम्बाई)-विस्तार[2] (चौड़ाई)-उत्सेध[3] (ऊंचाई)-घनता[4] (मुटाई)" इन चार धर्म्मों का समावेश रहता है । दूसरे शब्दों में जिस पदार्थ में ये चारों धर्म्म रहते हैं, उसी को 'मूर्त्ति' कहा जाता है । इन चारों मूर्त्तिधर्म्मों की मूलप्रतिष्ठा विष्कम्भ ही बनता है । बिना विष्कम्भ के आयामादि की व्यवस्था असम्भव है । स्वयं विष्कम्भ ही इन चार धर्म्मों में परिणत हो कर मूर्त्ति-स्वरूपोद्भव का कारण बनता है । अतएव ये चारों धर्म्म विष्कम्भ के ही रूपान्तर माने जायँगे । क्योंकि विष्कम्भ ही इन चार धर्म्मों में परिणत होकर उस हृद्य-यजुर्म्मूर्त्ति प्रजापति का मूर्त्तिरूप शरीर बनता है । अतएव इस धर्म्मचतुष्टयात्मक विष्कम्भ को उस नभ्यप्रजापति का शरीर माना जा सकता है । हृदयबिन्दुओं की सञ्चिति ही विष्कम्भ है, विष्कम्भ की सञ्चिति ही मूर्त्ति है । जिस प्रकार सामान्यदृष्टि एक वस्तुपिण्ड में एक हृदय मानती है, एवमेव व्यास भी एक ही माना जाता है । परन्तु सहस्रसामण्डलों के वितान का कारण बनता हुआ यह विष्कम्भ भी सहस्रभाव में ही परिणत है । प्रत्येक बिन्दु हृदय है, हृदयानुबन्धिनी प्रत्येक मध्यरेखा विष्कम्भ है । इसप्रकार हृदयाधार पर उत्तरोत्तर सञ्चित विष्कम्भ ही धर्म्मचतुष्टयीरूप से मूर्त्ति बनता है, मण्डल बन जाता है । तभी तो इस विष्कम्भरूप ऋक् को ऋक् न कह कर 'ऋचः' कहा जाता है । यही तो इस ऋक् का समुद्रभाव है । सञ्चितिलक्षण इस अभ्यर्चन (प्रस्ताव-प्रस्तुति) से ही यह विष्कम्भलक्षण प्राजापत्य शरीर "यदभ्यर्चत्-ताऽएवर्चोऽभवन्" इत्यादि निर्वचनानुसार ऋक् कहलाया है । यही ऋक् (विष्कम्भ) पिण्ड-

---

* गोलस्य मध्यरेखा-व्यासः-यथा—

१—व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते खबाणसूर्य्यैः परिधिस्तु सूक्ष्मः ।
द्वाविंशतिघ्ने विहृतेऽथशैलैः स्थूलोऽथवा स्याद्व्यवहारयोग्यः ॥

उदाहरणम्—२-विष्कम्भमानं किल यत्र सप्त तत्र प्रमाणं परिधेः प्रचक्ष्व ।
द्वाविंशतिर्यत् परिधिप्रमाणं तद्व्याससंख्या च सखे ! विचिन्त्य" ।

(लीलावती)

स्वरूपनिष्पत्ति का कारण है। पिण्ड ही भूरात्मक गार्हपत्य है। अतएव **"ऋग्वेदात् गार्हपत्योऽजायत"** कहना अन्वर्थ बन रहा है। वितानवेद से सम्बन्ध रखनें वालीं **'उक्थामद'** नाम की सहस्रमूर्त्तियाँ इस मूलवस्तुपिण्डरूप ऋक् से समतुलित हैं, अतएव **'ऋक्सम्मिता वा इमे लोकाः'** कहना चरितार्थ हो रहा है। वितानात्मिका ऋचाएँ 'उक्थ' हैं, उन सबका मूल पिण्डात्मिका महाऋक् है। अतएव इसे 'महदुक्थ' कहना अन्वर्थ बनता है। जिस प्रकार हड्डियों के आधार पर शरीर प्रतिष्ठित रहता है, एवमेव विष्कम्भरूप **ऋक्** के आधार पर ही मूर्त्तिस्वरूप प्रतिष्ठित है। अतएव **'अस्थि वा ऋक्'** कहने में भी कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। यही क्यों, हमारी अध्यात्मसंस्था में छन्दोलक्षण ऋक् ही हड्डी बनता है, छन्दोलक्षण यजु ही मज्जा बनता है। श्रुति का मज्जा, एवं अस्थि को यजुः--ऋक् कहना केवल दृष्टान्तविधि नहीं है, अपितु सत्य-अभिनय है। वक्तव्यांश प्रकृत में यही है कि, हृदय को अपने मूल में प्रतिष्ठित रखने वाला धर्म्मचतुष्टयीलक्षण विष्कम्भ (व्यास) ही छन्दोमय ऋग्वेद है।

३–परिणाह—

परिणाह को 'साम' नाम से व्यवहृत किया गया है। यही परिणाह सामान्य भाषा में 'परिधि' कहलाया है। वर्त्तमान विज्ञान इसी को 'सर्कम्फ्रेंस' कहता है। वस्तुपिण्ड का चारों ओर का घेरा ही परिणाह है। इससे वस्तुपिण्ड चारों ओर से नद्ध रहता है, बद्ध रहता है, सीमित रहता है, छन्दित रहता है, अतएव इस पिण्डसीमा को 'परिणाह A' कहना अन्वर्थ बन रहा है। परितः व्याप्त रहने कारण ही यह **'परिवेष*'** नाम से भी प्रसिद्ध है! यही परिवेष सुप्रसिद्ध छन्दोमय सामवेद है, जिसके (पिण्डसीमापेक्षया) अनेक निर्वचन किए जा सकते हैं।

वस्तुपिण्ड का ग्रहण इस बाह्य सीमालक्षण परिणाह से ही होता है। दूसरे शब्दों में वस्तु-समानयन का आधार परिणाह ही बनता है, अतएव 'समानयन्' निर्वचन से भी इसे साम कहा जा सकता है। विष्कम्भ ऋक् है, परिणाह साम है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, पति (पुरुष) अग्निप्रधान है, पत्नी (स्त्री) सोमप्रधाना है। अग्नि सत्य बनता हुआ 'स-ति-यम्' है, त्र्यक्षरमूर्त्ति है। ऋत सोम अन्नात्मक एकाक्षर है। सोम की अपेक्षा अग्निबल त्रिगुणित है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि, अग्निमय पुरुष सौम्या स्त्री की अपेक्षा (बलत्त्वेन) त्रिगुणित है। पुरुष बलवान् है, स्त्री अन्नभावात्मकत्त्वेन अबला है÷।

A **अरत्नीनां सहस्रञ्च शतानि दश पञ्च च।**
परिणाहस्तु वृक्षस्य फलानां रसभेदिनाम्" (महाभारत) **'परिणह्यते–अनेन"।**

***"परिवेषस्तु परिधिरूपसूर्य्यकमण्डले"** (अमरः १।४।३२।)।

÷ इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य' चतुर्थवर्ष के **'पत्नीसन्नहन-विज्ञान'** नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

यह एक विज्ञानसम्मत सिद्धान्त है कि, ज्यामिति (ज्यामेट्री) के अनुसार प्रत्येक वृत्त व्यास से त्रिगुणित होता है। किसी भी वृत्त के व्यास को एक ओर उद्धृत कर लीजिए, परिधि को एक ओर। यदि परिधिमण्डल की रेखा से व्यासरेखा का समतुलन किया जायगा, तो वह तृतीयांश निकलेगी। यदि व्यास रेखा से परिधिरेखा का समतुलन किया जायगा, तो परिधि व्यास की अपेक्षा त्रिगुणित होगी। इसके साथ ही एक रहस्य और है। परिधि व्यास से तिगुनी ही नहीं होती। अपितु तिगुनी से कुछ अधिक होती है।

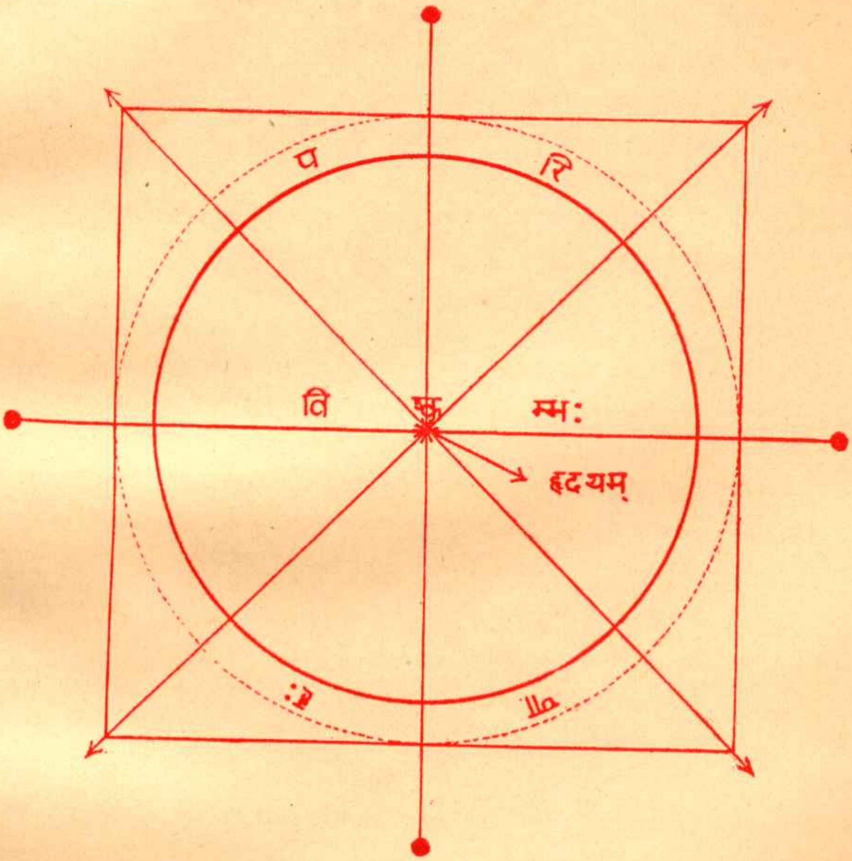
इस आधिक्य का कारण ?। विज्ञानशास्त्र उत्तर देता है कि, यदि वस्तुपिण्ड पर ही वस्तुस्वरूप का अवसान हो जाता, तब तो अवश्य ही परिधि व्यासापेक्षया ठीक त्रिगुणित ही होती। परन्तु (जैसाकि वितान-वेदप्रकरण में बतलाया जाने वाला है) वस्तुस्वरूप का विश्राम पिण्ड पर ही नहीं हो जाता। अपितु पिण्ड से बाहर बहिर्म्मण्डलरूप से इसी वस्तुलक्षण भूतपिण्ड का प्राणरूप से वितान होता है। आश्चर्य्य तो यह है कि, जिस वस्तुपिण्ड के लिए-'अहं जानामि, पश्यामि' प्रयोग होते हैं, वस्तुतः वह वस्तुमण्डल है। वस्तुपिण्ड स्पृश्य है, हम इसे छू भर सकते हैं, देख नहीं सकते। देखते हैं दृश्यमण्डलात्मक बहिःप्राण को। प्राणमण्डल ही हमारी दृष्टि का विषय बनता है। **"सर्वं वै अनिरुक्तम्"** इस निगम सिद्धान्त का यही मौलिक रहस्य है। विश्व का कोई भी पदार्थ हम नहीं देख सकते, किसी पदार्थ का तद्रूप से निर्वचन नहीं कर सकते। जो वस्तु इन्द्रियों के द्वारा संस्काररूप से हमारे प्रज्ञानधरातल में आ जाती है, उसी का वाणी से निर्वचन होता है। वस्तुपिण्ड में केवल त्वगिन्द्रिय को छोड़ कर अन्य इन्द्रियों की गति अवरुद्ध है। वस्तु-महिमा ही संस्काररूप से प्रज्ञान में प्रतिष्ठित होती है। इसे ही हम देखते हैं। जिसे देखते हैं, उसी का निर्वचन करते हैं। पिण्डापेक्षया वस्तुमात्र अनिरुक्त है। कहना यही है कि, वस्तुपिण्ड से आगे भी वस्तु-भाव विद्यमान है। हृदयप्रजापति के इस बहिर्वितान के कारण ही विष्कम्भ के वितानरूप परिणाह के पूरे तीन विवर्त्त न होकर कुछ अधिक भाग रहता है। यह आधिक्य ही उत्तर-वितान का कारण बनता है।

वेदज्ञ विद्वानों को विदित है कि, तीन ऋङ्मन्त्रों का एक साममन्त्र होता है। इस 'वेदन' का तात्पर्य्य यही है कि, जितने समय में एक ऋङ्मन्त्र का उच्चारण होता है, उसी ऋङ्मन्त्र को यदि तिगुना समय लगा कर बोला जाता है, तो वही ऋङ्मन्त्र साममन्त्र कहलाने लगता है। इसी आधार पर साम का-'**त्यृचं साम**' (तीन ऋचा का एक साम) यह लक्षण किया जाता है। ठीक यही बात तत्त्वात्मक ऋक्-साम के सम्बन्ध में समझिए। तत्त्वप्रकरण में व्यास ही ऋक् है, परिणाह ही साम है। जितने प्रदेश में वस्तुपिण्ड की व्यासरेखा प्रतिष्ठित रहती है, उसे से तिगुने प्रदेश में परिणाहरेखा प्रतिष्ठित होगी। यही त्रिगुणभाव साम का पुरुषभाव है, एवं तृतीयांशभाव ऋक् का स्त्रीभाव है। एकमात्र इसी आयामभाव को प्रधान मान कर श्रुति का-**"साम वा ऋचः पतिः"** यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। क्योंकि तत्त्वात्मक ऋक्-साम में 'त्यृचं साम' यह नियम है, अतएव शब्दात्मक ऋक्-साममन्त्रों की उच्चारण-व्यवस्था में भी-**'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'** इस नियम का अनुगमन किया जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि-परिणाहात्मक साम अपने विष्कम्भरूप ऋक की अपेक्षा त्रिगुणित होता है, जिसका प्रकार परिलेख से स्पष्ट है।

विष्कम्भ ही त्रिगुणित बन कर परिणाह बना है, यही रहस्य सूचित करने के लिए ऋषि ने साम शब्द का-**'सा च, अमश्च समवदतां, तत् सामाभवत्'** यह निर्वचन किया है। साम शब्द के 'सा-अम' दो

(३१४, तथा ३१५ के मध्य में)

(७)—विष्कम्भ (व्यास) भावानुगतस्त्रिगुणितपरिणाहमण्डलपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

विभाग है। 'सा' विष्कम्भलक्षण ऋक् का वाचक है। 'अम' परिणाहलक्षण साम का वाचक है। 'समित्येकीभावे' के अनुसार 'अम' समन्वयभाव का सूचक है। 'सा' लक्षण ऋक् ही 'अम'लक्षण साम के साथ एकीभाव को प्राप्त कर सामरूप में परिणत हो रही है। इस कथन का तात्पर्य्य यही है कि, 'सा' ही त्रिगुणित बन कर उस त्रिगुणितभाव में आत्मसमर्पण कर साम बन रही है। परिणाहात्मक साम का यही संक्षिप्त स्वरूप-प्रदर्शन है। ऋक् ही साम बना है, इसी आधार पर ऋक् को कहीं कहीं साम कह दिया गया है—(देखिए बृहद्देवता············)।

१९–हृदय-विष्कम्भ-परिणाह, और वेदत्रयी—

छन्दोवेदलक्षणा मूर्त्ति (वस्तुपिण्ड) के 'हृदय–व्यास–परिधि' ये तीनों भाव ही क्रमशः 'यजुः–ऋक्–साम' तीन वेद हैं। तीनों ही वयोनाधात्मक हैं, आयतनरूप हैं, सीमालक्षण हैं, छन्दोमय हैं। एवं छन्द को ही ऋक् कहा जाता है, अतएव इस वेदत्रयी को हम 'ऋग्वेदत्रयी' कह सकते हैं। यही छन्दोलक्षण ऋग्वेद में तीनों वेदों का उपभोग है। यही आगे की रसलक्षणा यजुर्वेदत्रयी, एवं वितानलक्षणा सामवेदत्रयी की प्रतिष्ठा बनती है। मूर्त्ति के आधार पर ही वस्तुतत्त्वलक्षण रसात्मक यजुर्वेद प्रतिष्ठित है, एवं मूर्त्ति के आधार पर ही वस्तुमण्डललक्षण वितानात्मक सामवेद प्रतिष्ठित है। इसी सर्वप्रतिष्ठा की दृष्टि से प्रकृत में इसे पहिला स्थान मिला है।

तदित्थं-हृदय-विष्कम्भ-परिणाह-भेदेन छन्दोमये ऋग्वेदे वेदत्रयोपभोगः—

ऋक्–१–हृदयम्–{ यजुः–यजूंषि–{ पुरुषः (यजुषां समुद्रः)। }
ऋक्–२–विष्कम्भः–{ ऋक्–ऋचः–{ महदुक्थम् (ऋचां समुद्रः)। } { छन्दोवेदत्रयी-'ऋग्वेदः'
ऋक्–३–परिणाहः–{ साम–सामानि{ महाव्रतम् (साम्नां समुद्रः)। }

२०–'साम' लक्षण वितानवेदोपक्रम—

जिस प्रकार वेदशास्त्र में स्वयं वेदपदार्थ एक दुरूह विषय है, तथैव वेदपदार्थ में सहस्रमहिमामय 'सामवेद' एक जटिल समस्या है। पिण्डावच्छिन्न ऋग्वेद भी सुबोध्य है, तदवच्छिन्न यजुर्वेद भी उतना जटिल नहीं है। किन्तु महिमामय सामवेद अपने महिमाभाव से सचमुच एक क्लिष्ट पदार्थ बन रहा है। **"वेदानां सामवेदोऽस्मि"** इस भगद्वाक्य से जहाँ इसे अन्य वेदों की अपेक्षा गौरव मिल रहा है, वहाँ ९ भागों में विभक्त अथर्व, २१ भागों में विभक्त ऋक्, १०१ भागों में विभक्त यजुः की अपेक्षा १००० भागों में विभक्त रहने से भी यह प्रजापति की वास्तविक विभूति बन रहा है। ब्राह्मणग्रन्थों में विषय-दुरूहता की दृष्टि से जो स्थान सामवेदीय ताण्ड्यमहाब्राह्मण का है, वह विषयदुरूहता इतर ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं है। महाविज्ञान-सापेक्ष इस मण्डलात्मक साम का, साम के अवान्तर सहस्र मण्डलों का दिग्दर्शन कराना भी प्रकृत में असम्भव है। इसके लिए तो स्वतन्त्ररूप से गम्भीर अध्ययन ही अपेक्षित है। साथ ही हम स्वयं भी इस विषय में पूर्ण तो क्या, आंशिक परिचय भी नहीं रखते। अपनी स्थूलतमा बुद्धि से जैसा कुछ अस्तव्यस्त जान पाया है, सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से उसी का दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है।

मूर्त्ति की परिभाषा करते हुए पूर्व में यह स्पष्ट किया गया है कि, मूर्च्छित, सोमगर्भित, अग्निपिण्ड का ही नाम मूर्त्ति है, जिसके केन्द्र–व्यास–परिधि–नामक तीन छन्द होते हैं। इसी प्रकार 'मण्डल' की भी कोई परिभाषा होनी चाहिए। जिसे मूर्त्ति (पिण्ड) कहा जाता है, उसी के आगे जाकर 'मूर्त्ति'–'महिमा' भेद से दो रूप हो जाते हैं। स्पृश्यपिण्ड मूर्त्ति है, दृश्यपिण्ड महिमा है। दृश्यपिण्ड में मूर्च्छावृत्ति का अभाव है, अतएव इसे मूर्त्ति न कह कर 'महिमा' कहा गया है। मूर्त्ति का भी एक चारों ओर का मण्डल होता है, महिमापिण्ड भी अवश्य ही बहिर्मण्डल से युक्त रहता है। मूर्त्ति का चारों ओर का घेरा मूर्त्तिमण्डल है, महिमा का चारों ओर का घेरा महिमामण्डल है। मूर्त्तिमण्डल भी परिणाह है, महिमामण्डल भी परिणाह है। इन दोनों के व्यावहारिक बोधसौकर्य्य के लिए मूर्त्तिमण्डल को परिणाह शब्द से व्यवहृत किया जाता है, महिमा–मण्डल 'मण्डल' नाम से ही व्यवहृत होता है। इन दोनों के लिए वैदिक संकेतभाषा में 'पदं–पुनःपदं' शब्द नियत हैं। पद अन्तःपृष्ठ है, परिणाह है। पुनःपद बहिःपृष्ठ है, मण्डल है। अन्तःपृष्ठात्मक परिणाह छन्दोलक्षण साम है, बहिःपृष्ठात्मक मण्डल वितानलक्षण सामवेद है, जिसके अवान्तर तीन विभाग हो जाते हैं।

२१–मूर्त्ति का मण्डलरूप में वितान—

अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि, मूर्त्ति मण्डलरूप में परिणत कैसे हो गई ?, इसके एकसहस्र भेद कैसे हो गए ?, एवं यह मण्डल हमारे दृश्य जगत् की वस्तु कैसे बनता है ?। इन प्रश्नों के समाधान के लिए निम्नलिखित वाजिश्रुति की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

१—"यजुषा ह वै देवा अग्ने यज्ञं तेनिरे, अथर्चा, अथ साम्ना। तदिदमप्येतर्हि यजुषैवाग्रे यज्ञं तन्वते, अथर्चा, अथ साम्ना। यजो ह वै नामैतत्—'यजु' रिति"।

२—"यत्र वै देवा इमा विद्याः कामान् दुदुहे, तद्ध यजुर्विद्यैव भूयिष्ठान् कामान् दुदुहे। सा निर्धीतमेवास। सा नेतरे (ऋक्साम) विद्ये प्रत्यास, नान्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रत्यास"।

३—"ते देवा अकामयन्त–कथं न्वियं विद्येतरे विद्ये स्यात्, कथमन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रतिस्यात्-इति। ते होचुः–'उपांश्वेव यजुर्भिश्चरामः। तत एषा विद्येतरे विद्ये प्रतिभविष्यति, ततोऽन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रति–भविष्यति' इति"।

४—"तैरुपांश्वचरन्–आप्याययन्नेवैतानि तत्। तत एषा विद्येतरे विद्ये प्रत्या–सीत्। ततोऽन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रत्यासीत्। तस्माद्यजूंषि निरुक्तानि सन्ति–अनिरुक्तानि। तस्मादयमन्तरिक्षलोको निरुक्तः सन्ननिरुक्तः"।

(शत० ब्रा० ४।६।७।१३,१७,)।

१– "देवताओं नें पहिले पहिले यजु से ही यज्ञ का वितान किया, अनन्तर ऋक् से, अनन्तर साम से (यज्ञवितान किया)। वैसा ही आज भी (इस मनुष्यकृत वैध यज्ञ में यज्ञसम्पादक ऋत्विज) पहिले पहिल यजु से ही यज्ञ का वितान करते हैं, अनन्तर ऋक् से, ऋगनन्तर साम से (यज्ञवितान करते हैं)। (ऋक्-साम का संगमन कराने के कारण) 'यज' (नाम से प्रसिद्ध तत्त्व ही देवताओं की परोक्षभाषा में) 'यजु' नाम से प्रतिद्ध है।" २–"जहाँ प्रतिष्ठाधरातल के आधार पर देवताओं के लिए (यजुः-ऋक्-साम नाम की तीन) विद्याओं नें कामनाओं (अभीप्सित फलों) का दोहन किया। उस दोहन प्रक्रिया में देवताओं के लिए यजु-र्विद्या ने ही सबसे अधिक कामनाओं का दोहन किया। (परिणाम यह हुआ कि, अत्यधिक कामदोहन से) वह यजुर्विद्या निस्सार ही बन गई। फलतः यजुर्विद्या ऋक्-साम नाम की इतर दोनों विद्याओं की (भी) अनुगामिनी न बन सकी, अन्तरिक्षलोक, एवं इतर दोनों लोकों की (भी) अनुगामिनी न बन सकी"। ३– "देवताओं नें संकल्पात्मक विचार किया कि, किस उपाय से इस निर्धीतरसा यजुर्विद्या को इतर विद्याओं की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा किया जाय, एवं कैसे इसे अन्तरिक्षलोकात्मक दोनों लोकों का अनुगामी बनाया जाय। अन्त में यह निर्णय किया कि–"अपन यजु का उपांशु (गुप्त) रूप से ही प्रचार (वितान) करें। इसी से यह यजुर्विद्या दोनों विद्याओं, एवं दोनों लोकों की प्रतिस्पर्द्धा में ठहर सकेगी"। ४–देवताओं नें यजुओं का आप्यायन करते हुए उपांशु ही इनका प्रचार किया। फलतः यह विद्या भी दोनों विद्याओं की, तथा दोनों लोकों की प्रतिस्पर्धा में ठहर गई। इसीलिए (उपांशुभाव से ही) ये यजु निरुक्त रहते हुए भी अनिरुक्त हैं। अतएव (यजुर्म्मय) अन्तरिक्षलोक निरुक्त होता हुआ भी अनिरुक्त है"।

उक्त अक्षरार्थ के तात्त्विक बोध के लिए पूर्वप्रतिपादित छन्दोवेद की ओर ही पाठकों का ध्यान आक-र्षित किया जाता है। हृदय की स्वरूपव्याख्या करते हुए यह बतलाया गया है कि, स्थितिलक्षण हृदयाकाश में प्रतिष्ठित ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्राक्षरमूर्त्ति, स्थिति-गत्यात्मक, प्रकृति नामक तत्त्व का ही नाम हृदय है। यह हृदय ही स्थितिभाव से जू, गतिभाव से यत् बनता हुआ यजुः है, यही यजुर्विद्या है। विष्कम्भात्मिका ऋक्, तथा परिणाहात्मक साम ही इतर दोनों ऋक्-सामविद्या हैं। इन तीनों विद्याओं से ही उस त्रिदेवव्यापार से सृष्टि का निर्म्माण हुआ है। इस निर्म्माण प्रक्रिया में यजुम्मूर्त्ति हृदय की मात्रा ही अतिशयरूप से सृष्टिप्रक्रिया में खर्च होती है। स्वयं विष्कम्भ (ऋक्) भी हृदय (यजु) का ही विस्तार है, विष्कम्भविस्तारात्मक परिणाह (साम) भी परम्परया इसी यजु की महिमा है। पहिले पहिल हृदय से ही वस्तुनिर्म्माणप्रक्रिया का आरम्भ होता है, जैसाकि, **'हन्मूलासृष्टिविद्या'** को प्रधानता देने वाले महर्षि हिरण्यगर्भ की **'हिरण्यगर्भविद्या*'** में (अन्यत्र) विस्तार से निरूपित है। हृदयलक्षण यजु के व्यापार का दूसरा फल विष्कम्भलक्षण ऋक् है, तीसरा परिणाम परिणाहलक्षण साम है। प्रत्येक मूर्त्तिसृष्टि में हृदय-(यजु)-विष्कम्भ (ऋक्) परिणाह (साम), यही सहज क्रमधारा रहती है। इस सहज क्रमधारा से हृद्या देवत्रयी की कामना पूरी हो जाती है, मूर्त्ति का उदय हो जाता है। परन्तु हृदयमात्रा विलीन हो जाती है। विलीन हो जाने का तात्पर्य्य यही है कि, मूर्त्ति का परि-णाहरूप बाह्य आकार, तथा विष्कम्भरूप आयाम-विस्तार-उत्सेध-घनता-धर्म्मों की जैसी अभिव्यक्ति रहती है, हृदयरूप यजु इस अभिव्यक्ति से तब भी वञ्चित रह जाता है, जबकि दोनों विद्याएँ इसी का उप-बृंहणमात्र है।

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन **'मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य'** में देखना चाहिए।

यह तो हुई मूर्त्तिलक्षण छन्दोवेद की गाथा। अब उस वितानवेद का विचार कीजिए, जिसमें अन्तरिक्ष, द्यु, नामक दो लोक और प्रतिष्ठित हैं, एवं जिसका भूलोक स्वयं मूर्त्तिपिण्ड है। वितानवेद में प्रत्यक्ष में यद्यपि ऋक्-साम का ही साम्राज्य उपलब्ध हो रहा है। परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि, मूल में प्रतिष्ठित हृदयरूप यजु ही अपने साहस्रीभाव से उपांशुरूप से महिमामण्डल की परिधि पर्य्यन्त व्याप्त रहता हुआ दोनों की प्रतिष्ठा बन रहा है, दोनों की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा हुआ है।

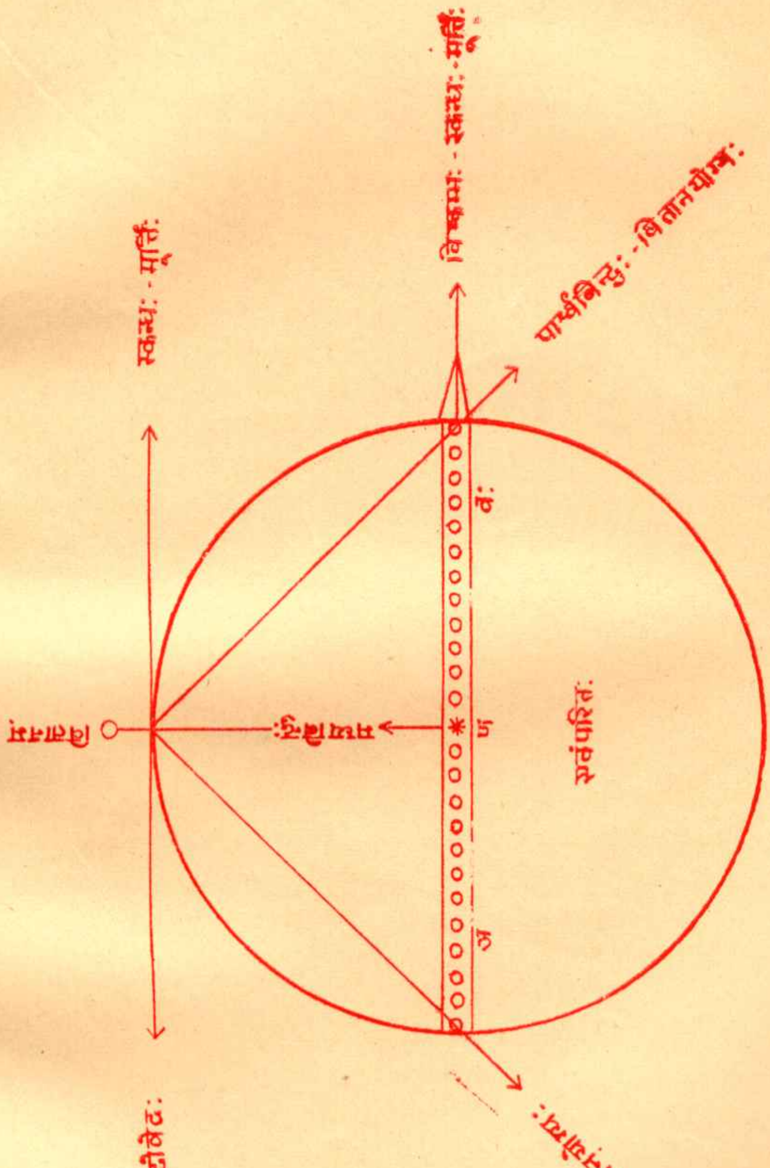
२२–प्रजापति की सहस्रायु—

'सहस्र' भाव क्या वस्तु है ?, इस अवान्तर प्रश्न के सम्बन्ध में प्रकृत में विशेष नहीं कहा जा सकता। **'प्राजापत्यवेदमहिमा'** प्रकरण में **'सहस्रायुर्जज्ञे'** इत्यादि अवान्तर प्रकरण में सहस्र शब्द की व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, मूल में प्रतिष्ठित हृद्य देवताओं के प्राणगर्भित वाङ्मय अग्निहोत्र से उत्पन्न 'गौ' नामक सहस्र तत्त्व ही वेदसाहस्री का जनक बनता है। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में देवत्रयी से सम्बद्ध सहस्र गौतत्त्व बीजरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं। इन्हीं का आगे जाकर सहस्र मण्डलरूप से वितान होता है। यही वितानमण्डल साममण्डल नाम से व्यवहृत हुआ है। एक सर्षप (सरसों)में भी यह साहस्रीमण्डल विद्यमान है, महाविश्व भी इस मण्डल से युक्त है, जो कि साहस्रीमण्डल विज्ञानभाषा में **"वैश्वरूप्य"** नाम सें प्रसिद्ध है। **"अणोरणीयान्, महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्"** में प्रतिपादित अणो० महतो० आत्मा त्रिदेवमूर्त्ति हृदयावच्छिन्न यजु ही है। यही उपक्रम में अणोरणीयान् है, उपसंहार में यही महतोमहीयान् है। इसप्रकार हृदयबिन्दु के व्यास द्वारा होने वाले सहस्र-गौ-वितान से वही मूर्त्ति मण्डलरूप में परिणत हो जाती है। मूर्त्ति मण्डलरूप में परिणत कैसे हो गई ?, किंवा छन्दोवेद वितानवेद में कैसे परिणत हो गया ?, इत्यादि प्रश्नों का यही संक्षिप्त समाधान है, एव समाधान का मूलमन्त्र है एकमात्र हृदयलक्षण यजुः-**'बहुधा विजायते, तस्मिन्ह तस्थौ भुवनानि विश्वा"**।

दूसरी दृष्टि से मूर्त्ति, और मण्डल के सम्बन्ध की मीमांसा कीजिए। जिस प्रजापति के आधार पर वितानवेद का विकास होता है, उसे ही पूर्व परिच्छेदों में हमनें **'सत्यप्रजापति'** कहा है, एवं इसके वहाँ **'नभ्य–उद्गीथ–सर्व'** भेद से तीन विवर्त्त बतलाए हैं। प्रकृत में नभ्यप्रजापति को हम **'अनिरुक्त'** प्रजापति कहेंगे, उद्गीथ को **'निरुक्तानिरुक्त'** प्रजापति कहेंगे, एवं सर्वप्रजापति को **'निरुक्तप्रजापति'** कहेंगे। सत्यप्रजापति के इस त्रित्व से प्रत्येक पदार्थ में **'नाभिबिन्दु, मूर्त्तिपृष्ठ, बहिःपृष्ठ'** ये तीन भाव हो जाते हैं। मूर्त्तिपृष्ठ (वस्तुपिण्ड) का केन्द्र नाभिबिन्दु बनता है, बहिःपृष्ठ का केन्द्र उद्गीथप्रजापति बनता है। नाभिबिन्दु उसी प्रजापति का प्रथमान्त (पहिला अवसान, पहिली व्याप्ति) है, मूर्त्तिपिण्ड इसी का द्वितीयान्त है, बहिःपृष्ठ इसी का तृतीयान्त है। इस बहिःपृष्ठ में '९–१५–२१–३३–४८' ये पाँच अवान्तर पृष्ठ प्रतिष्ठित रहते हैं, जिनका प्रथम प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इन तीनों पृष्ठों का मूलाधार क्योंकि हृदयबिन्दु है, अतएव इसे 'नभ्य' कहना अन्वर्थ बनता है। जैसाकि छन्दोवेदपरिच्छेद में बताया जा चुका है, शून्य बिन्दु ही केन्द्रबिन्दु है। इसमें आयाम–विस्तारादि बाह्य धर्म्म नहीं है। यह त्रिदेवमूर्त्तिमयी एक निराकारशक्ति है, प्रदेश का यहाँ अत्यन्ताभाव है। दिग्–काल की गति यहाँ अवरुद्ध है। यही हृद्य–बिन्दु वस्तुभार की तुला (तराजू) है।–**'तत्प्रतिष्ठायां तद्वस्तुप्रतिष्ठा, तदप्रतिष्ठायां तद्वस्तूच्छेदः"**।

(३१८, तथा ३१९ के मध्य में)

(९)–अणु–स्कन्ध–प्रतिकृतिप्रदर्शनात्मकः परिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

सर्वाधार, स्वयं पराधारापेक्षया निराधार वह हृद्बिन्दु ही छन्दोवेद की प्रतिष्ठा बनती हुई अपने अनिरुक्त (उपांश) रूप से वितानभाव में परिणत होती है ।

२३–प्रजापति के अणु–स्कंधभाव—

अविग्रहात्मा (निराकार) ब्रह्म की चर्चा को सर्वथा अविज्ञेय मानते हुए जब हम विग्रहात्मा प्रजापति के दर्शन करने आगे बढ़ते हैं, तो वहाँ हमें 'आत्मा–प्राण–पशु' नामक तीन पर्वों की उपलब्धि होती है, जिस प्राजापत्य पर्वका कि पूर्वपरिच्छेदों में **"मनोमय आत्मा, प्राणमयः प्राणः, वाङ्मयाः पशवः"** इत्यादिरूप से विस्तार से निरूपण किया जा चुका है । मनःप्राणवाङ्मय सविग्रहात्माप्रजापति ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूप, हृद्या प्रकृति का समन्वय प्राप्त कर तदभिन्न बनता हुआ ही सृष्टिनिर्म्माण में प्रवृत्त होता है । सृष्टिनिर्म्माता इस प्रजापति से **'अणु, स्कन्ध'** भेद से दो प्रकार की सृष्टियाँ होतीं हैं । परमाणु को हम यहाँ अणु कहेंगे, एवं जिन अनन्त परमाणुओं के समन्वय से स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसे हम **'स्कन्ध'** कहेंगे । दूसरे शब्दों में स्थूलपिण्ड उसी प्रजापति की स्कन्धसृष्टि कहलाएगी, एवं सुसूक्ष्म परमाणु उसी की अणुसृष्टि मानी जायगी । इन दोनों सृष्टियों का मूलाधार प्रजापति नभ्यबिन्दु (हृदय) लक्षण कहा जायगा । क्योंकि इसी से अणु का, एवं अणु द्वारा स्कन्ध का विकास होता है ।

पदार्थ साधारण की चर्चा थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए । सूर्य्य–पृथिवी पिण्ड को उदाहरण बना–इए । एवं इन्हीं में वितानवेद के स्वरूप का साक्षात्कार कीजिए । भूपिण्ड–पिण्ड है, मूर्त्ति है । इसमें अवश्य ही एक विष्कम्भ होगा, विष्कम्भ का मूलाधार अवश्य ही (विष्कम्भमध्यस्थ) हृदय होगा । इस हृदय से दोनों ओर वितत व्यास का क्या स्वरूप है ?, यदि यह प्रश्न किया जायगा, तो उत्तर होगा–'अणुसंघात' । अनेक अणुओं के समन्वय का ही नाम एक व्यास है । ऐसे अनेक व्यासों के समन्वितरूप का ही नाम एक स्कन्ध है, यही एक वस्तुपिण्ड है । वस्तुपिण्ड को छोड़ते हुए विशुद्ध विष्कम्भ पर दृष्टि डालिए ।

२४–सहस्र के सहस्रधा महिमानः सहस्रवितान—

"सम्पूर्ण मूर्त्तिपिण्ड अनेक व्यासों की राशिमात्र है, प्रत्येक व्यास अनेक अणुओं का संघात है, प्रत्येक अणु अपना अपना एक स्वतन्त्र केन्द्र रखता है । केन्द्रबिन्दु ही अणु की जननी है, अणु ही व्यास के जनक हैं, एवं व्यास ही स्कन्धात्मक मूर्त्तिपिण्ड के आविर्भावक हैं" यह सिद्धान्त विज्ञानसिद्धान्त से कुछ विरुद्ध सा प्रतीत हो रहा है । क्योंकि विज्ञानसम्मत पक्ष यही है कि, एक वस्तुपिण्ड में अणु चाहे कितने हीं हों, परन्तु केन्द्र और व्यास एक एक ही होता है । विज्ञान के इस सिद्धान्त का प्रतिवाद तो इसलिए नहीं किया जा सकता कि, वस्तुतः केन्द्र एक ही है, तदनुबन्धी विश्कम्भ भी एक ही है । साथ ही समर्थन इसलिए नही किया जा सकता कि, महिमारूप से एक ही मूर्त्ति में केन्द्र भी असंख्य हैं, तदनुबन्धी व्यास भी असंख्य हैं, फलतः मूर्त्तियाँ भी असंख्य हैं, यही हृदययजुर्म्मय नभ्यप्रजापति का सहस्रधा महिमानः सहस्र वितान है ।

मान लीजिए सूर्य्यकेन्द्र से सहस्र रश्मियाँ निकल कर इतस्ततः भचक्र में व्याप्त हो रहीं हैं । भचक्र वायु से आसमन्तात् पूर्ण है । वायुतत्त्व भार्गव (सौम्य) बनता हुआ एक वीध्र पदार्थ है । वीध्र पदार्थ रश्मि–ग्राहक बनने के साथ ही उसका परावर्त्तक भी बन जाया करता है । दर्पण पर प्रतिविम्बित एक रश्मिसे सूर्य्य–

बिम्ब बना। वीध्र दर्पण ने रश्मिको वापस फैंका। यहाँ एक नया रश्मिमण्डल बन गया। इसीप्रकार प्रतिफलित रश्मियों को अन्य वीध्र पदार्थों का सहयोग प्रदान करते जाइए, एक से सहस्र, सहस्र से सहस्रों रश्मियों का वितान हो जायगा। ठीक इसी नियम के अनुसार वीध्र वायुधरातल से (जिस वायु में–'त्वमा-तन्थोर्वन्तरिक्षम्'–(ऋक्संहिता–वाला दिक्सोम व्याप्त है) उन रश्मियों का सम्बन्ध होता है। परिणामतः रश्मि से रश्मि, पुनः इस से अन्य रश्मि, इस क्रम से वे सहस्ररश्मियाँ अनन्त सहस्रों में विभक्त हो जाती हैं। जहाँतक सौरी–ब्रह्मवाक् की व्याप्ति है, जो सौरपरिधि 'लोकालोक' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे वैज्ञानिक 'हिरण्मयमण्डल' कहा करते हैं, जिसके स्वरूपावच्छेदक रोदसीत्रिलोकीरूप द्यावापृथिवी हैं, वहाँ तक अपने अनन्त सहस्रभावों से रश्मिगत–सौर-ज्योतिःप्राण व्यप्त हो जाता है। यह महारश्मिमय महा ज्योतिर्म्मण्डल उस एक ही नभ्यबिन्दु का **'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्'** वितान है। इस वितान का फल है–**'अच्छिद्र पवित्र सौर तेज'**। यद्यपि 'बालमात्राद् खिल्याः' निर्वचन रखने वाले 'बालखिल्या' नामक प्राणविशेष सौररश्मियों के व्यवच्छेदक बन रहे हैं। परन्तु वितानमहिमा के आगे यह व्यवधान अभिभूत हो रहा है। अतएव रश्मिप्रसारलक्षण यह सौरतेज अच्छिद्ररूप से (एकाकार से) सम्पूर्ण त्रैलोक्य में व्याप्त है। यदि रश्मियों का सहस्रधा–सहस्रवितान न होता, तो व्यवधानधर्म्मावच्छिन्न रश्मियों का यह प्रकाश कभी अच्छिद्र नहीं बनता। इसी महिमासाहस्री का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषिने कहा है—

"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्"।

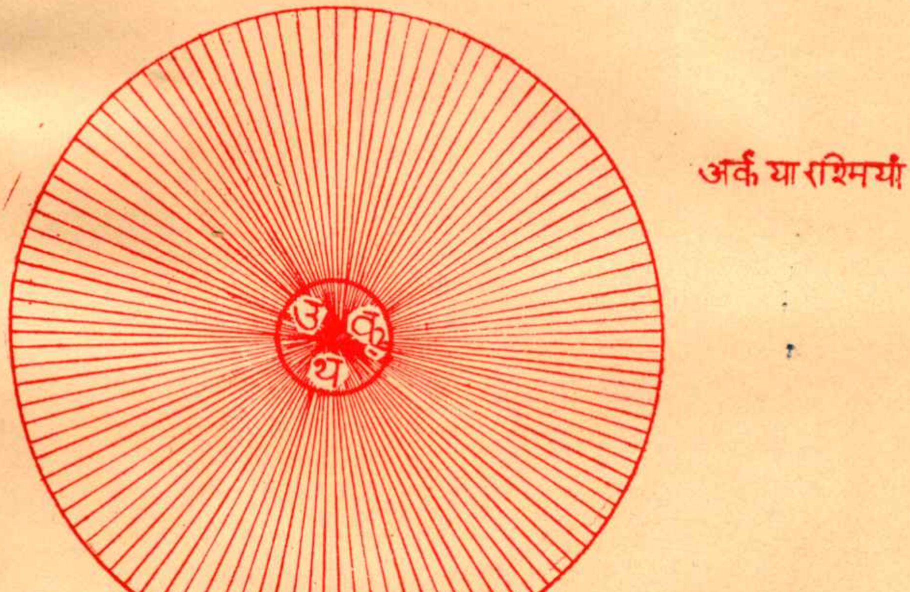
न केवल सूर्य्य में हीं, अपितु वस्तुमात्र के केन्द्र से इसी प्रकार (हृदयमूल से) सहस्ररश्मियों का वितान होता है **'अहं सूर्य्य इवाजनि'** (ऋक्संहिता) इत्यादि मन्त्र सहस्र की इसी व्याप्ति का स्पष्टीकरण कर रहा है। **'अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्'** के अनुसार नीचे ऊपर–दाएँ–बाएँ–तिर्य्यक्, सब ओर रश्मिप्रसार स्वाभाविक है। यही रश्मिमण्डल उस मूर्त्ति की महिमा कहलाई है, जिसका विकास हुआ है, उन पार्श्ववर्त्ती अणुओं से, जो विष्कम्भ की सीमा बने रहते हैं। निम्न लिखितरूप से प्रत्येक वस्तु में आप सहस्र–रश्मि–वितान का समन्वय कर सकते हैं।

२५–हृदयबिन्दु का परितः वितान—

मूर्त्तिपिण्ड के जिस एक केन्द्र को मध्यबिन्दु माना जाता है, उससे सर्वथा अभिन्नवत् आगे एक बिन्दु और प्रतिष्ठित कर दीजिए। इसप्रकार एक बिन्दु के आगे एक बिन्दु का समावेश करते जाइए। ऐसी सहस्र बिन्दुओं का सन्निवेश करने के पश्चात् उस व्यास पर आइए, जो प्रथम बिन्दु का ग्राहक बना हुआ है। उत्तरोत्तर वितत होने वाली प्रत्येक बिन्दु के साथ एक स्वतन्त्र व्यास और बनाते जाइए। इसप्रकार सहस्र बिन्दुओं के सहस्र ही व्यास हो जायँगे। प्रत्येक व्यास के साथ एक एक परिणाह का सम्बन्ध करते जाइए, एक सहस्र ही परिणाह हो जायँगे। इसके साथ ही यह लक्ष्य में राखिए कि, मध्यबिन्दु में वे सहस्रमात्राएँ पूर्व-कथनानुसार बीजरूप से प्रतिष्ठित हैं। बीजस्था हृद्या प्राजापत्या वेदमात्रा ही उत्तरोत्तर वितत होकर इतर हृदय–व्यास–परिधियों की जननी बनती है। यही हृद्य प्रजापति का उत्तरोत्तर विस्रंसन है। इसी विस्रंसन से प्रजापति

(३१६, तथा ३२० के मध्य में)

(१०)—रश्म्यर्कसहस्रवितानपरिलेखः—

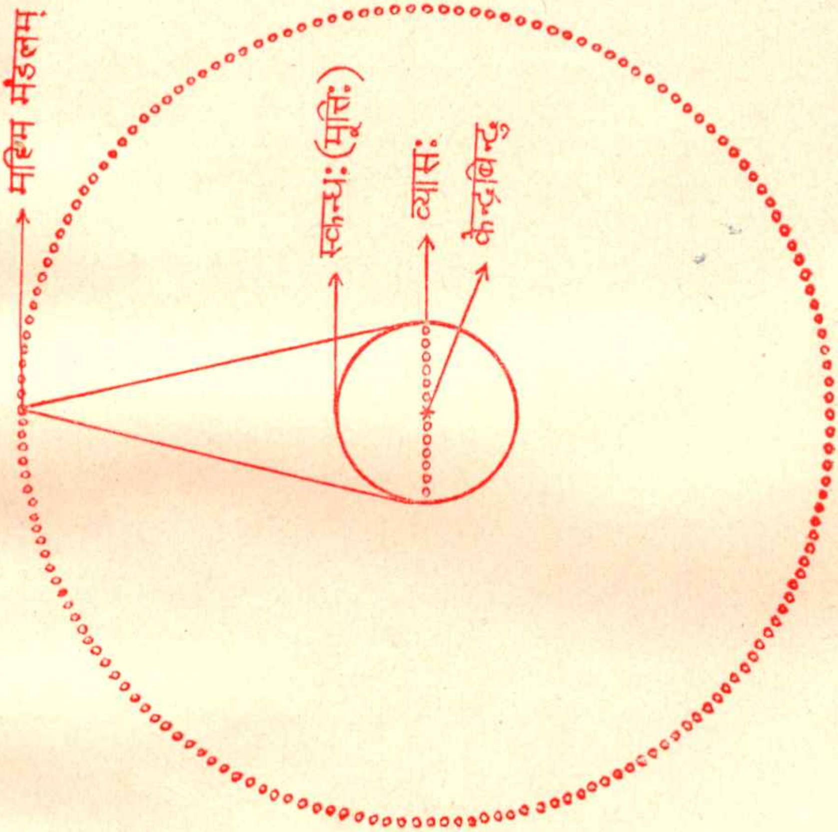


उक्थार्क मंडलम्

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३२१, तथा ३२२ के मध्य में)

(११)—व्यासाणुबिन्दुवितानपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

रिरिचान बनते रहते हैं। एवं प्रजापति का यह रिरिचानभाव अग्निलक्षण चयनयज्ञ से पुनः संहित होता रहता है, जैसा कि 'प्राजापत्यवेदमहिमा' में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

अवश्य ही एक मूर्त्ति में एक ही हृदय होता है, एक ही व्यास होता है, एवं एक ही परिधि होती है। किन्तु हृदयभेद से जब मूर्त्तियाँ एक सहस्र हैं, तो इन तीनों के सहस्र वितानों में विज्ञानसिद्धान्त की कोई क्षति नहीं होती। सर्वसाधारण जिस वस्तुपिण्ड को एक मूर्ति मान रहा है, विज्ञानदृष्टि उसीं मूर्त्ति के आधार पर महिमामयीं सहस्र मूर्त्तियाँ मान रही है।

कहा जा चुका है कि, पूर्वबिन्दु के आगे एक बिन्दु का समावेश और होता है। कैसे ?, इसका उत्तर है व्यास के पार्श्ववर्त्ती दो बिन्दु। पार्श्वाणु [पार्श्वबिन्दु) स्वमहिमा से एक 'सिद्धाणु' रूप में परिणत होकर आगे की नभ्यबिन्दु (केन्द्रबिन्दु) बन जाते हैं। इसी उत्तरबिन्दु को केन्द्र मान कर पुनः एक स्वतन्त्र व्यास बनता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना होगा कि, उत्तर व्यास मध्य व्यास की अपेक्षा छोटा होगा। इस दूसरे व्यास में भी वही सिद्धाणुक्रम चलता है। पुनः हृदय का वितान होता है, एवं हृदयाधार पर पुनः विष्कम्भ का उदय हो जाता है। पूर्व पूर्व विष्कम्भ की दोनों पार्श्वबिन्दुओं की सम्मिलित अवस्थारूप एक एक सिद्धाणु उत्तर–उत्तर का केन्द्र बनता जाता है, केन्द्र के साथ बिन्दुद्वय के उत्तरोत्तर क्रमिक ह्रास से तदनुबन्धी व्यास भी उत्तरोत्तर छोटा होता जाता है। सर्वान्त में जब एक ही बिन्दु रह जाती है, तो सिद्धाणु के निर्म्माण को अवसर नहीं मिलता। बस, वहीं अन्तिम सीमा समाप्त हो जाती है। तीन बिन्दुओं के अभाव से आगे दो बिन्दुओं का गमन अवरुद्ध है। अतएव आगे केन्द्रबिन्दु का आविर्भाव अवरुद्ध है। अतएव व्यास की स्वरूपनिष्पत्ति अवरुद्ध है। व्यास ऋक् है। क्योंकि अन्तिम नभ्यबिन्दु के आगे व्यास का अभाव है, अतएव इस अन्तिम साममण्डल को 'उद्दचसाम' 'निधनसाम' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है।

२६–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–शब्दों की परिभाषा—

स्वज्योतिर्म्मय प्रत्येक पदार्थ की सामान्य संज्ञा **'सूर्य्य'** है, परज्योतिर्म्मय प्रत्येक पदार्थ की संज्ञा **'चन्द्रमा'** है, एवं रूपज्योतिर्म्मय प्रत्येक पदार्थ की संज्ञा **'पृथिवी'** है। अपने प्रातिस्विक ज्योतिष्टोमयज्ञ से परितः(चारों ओर से) ज्योतिर्म्मय बने रहने वाले, अपने ज्योतिःप्रदान-धर्म्म से दूसरे वीभ्र पिण्डों को प्रकाशित करने वाले पदार्थ ही स्वज्योतिर्म्मय माने गए हैं। इन्हीं को 'सूर्य्य' नाम से व्यवहृत किया गया है। भचक्र में बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित स्वज्योतिर्गोलक इसी धर्म्म के कारण 'सूर्य्य' कहलाए हैं। इसी प्रकार स्वाती, लुब्धक, चित्रा,आदि आदि ओर ओर जितनें भी स्वज्योतिर्म्मय नक्षत्र हैं, उन्हें भी सूर्य्य ही कहा जायगा। स्वयं आत्मा भी इसी परिभाषा के अनुसार सूर्य्य कहलाया है। स्वज्योतिर्म्मय किसी सूर्य्य के प्रकाश को लेकर एक भाग से प्रकाशित, एक भाग से अप्रकाशित रहने वाले ज्योतिर्म्मय पिण्ड हीं परज्योतिर्म्मय कहलाए हैं। प्रत्यक्ष-दृष्ट चन्द्रमा इसी धर्म्म से चन्द्रमा कहलाया है। इसके सदृश अनेक चन्द्रमा हैं। ये भी सूर्य्यवत् अन्य पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। जिन पदार्थों से ज्योति का आविर्भाव नहीं होता, अतएव सूर्य्य-चन्द्रादि की भाँति जो दूसरों को प्रकाशित करने में असमर्थ हैं, जो केवल अपने रूपज्योति (स्वरूपज्योति) के ही प्रदर्शक बने रहते हैं, वे सब पदार्थ 'पृथिवी' नाम से व्यवहृत हुए हैं। पिण्ड की सामान्य संज्ञा 'भूः' है।

इस परिभाषा के अनुसार सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–आदि सभी पिण्ड भू हैं। सूर्य्य स्वज्योतिर्म्मयी 'भूः' है, चन्द्रमा परज्योतिर्म्मयी 'भूः' है, एवं पृथिवी रूपज्योतिर्म्मयी 'भूः' है। भूरूप प्रत्येक पिण्ड अपने व्यासाणुवितान से महिमाभाव से युक्त रहता है।

२७–कूटस्थ व्यास के आधार पर भूतव्यासों का वितान—

भूलक्षण पिण्ड का केन्द्रानुबन्धी व्यास 'कूटस्थ' व्यास कहलाता है, एवं आगे के इतर व्यासों को '**भूतव्यास**' कहा जा सकता है। केन्द्रस्थ अक्षर ही स्कन्धात्मक क्षरकूट का विधर्त्ता बनता हुआ–'**कूटस्थोऽक्षर उच्यते**' के अनुसार कूटस्थ कहलाया है। आगे के व्यासों में अणुभावों की प्रधानता है। अणु स्वयं क्षरात्मक हैं, क्षरप्रधान हैं। क्षर ही '**क्षरः सर्वाणि भूतानि**' के अनुसार भूत है। अतएव अणुप्रधान इतर व्यासों को 'भूतव्यास' कहा जा सकता है। जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है, हमें व्यासलक्षण ऋक् का ही प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष का विषय बनने वाले ऋग्रूप व्यास महिमामण्डल से सम्बन्ध रखने वाले भूतव्यास ही मानें जायँगे। हमारी भौतिक चक्षुरिन्द्रिय क्षरात्मक भूतव्यास का ही प्रत्यक्ष कर सकती है। कूटस्थ व्यास तो कूटस्थ अतीन्द्रिय अक्षरमूलक बनता हुआ इन्द्रियातीत ही रहता है। इसी आधार पर यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है कि, "हम कूटस्थ व्यास वाले–भूपिण्ड (वस्तुमूर्त्ति) को नहीं देखते, नहीं देख सकते। अपितु भूतव्यासावच्छिन्ना भूमहिमामयीं मण्डलात्मिका मूर्त्तियों का ही साक्षात्कार सम्भव है"।

भू से भूमहिमा कितनी बड़ी ?, कहाँ तक इसकी व्याप्ति ?, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर भी कूटस्थ व्यास ही है। स्कन्धापरपर्य्यायक मूर्त्तिपिण्ड के जितने अणुओं से कूटस्थ व्यास का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, उस अणुसमष्टिरूप कूटस्थ व्यास के पार्श्ववर्त्ती अन्तिम दोनों अणुओं से दक्षिण की ओर * तिर्य्यक् रेखा ले जाइए। जहाँ जाकर ये दोनों अणुरेखाएँ मिल जाँय, वहाँ से एक वृत्त बना डालिए। यही वृत्त 'भूमहिमा' कहलाएगी। पिण्डव्यास के तारतम्य से इन पिण्डमहिमाओं का स्वरूप अपेक्षाकृत छोटा बड़ा होगा। निम्नलिखित परिलेख के माध्यम से प्रत्येक पिण्ड की महिमा का स्वरूप जाना जा सकता है।

२८–पार्थिव, एवं सौर सामग्री—

उदाहरण के लिए यहाँ सूर्य्य, पृथवी नाम के भू पिण्डों की महत्ता (महिमा) का विचार कीजिए। पृथवीपिण्ड की अपेक्षा सूर्य्यपिण्ड कहीं बड़ा है। इसकी महत्ता का केवल इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि, कोटि–कोटि–क्रोश पर्य्यन्त अपने मण्डल की व्याप्ति रखने वाला भूपिण्ड मण्डल सहित सौर मण्डल के गर्भ में समाविष्ट है। पृथिवीपिण्ड से सूर्य्य कितनी दूर ?, इस प्रश्न का उत्तर जहाँ वर्तमान विज्ञान '६ करोड़ मील दूर' इन शब्दों में देता है, वहाँ वैदिक विज्ञान अपनी भाषा में–"**एकविंशो वा इत आदित्यः**" यह उत्तर दे रहा है। 'पृथवी से २१ पर सूर्य्य है', इस उत्तर का तात्पर्य्य यही है कि, भूपिण्ड से

---

* वैदिक परिभाषानुसार 'उत्तर' केन्द्र का वाचक है, दक्षिण परिधि का वाचक है। "**ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः**" इत्यादि में ऊर्ध्व शब्द भी केन्द्राभिप्राय का ही सूचक है, जैसा कि गीतामूलभाष्यान्तर्गत '**अश्वत्थविद्या**' प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है।

सम्बन्ध रखने वाला, ४८ अहर्गणात्मक, जो वषट्कारमण्डल है, उस महिमारूप वाङ्मय वषट्कारमण्डल के २१ वें अहर्गण पर सूर्य्य है। वैदिक संख्याविज्ञान की प्रतिष्ठा सहस्र संख्या है, अतएव **'पूर्णं वै सहस्रम्'** यह कहा गया है। इसका यह तात्पर्य्य नहीं है (जैसा कतिपय आधुनिक कल्पना किया करते हैं) कि, ऋषि सहस्र-संख्या से अधिक संख्या ही न जानते थे। परमपरार्ध्य की संख्या के आविष्कारक इन ऋषियों नें किसी कारणविशेष से ही सहस्र को पूर्ण संख्या माना है, जैसा कि अगले प्रकरणों में स्पष्ट होने वाला है। मूलस्थ बीजरूप सहस्रभाव के वितानमण्डल को ही वाङ्मण्डल कहा गया है। यही वषट्कार है। इस वषट्कार के **'अग्नि-आपः-वाक्'** नामक तीन शुक्रों से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। अग्निशुक्र वषट्कार की एक सीमा है, आपःशुक्र वषट्कार की एक सीमा है, वाक्शुक्र वषट्कार की एक सीमा है। ब्रह्म-ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, इन तीन अक्षरों का संस्थाविभेद ही इस सीमात्रयी का जनक है। अग्निपृष्ठ पर्य्यन्त इन्द्राक्षर का, आपः-पृष्ठ पर्य्यन्त विष्णवक्षर का, वाक्पृष्ठ पर्य्यन्त ब्रह्माक्षर का साम्राज्य है, जैसाकि—**"यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्"** रूप से पूर्व की सहस्रव्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। अग्निपृष्ठ २१ वें अहर्गण पर समाप्त है, यहीं सूर्य्य प्रतिष्ठित है। आपःपृष्ठ ३३ पर समाप्त है, वाक्पृष्ठ ४८ पर समाप्त है। इन तीनों पृष्ठों की समाप्ति पृथिवी का 'रथन्तर' साम है। **'आदित्यो वै देवरथः'** के अनुसार सूर्य्य रथ है, पार्थिव साम ने इस सूर्य्यरूप रथ का भी तरण (पार) कर रक्खा है, अतएव इसे 'रथन्तर' कहा जाता है। अपिच यह पार्थिव साम यजुः रस से ओतप्रोत बनता हुआ रसतम है। इसलिए भी इसे रथन्तर कहना अन्वर्थ बनता है, जैसाकि-**"रसतमं ह वै रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्"** (शत०९।१।२।३६।) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

पार्थिव रथन्तरसाम के ही तीन रूप हो रहे हैं। पहिला अग्न्यात्मक रथन्तरपृष्ठ है, इसे 'रथन्तर' ही कहा जाता है। रथन्तर की पहिली व्युत्पत्ति का इस अग्निपृष्ठात्मक रथन्तर से सम्बन्ध है। क्योंकि २१ पर सूर्य्य है, और पार्थिव अग्निपृष्ठ २१ से ऊपर तक (लगभग २२पर्य्यन्त) जाता है, अतएव **'रथं-सूर्य्यं तरति'** से इसे रथन्तर कहना अन्वर्थ बनता है। दूसरी व्युत्पत्ति का समष्टि से सम्बन्ध है। तीनों ही पृष्ठ 'रसतम' हैं, अतएव पृष्ठत्रयी को रसतमापेक्षया रथन्तर कहा जा सकता है। दूसरा अबात्मक पार्थिव पृष्ठ **'वैरूपसाम'** नाम से प्रसिद्ध है। तीसरा वागात्मक पार्थिव पृष्ठ **'शाकरसाम'** नाम से प्रसिद्ध है। शाक्वरसाम लोकत्रया-नुबन्धी दिङ्मण्डल है। वैरूपसाम पर्जन्यानुबन्धी आपोमण्डल है। रथन्तरसाम यज्ञानुबन्धी अग्निमण्डल है। शुक्रापेक्षया जहाँ तीनों क्रमशः वाङ्मय, आपोमय, अग्निमय हैं, वहाँ * मनोता की अपेक्षा तीनों क्रमशः द्युमय, गौमय, वाङ्मय कहलाएँगे। "वाक्-गौ-द्यौः-तीनों पृथ्वी के मनोता हैं। अग्निपृष्ठ वाक्-मनोता से, अप्पृष्ठ गौ-मनोता से, एवं वाक्पृष्ठ द्यौ-मनोता से परिगृहीत है। इसप्रकार शुक्रत्रयी के अनुग्रह से पार्थिव महिमामण्डल के तीन मुख्य सामपर्व हो जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

---

*इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' प्रथम खण्ड के **"मनःप्राणवाक्-के त्रिवृद्भाव की व्यापकता"** नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

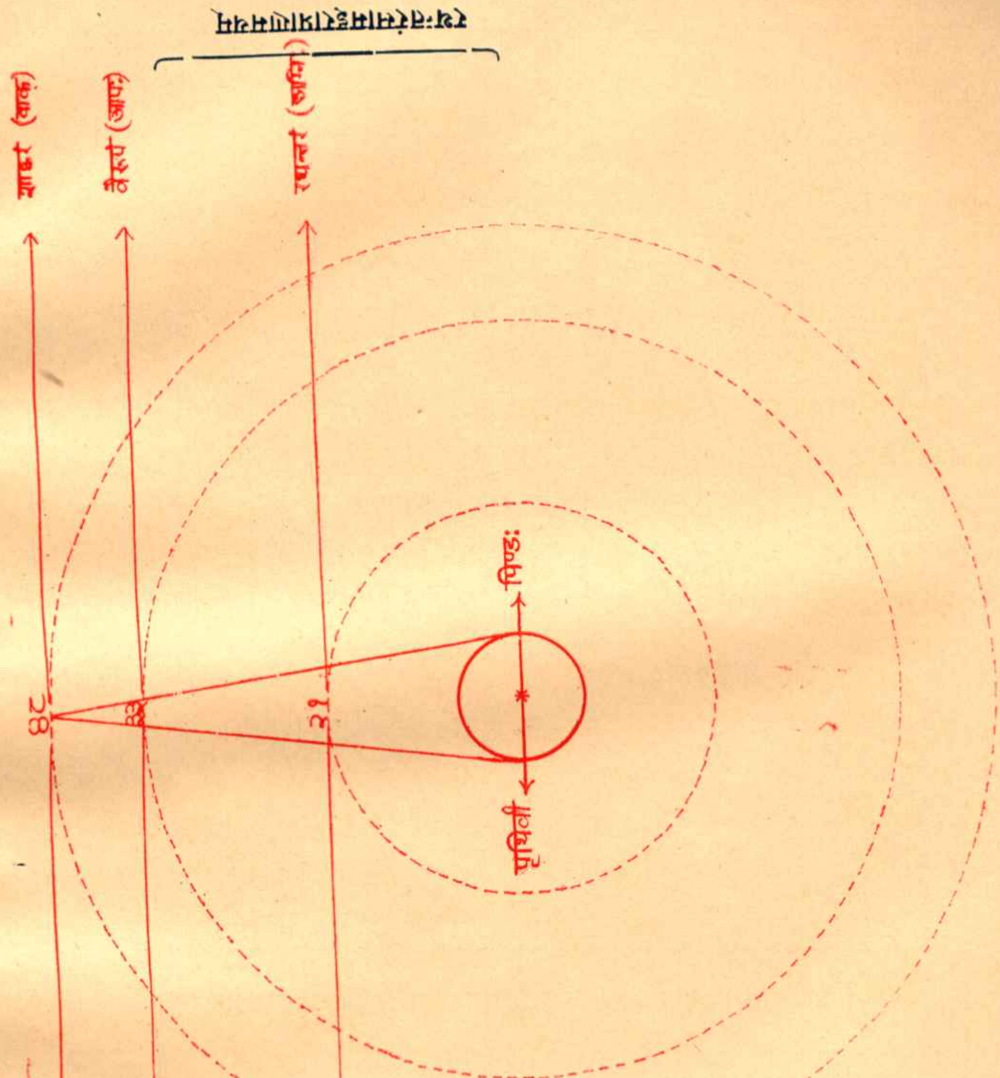
१ अक्षरत्रयी	२ शुक्रत्रयी	३ स्तोमत्रयी	३ मनोतात्रयी	५ सामत्रयी	६ मण्डलत्रयी
३-ब्रह्मा—	वाक्	४८	द्यौः	शाक्वरं साम	दिङ्मण्डलम्
२-विष्णुः—	आपः	३३	गौः	वैरूपं साम	अन्नमण्डलम्
१-इन्द्रः—	अग्निः	२१	वाक्	रथन्तरं साम	अग्निमण्डलम्

ठीक यही साम-संस्थानक्रम स्वज्योतिर्घन सूर्य्य में समझिए। अन्तर केवल बृहत्ता में है। अतएव सौरी पृष्ठत्रयी '**बृहतसाम**' नाम से व्यवहृत हुई है। अपिच जैसे पृथिवी में रसलक्षण यजुरग्नि की व्याप्ति रहती है, तथैव सौरसंस्था में बृहतीछन्दोऽवच्छिन्न बृहत्-इन्द्रप्राण की व्याप्ति रहती है। रसाग्नि से पार्थिव साम रसतम बनता हुआ जहाँ रथन्तर है, वहाँ बृहत्प्राण से सौरसाम बृहत्साम नाम से प्रसिद्ध है। पृथिवीवत् यहाँ भी २१-३३-४८ क्रम से अग्नि-आपः-वाक् शुक्रों का भोग हो रहा हैं। सूर्य्य के मनोता ज्योतिः, गौः, आयुः, नाम से प्रसिद्ध हैं। ज्योतिर्मनोतानुगृहीत, अग्निशुक्रात्मक, एकविंशस्तोमावच्छिन्न सौरसाम '**बृहतसाम**' नाम से प्रसिद्ध है। गौ-मनोतानुगृहीत आपः-शुक्रात्मक, त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न सौरसाम '**वैराजसाम**' नाम से प्रसिद्ध है। आयुः-मनोतानुगृहीत, वाक्-शुक्रात्मक, अष्टाचत्वारिंशत् स्तोमावच्छिन्न सौरसाम '**रैवतसाम**' नाम से प्रसिद्ध है। बृहत्साम-'**आदित्यमण्डल**' है, वैराजसाम '**ऋतुमण्डल**' है, रैवतसाम '**पशुमण्डल**' है। मण्डलत्रयात्मक-सामत्रयसमष्टिरूप से एक बृहत्साम है, जिसके अवान्तर तीन पर्व हैं। पृथिवी का २१ स्तोमात्मक रथन्तरसाम ही जब सूर्य्य से भी कुछ ऊपर तक अपनी व्याप्ति रखता है, तो पृथिवी पिण्ड की अपेक्षा कई गुणा अधिक-सूर्य्य का २१ स्तोमात्मक बृहत्साम कहाँ तक अपनी व्याप्ति रखता होगा ?, यह एक गम्भीर प्रश्न होने पर भी आपोमय परमेष्ठी के रहस्यवेत्ताओं के लिए सर्वथा निर्णीत विषय है।

१ अक्षरत्रयी	२ शुक्रत्रयी	३ स्तोमत्रयी	४ मनोतात्रयी	५ सामत्रयी	६ मण्डलत्रयी
३-ब्रह्मा—	वाक्	४८	आयुः	रैवतं साम	पशुमण्डलम्
२-विष्णुः—	आपः	३३	गौः	वैराजं साम	ऋतुमण्डलम्
१-इन्द्रः—	अग्निः	२१	ज्योतिः	बृहत् साम	आदित्यमण्डम्

(१२)--पार्थिवसम्वत्सरचक्रानुगत--सामत्रयी--परिलेखः —

(सम्वत्सरं साम पार्थिवं रसतमम्)

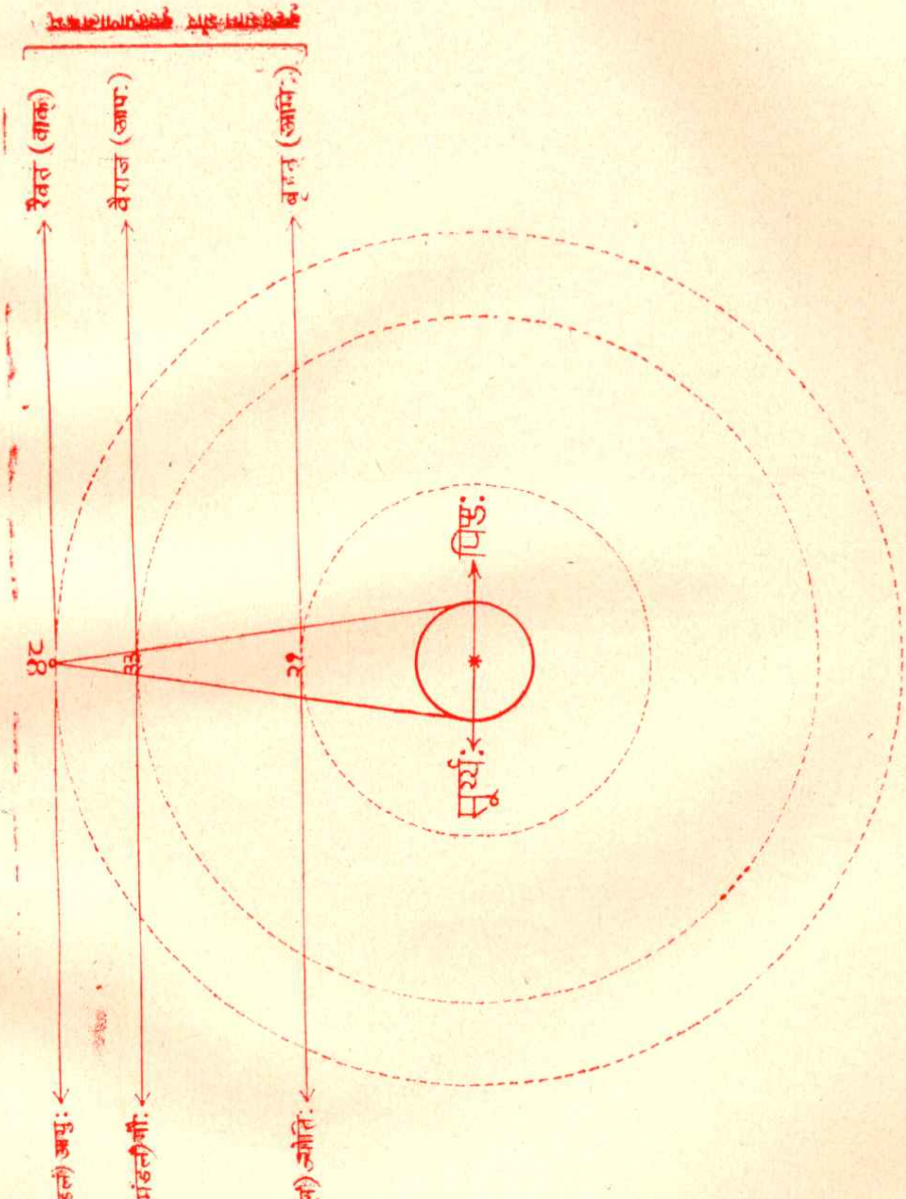


श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३२४, तथा ३२५ के मध्य में)

(१३)--सौरसम्वत्सरचक्रानुगत–सामत्रयी--परिलेखः—

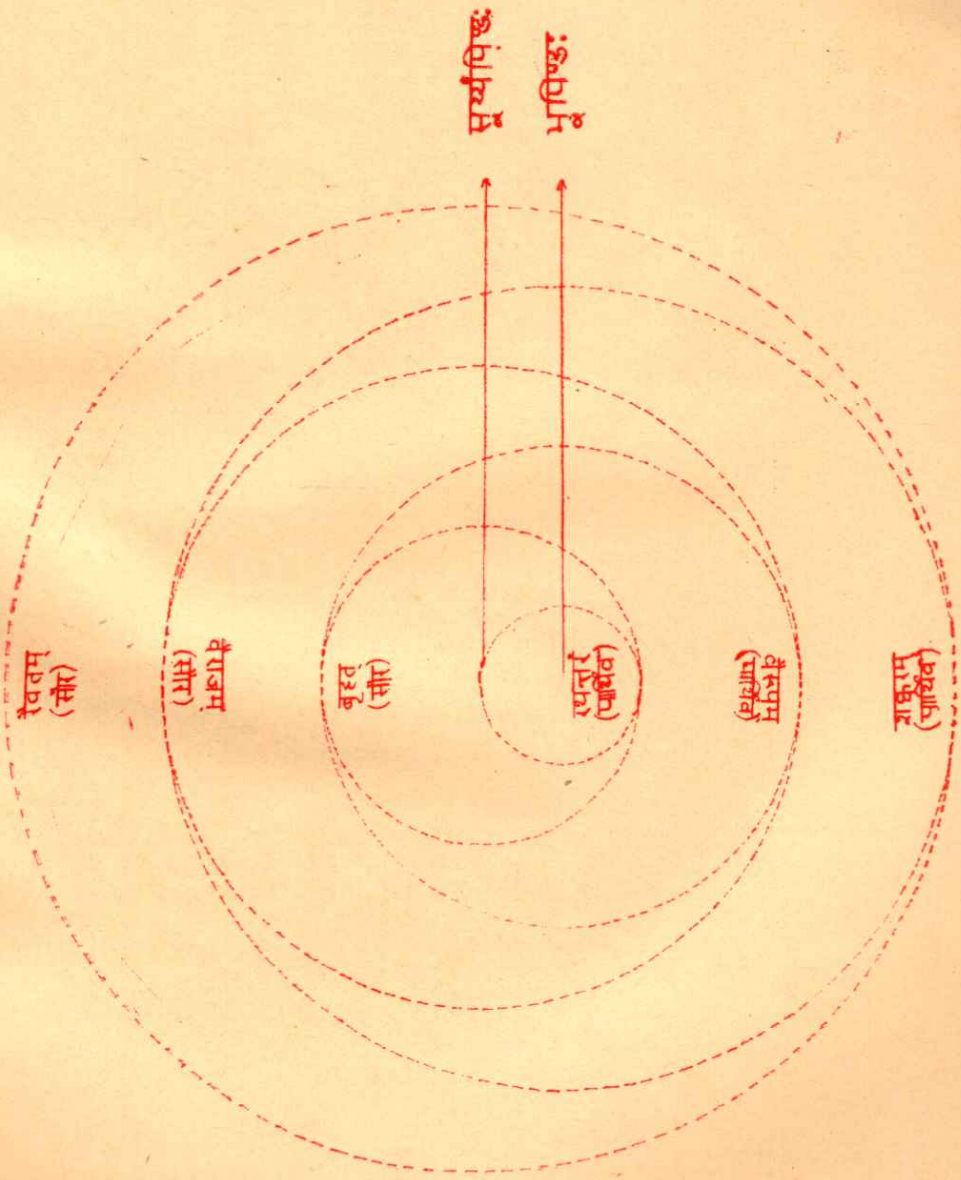
(सम्वत्सरं साम सौर हिरण्मयम्)



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३२४, तथा ३२५ के मध्य में)

(१४)-सौरपार्थिव-सामातिमानपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

२६

चि
प्रि
ना
अ
सा
अ
अ
सं

२९–सामों का अतिमानसम्बन्ध—

'उदूढत्रिलोकीविज्ञान' के अनुसार स्त्रीस्थानीया पृथिवी, पुरुषस्थानीया द्यौ, दोनों का परस्पर विवाह होता है। इसी से उदूढत्रिलोकी का आविर्भाव होता है, जैसाकि अन्यत्र (पुराणरहस्यादि निबन्धों में) प्रतिपादित है। द्यावापृथिवी के इस विवहन-कर्म्म को ही सम्बन्धरहस्यवेत्ताओंनें 'अतिमानसम्बन्ध' नाम से व्यवहृत किया है। इसी सम्बन्ध से द्यावापृथिवी (सूर्य्य-पृथिवी) के श्यैत-नौधस-रसों का परस्पर आदान-प्रदान होता है। सामपृष्ठ ही श्यैत-नौधस-रसों के आदान-प्रदान के द्वार हैं, अतएव इन्हें भी सामविशेष मान लिया गया है। पृथिवी के तीनों सामों का सूर्य्य के तीनों सामों के साथ होने वाले इस अतिमानसम्बन्ध को हम **'दहरोत्तरसम्बन्ध'** ही कहेंगे। पार्थिव रथन्तरसाम के साथ सौर बृहत्साम का अतिमान है। पार्थिव वैरूपसाम के साथ सौर वैराजसाम का अतिमान है। एवं पार्थिव शाक्वरसाम के साथ सौर रैवतसाम का अतिमान है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

निम्नलिखित श्रुतियाँ पार्थिव रथन्तर-वैरूप-शाक्वर, एवं सौर बृहत्-वैराज-रैवत, इन तीनों के अतिमानसम्बन्ध का ही स्पष्टीकरण कर रहीं हैं—

१–"बृहच्च वा इदमग्रे रथन्तरं चास्ताम्। वाक् च वै तन्मनश्चास्ताम्। वाग् वै रथन्तरं, मनो बृहत्। तद्–बृहतपूर्वं ससृजानं रथन्तरमत्यमन्यत। तद्रथन्तरं गर्भमधत्त, तद्वैरूपमसृजत। ते द्वे भूत्वा रथन्तरं च, वैरूपं च बृहदत्यमन्येताम्। तद् बृहद्गर्भमधत्त, तद्वैराजमसृजत। ते द्वे भूत्वा बृहच्च, वैराजञ्च, रथन्तरं च, वैरूपं चात्यमन्येताम्। तद्रथन्तरं गर्भमधत्त, तच्छाक्वरमसृजत। तानि त्रीणि भूत्वा रथन्तरञ्च, वैरूपं च, शाक्वरं च-बृहच्च, वैराजं च, अत्यमन्यन्त। तद् बृहद्गर्भमधत्त, तद्रैवतमसृजत। तानि त्रीण्यन्यानि, त्रीण्यन्यानि, तानि षट् पृष्ठान्यासन्"

(ऐ० ब्रा० १९।६।८।)।

२–"यद्वै रथन्तरं, तद्वैरूपम्। यद् बृहत्, तद्वैराजम्। यद्रथन्तरं, तच्छाक्वरम्। यद् बृहत्, तत्-रैवतम्। उभे अनवसृष्टे भवतः"। (ऐ० ब्रा० १७।७।१३।)।

३—"उभे बृहद्रथन्तरे भवतः। इयं वाव रथन्थरं, असौ बृहत्। आभ्यामेवैनमन्तरेति- वाचश्च, मनसश्च। प्राणाच्च, अपानाच्च। दिवश्च, पृथिव्याश्च। सर्वस्माद्वित्ताद्, वेद्यात्" (तै० ब्रा० १।४।६।)।

३०–चाक्षुष साम, और प्रोतात्तबिन्दु—

उक्त 'सामातिमानविज्ञान' से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, भचक्र में ग्रह-नक्षत्र-सूर्य्य-चन्द्रादि जितने भी ज्योतिर्गोलक दिखलाई देते हैं, उन सबके ज्योतिर्म्मय साममण्डलों के साथ हमारे चाक्षुष-

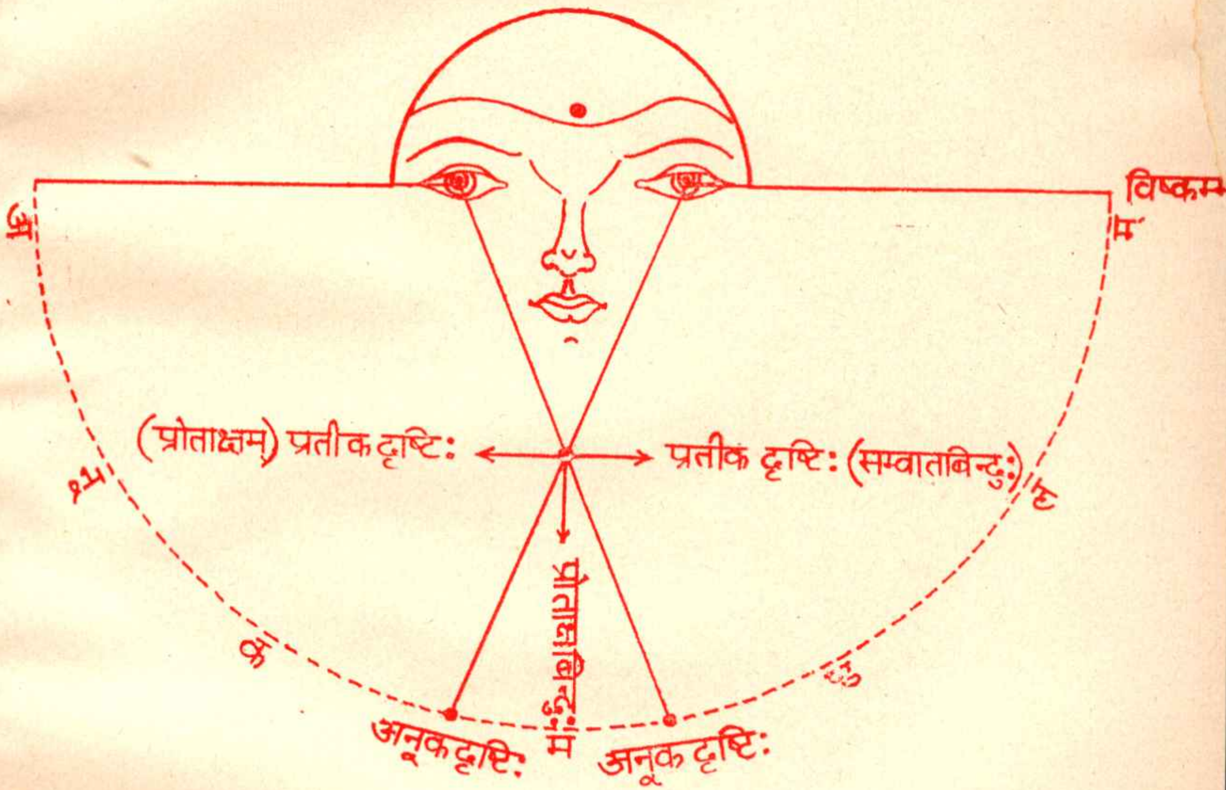
ज्योतिर्म्मय साममण्डल का (द्यावापृथिव्य सामों की भाँति) अतिमान हो रहा है। इसी अतिमान से वे ज्योतिर्गोलक हमारी चक्षुरिन्द्रिय के विषय बन रहे हैं। सूर्य्य, और चक्षु की तुलना इसीलिए की गई है कि, इसका स्वरूप सौरसंस्था से मिलता जुलता है। जो रुक्म–पुष्करपर्ण–पुरुषत्रयी सूर्य्यसंस्था में है, वही त्रयी अध्यात्मसंस्था के चक्षुर्म्मण्डल में हैं *। इसीलिए चाक्षुष पुरुष की, एवं आदित्यपुरुष की उपनिषदों में तुलना हुई है A। प्रकृत में यही बतलाना है कि, हमारी नेत्रज्योति का उपादान स्वज्योतिर्घन सूर्य्य है, अतएव चक्षुरिन्द्रिय भी रूपज्योति का अधिष्ठाता बन रहा है। दोनों आँखों से रश्मियों का विनिर्गमन होता है। यदि हम पूर्व दिशा की ओर मुख करके खड़े हो जाते हैं, तो दहिनी आँख से निकलने वाली चक्षुरश्मि ईशानकोण की ओर (तिर्य्यक्) जाती है, वामरश्मि का रुख अग्निकोण की ओर रहता है। इन तिर्य्यक रश्मियों का आगे जाकर मिलन होता है। जिस बिन्दु पर इनकी इस दूरी का पात होता है, दूरी हट जाती है, वही बिन्दु **'सम्पातबिन्दु'** नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्पातबिन्दु को ही विज्ञानभाषा में **'प्रोताक्षबिन्दु'** कहा गया है। क्रासपाइन्ट–फोकस–आदि नामों से वर्त्तमान विज्ञान-भाषा में प्रसिद्ध इस प्रोताक्षबिन्दु पर जो वस्तु रहती है, उसकी **'पश्यन्ति सप्तमं सर्वे शनि–जीव–कुजाः–पुन."** (लघुपाराशरी) इस ज्योतिःसिद्धान्त के अनुसार (ठीक सामने पड़ने से) इतर प्रान्त–भागों की अपेक्षा स्पष्ट प्रतीति होती है। सम्पातबिन्दु से आगे पुनः चक्षुरश्मियों का तिर्य्यग् वितान हो जाता है। एवं किसी नियत सीमा पर वितानमण्डल समाप्त हो जाता है। यही मण्डल चाक्षुषसाम है। यही वस्तुप्रत्यक्ष का कारण बनता है। जिस वस्तु का साममण्डल इस चाक्षुषसाममण्डल में प्रविष्ट होता है, हम उसी का प्रत्यक्ष किया करते हैं। हम देखते हैं कि, चक्षु से १० वितस्ति दूर रक्खा हुए एक स्थूल पदार्थ (घट–पटादि) तो हमारी दृष्टि में आ जाता है, परन्तु घट और चक्षु के बीच के प्रदेश में पड़े हुए एक केश को हमारी आँखें नहीं देख पातीं। कारण इसका यही है कि, घट का साममण्डल तो चाक्षुष साममण्डल में प्रविष्ट हो जाता है, किन्तु केश का अल्पसीमायुक्त अल्पसाममण्डल चाक्षुषसाममण्डल के साथ अतिमान करने में असमर्थ रहता है। वस्तुप्रत्यक्ष के लिए यह प्रत्येक दशा में आवश्यक है कि, अपने स्थान पर स्थित चाक्षुषमण्डल की सीमा के भीतर अन्य वस्तुओं के साममण्डलों का प्रवेश हो। प्रतीकबिन्दु (सम्पातबिन्दु) पर वस्तुमण्डल आ गया, तब तो कहना ही क्या है। यदि अनूकमण्डल के ही भीतर आकर रह गया, प्रतीक तक न पहुँच सका, तब भी सामान्य प्रत्यक्ष हो जायगा। परन्तु अनूक से बाहिर ही जिसका साममण्डल रह गया, उसका प्रत्यक्ष असम्भव है।

***–"अथाध्यात्मं–यदेतन्मण्डलं तपति, यश्चैष रुक्मः, इदं तच्छुक्लमक्षन्। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, यच्चैतत् पुष्करपर्णं, इदं तत् कृष्णमक्षन्। अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, यश्चैष हिरण्मयः पुरुषः, अयमेव सः–योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः"** (शत० १०।५।२।७)।

A–**"अक्षिभ्यां चक्षुः, चक्षुष आदित्यः"। "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्"**। इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' के 'आचार्य्यपरीक्षा' नामक खण्ड के **'चाक्षुषकृष्णरहस्य'** नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

(३२६, तथा ३२७ के मध्य में)

(१५)--चाक्षुषसामातिमानरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

उक्त चाक्षुषसामप्रदर्शन से प्रकृत में प्राच्य, तथा प्रतीच्य के तेजोव्याप्ति-सिद्धान्त के सम्बन्ध में विभेद बतलाना है। प्राच्य (भारतीय वैदिक) विज्ञान के मतनुसार प्रत्येक वस्तु का प्राण उस वस्तु के महिमामण्डल की परिधिपर्य्यन्त स्थिरधरातलरूप से व्याप्त होता है, जैसा कि **"सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत"** इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति से स्पष्ट है। नक्षत्रादि ज्योतिर्गोलकों का तेजोमय साममण्डल हमारे चाक्षुषसाम की सीमा में प्रविष्ट होकर ही तत्पिण्डप्रतीति का कारण बन रहा है। भारतीय विज्ञान कहता है कि, नक्षत्रों का प्राण-ज्योतिर्म्मय तेज वर्षों में चल कर पृथिवी पर नहीं आता, अपितु उत्पत्तिकाल से ही अपने अपने साममण्डलों के आधार पर सब का तेज यथामण्डल व्यवस्थित है। सामातिमान से सबके तेजों का एककालावच्छेदेन ही अतिमान हो रहा है। उधर प्रतीच्य विज्ञान कहता है कि, नक्षत्रों के तेज को (पृथिवी पर) आने में हजारों लाखों वर्ष लगते हैं। दोनों में कौन सिद्धान्त मान्य है ?, इस प्रश्न के उत्तर में प्राच्यसिद्धान्त की मान्यता स्वीकार करते हुए भी हम प्रतीच्य सिद्धान्त की समालोचना करने में इसलिए असमर्थ हैं कि, हमने जहाँ अज्ञानतावश अपने वैज्ञानिक वेदशास्त्र का व्यावहारिक ज्ञान भुला दिया है, वहाँ प्रतीच्य विद्वान् अपनी श्रम-परिश्रम-निष्ठा से अपने भौतिक विज्ञान के व्यावहारिक प्रयोगों में सफल बने हुए हैं।

३१–विष्कम्भ का वितान—

प्रासङ्गिक सामातिमानचर्चा का उपसंहार करते हुए पुनः उसी विष्कम्भानुबन्धी वितानभाव की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है। यह बतलाया जा चुका है कि, मूर्त्ति-व्यास 'कूटस्थव्यास' कहलाता है, एवं मूर्त्तिपृष्ठ से आरम्भ कर उद्यत्सामसीमा से पहिले पहिले व्याप्त महिमा-व्यास 'भूतव्यास' नाम से प्रसिद्ध है। इसी सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि, कूटस्थ व्यास के पार्श्ववर्त्ती अणुद्वय से ही एक सिद्धाणु का स्वरूप निष्पन्न होता है, एवं यही सिद्धाणु कूटस्थ केन्द्र के आगे का केन्द्र बनता हुआ अग्रिम व्यासकी प्रतिष्ठा बनता है। इस अग्रिम व्यास के भी दोनों पार्श्ववर्त्ती अणु तीसरे केन्द्र का, इसी प्रकार चौथे, पाचवें, इत्यादिरूप से पूर्व-पूर्व व्यास पार्श्ववर्त्ती अणुद्वय से उत्तर-उत्तर की केन्द्रबिन्दु का, उत्तरोत्तर की केन्द्रबिन्दु के आधार पर तत्तत् केन्द्रबिन्दु के तत्तद् व्यास का वितान हो जाता है। जबतक व्यास में तीन अणु रहते हैं, तब तक तो इसके पार्श्ववर्त्ती दोनों अणुओं के वितान से एक हृद्बिन्दु का विकास और हो जाता है। परन्तु जब एक ही बिन्दु रह जाती है, तो वितान समाप्त हो जाता है। इसप्रकार निम्न लिखित रूप से कूटस्थ व्यास के आधार पर एक सहस्र व्यासों का, तत्प्रतिष्ठारूप हृद्बिन्दुओं का आविर्भाव हो जाता है।

जिस कूटस्थ व्यास के आधार पर बिन्दुद्वय के उत्तरोत्तर ह्रास से भूतव्यासों का वितान हुआ है, उस कूटस्थ व्यास की मूलप्रतिष्ठा हृदय है, यह कहा जा चुका है। उद्धृत हृद्वितानपरिलेख में पाठक देखेंगे कि, केन्द्र से आरम्भ कर पृष्ठ पर्य्यन्त तत्त्वतः हृद्बिन्दुओं का ही वितान हो रहा है। वही मूर्त्तिसम्पादक अणु है, वही स्कन्ध है, वही भूतव्यास है, वही पृष्ठ है। चारों ओर इसी हृद्बिन्दुका सब रूपों में वितान हो रहा है। हृद्बिन्दु की इस सर्वव्याप्ति का परिणाम यह होता है कि, मूर्त्तिकेन्द्र के आधार पर चारों ओर विष्कम्भों का वितान हो जाता है। कूटस्थ व्यास एक मानते हुए भी पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि, कूटस्थ बिन्दु के आधार पर मूर्त्तिपिण्ड के चारों ओर स्कन्धव्यासों का वितान हो जाता है। जिस व्यास को मूल मान

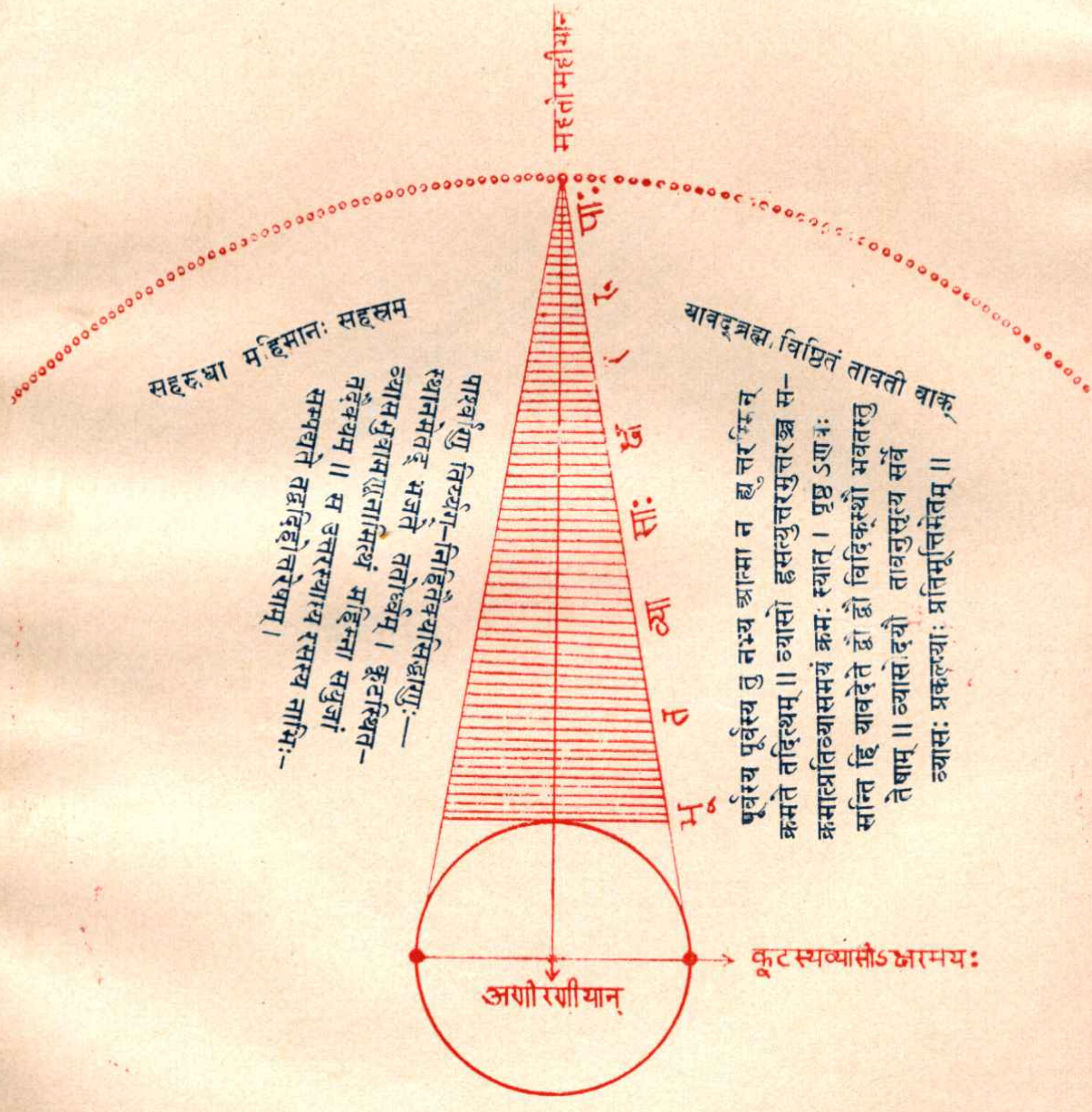
कर हम हृद्बिन्दुवितान का विचार करेंगे, वहीं से भूतव्यासवितान का स्वरूप गृहीत हो जायगा। दूसरे शब्दों में मूर्त्तिगत प्रत्येक कूटस्थ व्यास के आधार पर मूर्त्ति के चारों ओर समभावापन्न नवीन नवीन भूतव्याससंस्था उपलब्ध होगी। परिणाम इस का यह होगा कि, मूर्त्ति के उन अनन्त कूटस्थ व्यासों के आधार पर मूर्त्ति के चारों ओर अनन्त (सहस्र) भूतव्याससंस्थाएँ बन जायँगी प्रत्येक भूतव्याससंस्था का मूलाधार तत्-सम्बद्ध कूटस्थ व्यास बनेगा। प्रत्येक कूटस्थ व्यास तत्सम्बद्ध कूटस्थ हृद्बिन्दु के आधार पर प्रतिष्ठित रहेगा। प्रत्येक भूतव्याससंस्था का प्रत्येक व्यास पूर्व पूर्व व्यासाणुद्वय से सम्पन्न सिद्धाणुद्वय से समन्वित सिद्धाणुरूप हृदयबिन्दु को अपनी प्रतिष्ठा बनाएगा। और इसप्रकार पूर्व में बतलाए हुए विष्कम्भ-वितान का निम्न लिखित स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित होगा।

३२–प्रत्यक्तविज्ञान—

वस्तु–दर्शन के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, हमारी चक्षुरिन्द्रिय वस्तु पर जाती है ?, अथवा विषय हमारे चक्षु पर आता है ? । सामान्य दृष्टि से विचार करने पर यही उत्तर मिलता है कि, न तो चक्षु ही विषय पर जाता, एवं न विषय ही चक्षु पर आता। दार्शनिक दृष्टि इस सम्बन्ध में यह उत्तर देती है कि, श्रोत्र–घ्राण–रसना, आदि इतर इन्द्रियाँ तो 'अप्राप्यकारी' हैं, एवं चक्षुरिन्द्रिय 'प्राप्यकारी' है। 'संयोग–विभाग–शब्द' तीनों में से किसी एक व्यापार से आकाश में व्याप्त, 'इन्द्रपत्नी' नाम से प्रसिद्ध वाक्–समुद्र में व्यापारानुरूप उसी प्रकार वीचियाँ (लहरें–तरङ्गें) उत्पन्न हो जातीं हैं, जैसे एक जलपूर्णपात्र का जल कराघातलक्षण आघातबल से वीचिरूप में परिणत हो जाता है। वाक्–वीचियाँ अपने आगे के वाक्–धरातल को वीचिरूप में परिणत करतीं हुईं आगे वितत होतीं हैं। यदि यह वीचिक्रम धारावाहिक रूप से उत्तरोत्तर संक्रमण करता हुआ हमारी श्रोत्रेन्द्रिय पर्य्यन्त आने में समर्थ हो जाता है, तो उस वीचि का कर्णशष्कुली पर आघात होता है। वहाँ पर सर्वेन्द्रिय प्रज्ञानमन प्रतिष्ठित है। श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा प्रज्ञान मन पर उस वीचिका आघात होता है। तत्काल शब्द उत्पन्न हो जाता है। **'शपं–आक्रोशं–आघातं–ददाति'** ही **'शब्द'** शब्द का निर्वचन है। इसप्रकार वीचितरङ्गन्याय से वाग्–वीचियाँ श्रोत्रेन्द्रियस्थान पर ही शब्दाविर्भाव का कारण बनतीं हैं। अतएव श्रोत्रेन्द्रिय को 'अप्राप्यकारी' (विषय पर–शब्द पर–न जाकर स्वयं अपने स्थान में हीं प्रतिष्ठित रहते हुए शब्दविषयग्रहण करने वाला) कहना अन्वर्थ बनता है। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय भी विषय को अपनी सीमा में लेकर ही रसप्रत्यय में समर्थ होती है। यही अवस्था घ्राणादि इतर इन्द्रियों की है। दार्शनिकों का कहना है कि, चक्षुरिन्द्रिय विषय पर जाती है। अतएव इसे प्राप्यकारी मानना चाहिए। परन्तु वैज्ञानिक कहते हैं कि—**'सर्वाणीन्द्रियाणि–इन्द्रियत्त्वेन समानधर्म्मोपेतानि'** इस न्याय से चक्षु भी अप्राप्य-कारी ही है। चक्षु के तेजोमय जिस साममण्डल का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वह चक्षुरिन्द्रिय का अपना जगत् है, अपना मण्डल है, स्व–वित्त है। विषय को स्वयं इस मण्डल में आना पड़ता है। चाक्षुष-तेजोमण्डल चक्षुर्बिन्दु को छोड़ कर विदूरस्थ विषय पर अनुधावन नहीं कर सकता। यदि चक्षुरिन्द्रिय का चक्षु-र्गोल को छोड़ कर बाहिर निकलना दार्शनिक किसी प्रकार सिद्ध कर देते, तो अवश्य ही इस सम्बन्ध में उनका अप्राप्यकारित्त्व सिद्धान्त सुरक्षित रह सकता था। मानना पड़ेगा कि, चक्षुरिन्द्रिय सदा स्वस्थान में हीं प्रतिष्ठित रहती है। अतएव कहना पड़ेगा कि चाक्षुषमण्डल चक्षुर्बिन्दुव्यास से नद्ध होता हुआ नियत स्थान पर ही प्रतिष्ठित रहता है। इसी आधार पर दार्शनिकों को मान लेना पड़ेगा कि, न तो चक्षु ही विषय पर जाता, न

(३२८, तथा ३२९ के मध्य मे)

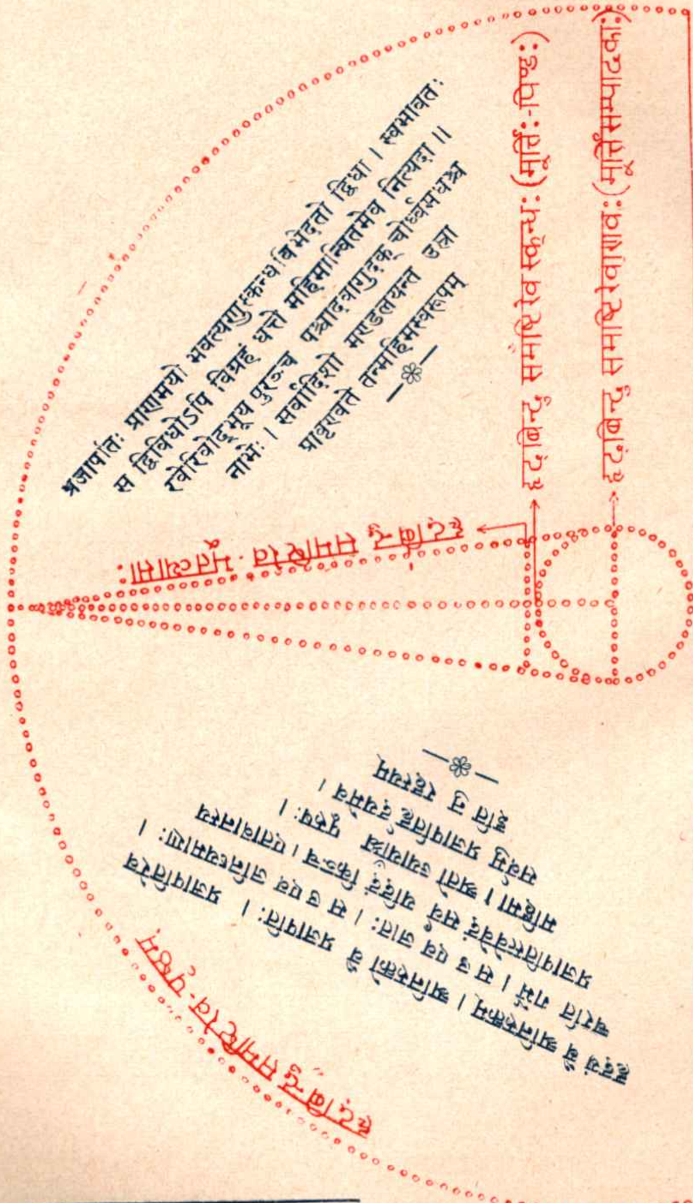
(१६)—छन्दोवेदात्मक-विष्कम्भवितानपरिलेख :—



(३२८, तथा ३२९ के मध्य में)

(१७)–व्यासाणुसाहस्रीवितानपरिलेखः—

(भूतव्यासानां परितो वितानम्)

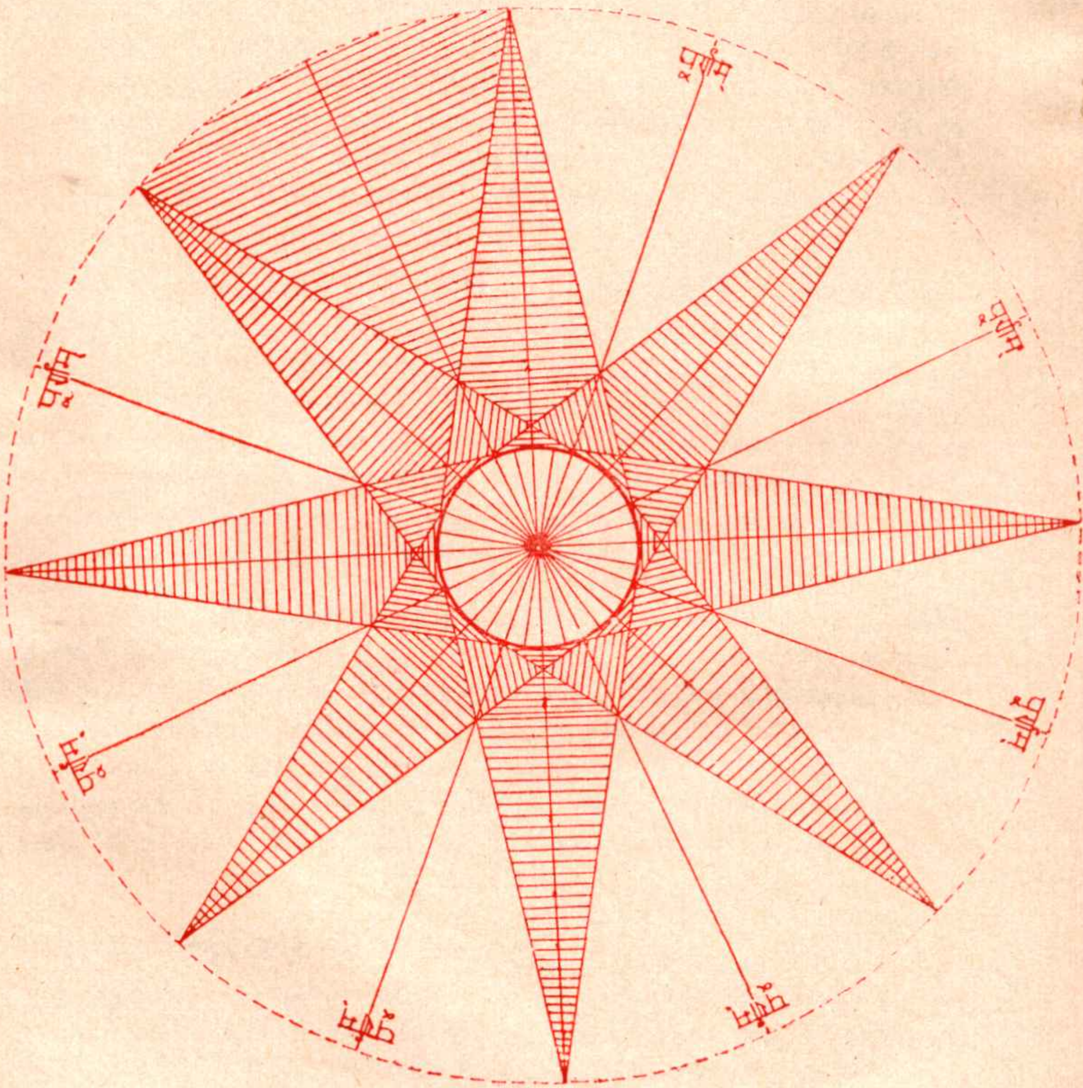


श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३२८, तथा ३२९ के मध्य में)

(१८)—व्यासानुगतपरिणाहसाक्षीवितानपरिलेखः—

(भूतव्यासानुगत—परिणाहभावानां परितो वितानम्)



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

[illegible]

चाक्षुष साममण्डल ही विषय पर जा सकता। फलतः इतरेन्द्रियवत् चक्षु का भी अप्राप्यकारित्व ही सिद्ध हो जाता है।

तो क्या विषय चक्षु पर आता है ?, उत्तर मिलेगा, नहीं। जो हेतु चक्षु के विषय पर न जाने का है, वही हेतु विषय के चक्षु पर न आने में समझिए। प्रत्येक भौतिक पदार्थ स्वस्थान में प्रतिष्ठित है। वह चल कर चक्षु पर आ गया, अथवा चक्षु पर आ गया, यह मान लेना तो बुद्धि का उपहास होगा। यदि इस उपहास का अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए हम अभिनन्दन कर भी लें, तब भी बात ठीक नहीं बैठती। हम मान लेते हैं कि, भौतिक विषय के थोड़े परमाणु ही हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर आ जाते हैं। यदि सचमुच ऐसा है, तब तो वस्तुपिण्ड की थोड़े ही समय में उत्क्रान्ति हो जानी चाहिए। क्योंकि दृष्टिद्वारा उसके परमाणु विलीन हो रहे हैं। यदि एक ही वस्तु को एक सहस्र, अथवा परमाणुसंख्यानुरूप एक सहस्र से अधिक, अथवा कम व्यक्ति एक ही समय में देखने लगेंगे, तो परमाणूत्क्रान्ति से वस्तु तत्काल उत्क्रान्त हो जायगी। परन्तु ऐसा नहीं होता। असंख्यात मनुष्यों की दृष्टि के विषय बनते हुए भी भौतिक पदार्थों के परमाणुसंघठन में कोई ह्रास नहीं होता। अतएव मानना पड़ेगा कि, विषय चक्षु पर नहीं आता।

इस के अतिरिक्त यदि विषय का चक्षु पर आगमन मान लिया जायगा, तो एक संकट और उपस्थित हो जायगा। चक्षुरिन्द्रिय के स्वरूप पर होने वाले आघातरूप संकट की बात छोड़िए। प्रधान संकट तो यह होगा कि, समीपस्थ, विदूरस्थ विषय सब को समानाकार ही प्रतीत होनें लगेंगे (होने चाहिएँ)। जब वस्तु ही आँख पर आ रही है, तो समीपस्थ वस्तु विदूरस्थ की अपेक्षा क्यों बड़ी प्रतीत हो, एवं विदूरस्थ वस्तु समीपस्थ की अपेक्षा क्यों छोटी प्रतीत हो। हम देखते हैं कि, पुरोऽवस्थित वस्तुपिण्ड से हम ज्यों ज्यों दूर हटते जाते हैं, त्यों त्यों उसकी आकृति छोटी दिखलाई देने लगती है। एवं ज्यों ज्यों हम इस के समीप आते जाते हैं, त्यों त्यों वस्तुस्वरूप बड़ा प्रतीत होने लगता है। विषयागमनद्वारा इस प्रत्यक्षदृष्टि का भी समाधान नहीं किया जा सकता। इसलिए भी यह निश्चयरूप से कहना पड़ेगा कि, विषय भी (चक्षुर्वत्) चक्षु पर नहीं आता।

चक्षु विषय पर जाता नहीं, विषय चक्षु पर आता नहीं, फिर भी विषयदर्शन हो रहा है, यह कैसा आश्चर्य है। यदि विषय चक्षु पर नहीं आता, तो आँखें किसे देखतीं है ?, यदि आँखें विषय पर नहीं जातीं, तो किस के लिए 'अहं पश्यामि' अभिनय होता है ?। वैज्ञानिक उत्तर देते हैं—"**सर्वं वै अनिरुक्तम्**"। विश्व के यच्च-यावत् पदार्थ अनिरुक्त हैं, अनिर्वचनीय हैं, दृश्यजगत् से बाहिर की वस्तु हैं। हम जो कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं, वह हमारी सृष्टि है, हमारे हृद्यप्रजापति का अन्तर्जगत् है। जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के अन्तर्विचारों का, अन्तर्जगत् का प्रत्यक्ष करने में असमर्थ है, तो वही मनुष्य महामहिममय इस विश्वको, विश्व के पदार्थों को, ईश्वरीय जगत् को कैसे देख सकता है ?। जीव कभी ईश्वरजगत् के दर्शन नहीं कर सकता।

३३–अन्तर्जगत्, और बहिर्जगत्—

विश्वविवर्त को **'अन्तर्जगत्' बहिर्जगत्'** भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। स्व-ज्ञानसीमा के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला जगत् अन्तर्जगत् कहलाएगा, एवं स्वज्ञानसीमा से बहिर्भूत जगत् बहिर्जगत् माना जायगा। पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यबल्शात्मक पाञ्चभौतिक महाविश्व **'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि**

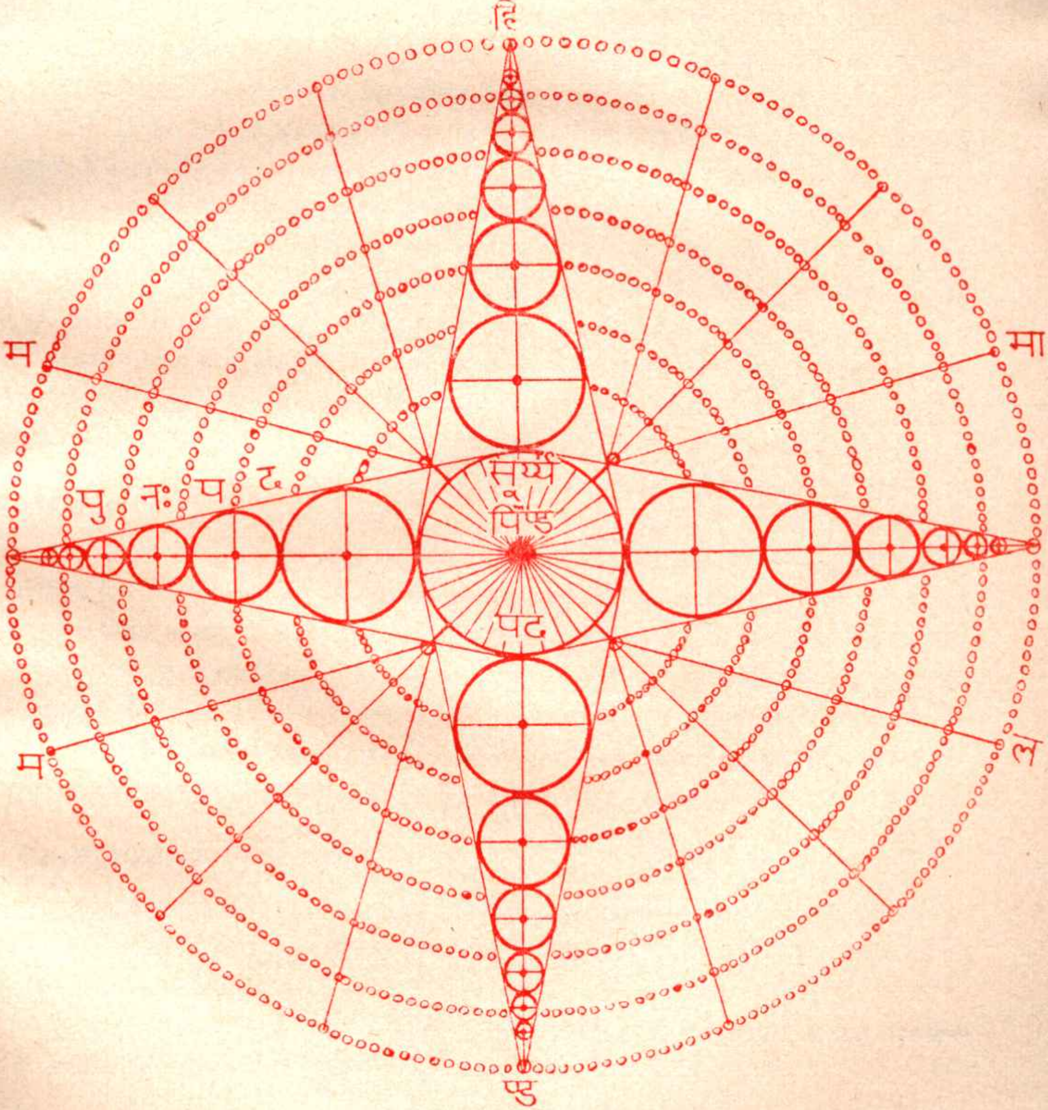
विश्वा' के अनुसार सर्वज्ञ ईश्वर के ज्ञानमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित है। अतएव ईश्वरीय ज्ञानापेक्षया इस महाविश्व को हम ईश्वर का अन्तर्जगत् कहेंगे। वही अन्तर्जगत् जीव की ज्ञानसीमा से बहिर्भूत है, अतएव जीवज्ञानापेक्षया इसी ईश्वरीय अन्तर्जगत् को बहिर्जगत् कहा जायगा। हम (जीव) सूर्य्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, पृथिवी, जल, पाषाण, आदि आदि जितनें भी पदार्थ देख रहे हैं, देखते है, देखेंगे, वे सब ईश्वरीय अन्तर्जगत के सूर्य्य-चन्द्रमादि से सर्वथा पृथक् पदार्थ हैं। हम अपने बनाए हुए ही पदार्थों को देखते हैं। हमें इसी सूर्य्य का प्रत्यक्ष हो रहा है, जिसका निर्म्माण भी चक्षुरिन्द्रिय के सहयोग से हमारे ज्ञान के द्वारा (प्रज्ञान-द्वारा) ही हुआ है, एवं जो प्रतिष्ठित भी हमारे ज्ञानमण्डल की सीमा के गर्भ में ही है। कैसे ?, इसका एकमात्र उत्तर वही प्रक्रान्त वितानवेद है।

सूर्य्यपिण्ड वस्तुपिण्ड है। इसमें उसी हृदयबिन्दु के आधार पर एक बहिर्मण्डल और बनता है। हृदय-व्यास-परिणाहों के उत्तरोत्तर वितान से सूर्य्यरश्मियों का एक महिमामय मण्डल बन रहा है। सूर्य्य की एक रश्मि ले लीजिए, और विचार कीजिए कि, इस रश्मि का क्या स्वरूप है ?। अन्वेषण करने पर आप इस तथ्य पर पहुँचेंगे कि, जो सूर्य्यमूर्त्ति स्वस्थान में महामहा थी, वही उत्तरोत्तर बड़ी-छोटी के धारावाहिक क्रम से रश्मिरूप में परिणत हो रही है। सूर्य्य में सहस्ररश्मियाँ मान लीजिए। प्रत्येक रश्मि सहस्र केन्द्र-बिन्दुओं की चिति है। प्रत्येक हृदयबिन्दु दीर्घ-ह्रस्व व्यास से युक्त है, एवं प्रत्येक व्यास बड़े-छोटे परिणाह से घिरा हुआ है। मूर्त्ति का यही तो प्रातिस्विक स्वरूप है, जिसका छन्दोवेदनिरुक्ति में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। क्योंकि केन्द्रबिन्दु एक सहस्र हैं, अतएव व्यास, परिणाह भी एक सहस्र हैं। फलतः केन्द्र-बिन्दुवितानलक्षणा प्रत्येक रश्मि में सहस्र-बड़ी छोटी सूर्य्यमूर्त्तियों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन सहस्र मूर्त्तियों की मूलाधार वस्तुपिण्डात्मिका वही महासूर्य्यमूर्त्ति है। यह इसका पद-रूप है, ये पुनःपद हैं, महिमाभाव हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

३४-सूर्य्यरश्मि, और सहस्रसूर्य्य—

उक्त परिलेख से पाठकों को विदित होगा कि, जिसे हम 'सूर्य्यरश्मि' कहते हैं, वह वस्तुतः सूर्य्य की एक सहस्र मूर्त्तियों का वितानमात्र है। इस वितान का मुख्य स्तम्भ भूतव्यास ही बनता है। विष्कम्भ ही ऋक् है, यही परिणाहात्मक साममण्डल से युक्त होकर मूर्त्तिभाव में परिणत होता है। सूर्य्यसंस्था उदाहरणमात्र है। वस्तुपिण्डमात्र में वस्तुपिण्डलक्षण छन्दोवेद के कूटस्थ व्यास को आधार मान कर वितत होने वाले एक एक भूतव्यास से निष्पन्न एक एक मूर्त्ति के पारस्परिक वितान से प्रतिव्यासपृष्ठीय केन्द्र-रश्मि में एक एक सहस्र मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित रहतीं हैं। इन 'सहस्रधा-महिमानः सहस्रम्' मूर्त्तियों का जो एक बृहन्मण्डल बनता है, वही तत्तत्पदार्थ का महिमामण्डल है। वस्तुपिण्ड चक्षुर्वत् स्थिर है, भूतपिण्ड भी स्वस्थान पर स्थिर है। दोनों के साममण्डल भी स्थिर हैं। यदि दोनों के साममण्डल परस्पर अतिमानभाव से युक्त हो जाते हैं, तो तत्काल विषयसाम के प्रदेशविशेष में रहने वाली आकारविशेषयुक्ता मूर्त्ति का चाक्षुषसाम के द्वारा चक्षुर्गत प्रज्ञान मन में प्रतिबिम्ब उतर आता है। वही प्रतिबिम्बित वस्तुमूर्त्ति हमारे प्रत्यक्ष का कारण बनती है। इसी के लिए 'अहं पश्यामि' यह अभिनय होता है। पहिले एक स्थान पर हमनें यह कहा था कि, वस्तुपिण्ड का हम स्पर्श कर सकते हैं, देख नहीं सकते। देखते हैं महिमामण्डलान्तर्वर्ती मूर्त्तिभाव को। परन्तु आज हमें यह कहना पड़ेगा कि, जिस प्रकार वस्तुपिण्ड प्रत्यक्षातीत है, वैसी ही वस्तुमहिमा भी प्रत्यक्ष से बाहिर की ही वस्तु

(१९)-सूर्य्यानुगत-उक्थामद (मूर्त्ति) वितानपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

है। हाँ बाह्य सीमा को प्रत्यक्ष का आलम्बन अवश्य माना जा सकता है। इसी परिस्थिति का यों अभिनय किया जा सकता है कि, बहिर्जगत् , किंवा बहिर्जगत् के पदार्थ हमारे अन्तर्जगत् के निर्म्माण के आलम्बन बनते हैं। बहिर्जगत् के पदार्थों के महिमामण्डल के जिस प्रदेश की मूर्त्ति पूर्वोक्त चाक्षुषसाम के प्रोताक्षबिन्दु (सम्पातबिन्दु) पर संक्रमण करती है, उसी संस्काररूपा मूर्त्ति को प्रज्ञानज्ञान अपने अन्तर्जगत् की वस्तु बना लेता है। ज्यों-ज्यों हम वस्तुपिण्ड के समीप जाते हैं, त्यों-त्यों महिमामयीं मूर्त्तियाँ हमें बृहदाकार से युक्त मिलतीं हैं। ज्यों-ज्यों वस्तुपिण्ड से दूर होते जाते हैं, त्यों त्यों अल्पाल्प मूर्त्तियों का सहयोग प्राप्त होता है। एकमात्र इसी हेतु से वस्त्वाकारप्रतीति में बड़ी-छोटी का भेद रहता है। प्रोताक्षबिन्दु से मिलने वाली महिमामयी मूर्त्ति के आधार पर जो ज्ञानीय मूर्त्ति बनती है, वह हमारे अन्तर्जगत् की प्रातिस्विक वस्तु बन जाती है। यही हमारे आत्मा की 'अशीति' है, यही ब्रह्मौदन है। यह स्मरण रखने की बात है कि, हम किसी के भी ब्रह्मौदन का भोग किसी भी अवस्था में नहीं कर सकते। * **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार केवल प्रवर्ग्यांश ही (परित्यक्त भाग ही) अन्य आत्मसंस्था का भोग्य बनता है। मण्डलावच्छिन्न मूर्त्तियाँ नभ्यप्रजापति के ब्रह्मौदन हैं। इन्हें दूसरा नभ्यप्रजापति कैसे अपना भोग्य बना सकता है?। इन ब्रह्मौदनरूपा सहस्रमूर्त्तियों के आधार पर उत्पन्न प्रतिबिम्बलक्षण सर्वथा अपूर्व मूर्त्तियाँ हीं इसका प्रवर्ग्य है। यही दूसरों में भुक्त होकर उसका ब्रह्मौदन है। यही ब्रह्मौदन अन्तर्जगत् है। जिस बहिर्जगल्लक्षण ब्रह्मौदन के आधार पर हमारे अन्तर्जगल्लक्षण जिस ब्रह्मौदन का अपूर्व प्रादुर्भाव होता है, वह बहिर्जगत् से पुनः कोई सम्बन्ध न रखता हुआ अपनी स्वतन्त्र संस्था बना लेता है। एक वस्तु का हमनें प्रत्यक्ष किया। प्रतिबिम्ब नियम से उसका ज्ञानीय आकार बन गया। अब वह वस्तु (जिसके आधार पर ज्ञानीय जगत् बना है) भले ही नष्ट-भ्रष्ट-जीर्ण-शीर्ण हो जाय, परन्तु हमारी ज्ञानीय वस्तु (ज्ञानाकाराकारित वस्तु) की इससे कोई क्षति नहीं होती वस्तुप्रदेश से सैंकड़ों कोस दूर चले आने पर भी हमारी वह ज्ञानीय वस्तु ज्ञानक्षेत्र में प्रत्यक्षवत् स्फुट बनी रहती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि, हम जो कुछ देखते हैं, वह (बहिर्जगत् की मण्डलमयी मूर्त्तियों के आधार पर) हमारी बनाई हुई है, हमारी ज्ञानसीमा में प्रविष्ट है, हमारा ब्रह्मौदन है, हमारा प्रातिस्विक वित्त है। इसे दूसरा कोई नहीं बटा सकता। प्रत्यक्षवत् गन्ध-रस-आदि इतर विषयमात्र के सम्बन्ध में भी यही नियम समझना चाहिए। पुष्प से गन्ध निकल कर हमारे नासाछिद्र में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता। अपितु गन्धमण्डल के आधार पर घ्राणेन्द्रियस्थान में तत्काल नवीन गन्ध का आविर्भाव होता है। इस आविर्भाव में इन्द्रिययोग्यता तारतम्य से तारतम्य हो जाता है। जिसकी इन्द्रिय गन्धमण्डल के सम्पर्क में नह आती, वह भी गन्धाविर्भाव से वञ्चित रह जाता है, एवं जिसमें पहिले से गन्धोक्थ का अभाव है, वह मण्डलानुवर्त्ती बनता हुआ भी गन्धाविर्भाव से वञ्चित रह जाता है।

३५-तात्कालिक विषयप्रत्यक्ष—

निष्कर्ष यही हुआ कि, ऐन्द्रियक जितनें भी विषय हैं, त्वगिन्द्रिय को छोड़ कर सब तात्कालिक हैं हमारे निर्म्माणविशेष हैं। सब को हम अपने मण्डल में (अपने बनाए हुए) ही देखते हैं। सामान्यवर्ग इस

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' प्रथमखण्ड के उक्त मन्त्रभाष्य के **'प्रवर्ग्यविद्या'** नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

सम्बन्ध में यह प्रश्न कर सकता है कि, यदि सूर्य्य-चन्द्रादि हमारे बनाए हुए हैं, एवं इनका हम अपने चाक्षुष-मण्डल में हीं प्रत्यक्ष करते हैं. तो उस दूरी का क्या तात्पर्य्य है, जो वस्तु प्रत्यक्ष के साथ बद्ध है । हम सूर्य्य को हमसे बड़ी दूर खगोल में प्रतिष्ठित देखते हैं । एवमेव जो पदार्थ जहाँ जिस समीप, अथवा विदूर प्रदेश में प्रतिष्ठित है, उसकी उसी प्रदेश में प्रतीति होती है। यदि हम ही इनके निर्म्माता हैं, यदि हमारे चाक्षुष धरातल पर ही इनका हमारे ही ज्ञान से आविर्भाव हुआ है, तो सामीप्य-विदूरत्व नहीं रहना चाहिए । परन्तु रहता है । इसी आधार पर अमुक वस्तु यहाँ, अमुक वहाँ, इत्यादि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं ।

सामान्य वर्ग की उक्त प्रश्नावली ठीक है । परन्तु विज्ञानदृष्टि इस का 'चित्र' द्वारा समाधान कर रही है । एक दर्पण के सामने हम खड़े हो जाते हैं । हमारा चित्र बहिर्व्याप्तिलक्षण विभूतिसम्बन्ध से दर्पणस्तर पर प्रतिबिम्बित हो जाता है । दर्पणस्तर घन है । उनमें न पीछे हटने के लिए स्थान है, न आगे बढ़ने के लिए कोई प्रदेश । परन्तु हम देखते हैं कि, ज्यों ज्यों हम दर्पण के समीप जाते हैं. त्यों त्यों ऐसा प्रतीत होता है, मानों दर्पणस्था हमारी आकृति उत्तरोत्तर आगे आ रही हो । एवमेव दर्पण से विदूर हटने पर दर्पणस्था आकृति दर्पण के भीतर उत्तरोत्तर विदूर हटती जाती है । वस्तुतः ऐसा है नहीं, परन्तु प्रतीत हो रहा है, यही तो आश्चर्य्य है । भारतीय वैज्ञानिकों नें इस आश्चर्य्य के मूलतत्त्व को भी खोज निकाला है । वही मूलतत्त्व भारतीय विज्ञानशास्त्र में **'अभ्व'** * नाम से प्रसिद्ध हुआ है ।

३६-चित्र की चित्रता—

आश्चर्य्यवत् प्रतीत होने वाला यह आकृतिभाव, समानदर्पणधरातल पर प्रतीत होने वाले आश्चर्य्यमय नासिका-मुख-शिरः-कटि-पाद-अंगुलि-आदि की पृथक्-पृथक्-आयाम-उच्छ्राय-विस्तार रूप से प्रतीति, सब इसी अभ्व की महिमा है । यही दर्पणस्थ चित्र का चित्रत्व है । आश्चर्य्यमय भाव के लिए संस्कृतसाहित्य में 'चित्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है । जिस अर्थ में पाश्चात्यभाषा 'फोटो' शब्द का प्रयोग करती है, उसी अर्थ में 'चित्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है । तस्वीर में हम देखते हैं कि, चित्रित व्यक्ति, एवं पुरोऽवस्थित प्रदेशादि यथानुरूप व्यवस्थित रहते हैं । यदि करस्पर्श करते हैं, तो तस्वीर का कोई प्रदेश ऊँचा-नीचा-समीप-विदूर नहीं है । परन्तु प्रतीत होने वाले प्रतिबिम्ब प्रदेशादि उच्चावच-भावों से युक्त हैं । विदित होता है, उद्यानपथ बड़ा लम्बा जा रहा है । उद्यान का अमुक वृक्ष चित्र के समीप है, अमुक विदूर । चित्र स्वयं अवयवों के सामीप्यादि भावों से युक्त है । बात यह है कि, जिस प्रोताक्षबिन्दु (फोकस) पर चित्रग्राहक यन्त्र (कैमरा) के तेजोमण्डलद्वारा हमारे प्रतिबिम्ब का आधान होता है, इसके साथ साथ ही सामीप्यादि भाव भी आहित हो जाते हैं । ठीक यही परिस्थिति चाक्षुषमण्डल की समझिए । जिस प्रकार चाक्षुषप्रज्ञान उस मूर्त्ति के आधार पर सूर्य्य बना डालता है, एवमेव दूरी का भी प्रवर्त्तक बना रहता है । सीधी भाषा में यों कहा जा सकता है कि, सूर्य्य के साथ साथ दूरी की तस्वीर भी आखों में उतर आती है । इसप्रकार हम अपनें ही चाक्षुषमण्डल में पदार्थों के साथ साथ पदार्थों के सामीप्य-विदूरत्वादि भावों की भी प्रतीति करने लगते हैं । भूपिण्ड की अपेक्षा

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' द्वितीय खण्डान्तर्गत 'ब्रह्मकर्म्म-परीक्षा' के-'ब्रह्म, कर्म्म-अभ्ववाद' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए ।

कई गुणा बृहत् सूर्य्य ही खगोल में प्रतिष्ठित हैं। यदि हम इतना बड़ा सूर्य्य देख सकते, तो अवश्य ही यह कह सकते कि, हम दूर खगोल में सूर्य्य देख रहे हैं। पृथिवी से भी बड़ी दूर तक व्याप्त सौररश्मिरूपा मण्डलात्मिका मूर्त्तियों में से यदाकाराकारिता मूर्त्ति का पृथिवी के साथ सम्बन्ध हो रहा है, तदाकाराकारिता मूर्त्ति के आधार पर तदाकाराकारित हो ज्ञानीय सूर्य्य का निर्म्माण होता है।

३७–परोक्षप्रिय देवता—

यदि समानाकार से युक्त सौ दर्वाजे एक के आगे एक, इस क्रम से बनाएँ जायँगे, एवं सब से अन्त के दर्वाजे पर खड़े हो कर इन सौ दर्वाजों पर हम दृष्टि डालेंगे, तो ऐसा प्रतीत होगा, मानो एक दर्वाजा दूसरे के भीतर है। यहाँ तक कि उस छोरका दर्वाजा सब से छोटा दिखलाई देगा। दर्वाजे सब समानाकार हैं। फिर यह प्रतीतिवैषम्य क्यों ?। उत्तर वही साममण्डल है। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है, और निश्चयेन कहा जा सकता है कि, विश्व के किसी पदार्थ का हम साक्षात्कार नहीं कर सकते। हमारे लिए बहिर्जगत् के सब पदार्थ परोक्ष हैं, अनिरुक्त हैं। **'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः'** यह वचन भी इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रहा है। स्वस्वरूप से परोक्ष रहते हुए भी देवता संघातरूप * ये पदार्थ ही आलम्बनरूप से प्रत्यक्ष का कारण बनते हैं, यही सूचित करने के लिए **'इव'** पदका सन्निवेश कर दिया गया है। इन सब परिस्थितियों के आधार पर उस मूल प्रश्न के सम्बन्ध में हमें इस निर्णय पर पहुँचना पड़ा कि, न तो चक्षुरिन्द्रिय विषय पर जाती, एवं न विषय चक्षु पर आता। अपितु चाक्षुष, तथा वैषयिक साममण्डलों का परस्पर अतिमान होता है। इसी से तत्काल प्रज्ञानद्वारा वस्तुस्वरूप का उदय होता है। उसी के लिए 'अहं-पश्यामि' यह अभिनय होता है। वर्त्तमानविज्ञान भी इस सम्बन्ध में यह तो मान ही रहा है कि, पार्थिव-पदार्थों के साथ प्रकाश–किरणों का सम्बन्ध होता है। प्रकाशकिरणें वस्त्वाकार में परिणत हो कर प्रतिफलित होतीं हैं। प्रतिफलित, वस्त्वाकाराकारित सौर रश्मि ही चक्षुस्थान पर आके वस्तुप्रतीति का कारण बनती है। हमारे प्राच्यविज्ञानने जहाँ इस भौतिक विज्ञानदृष्टि की अपेक्षा कहीं अधिक तथ्य का अनुगमन किया है, वहाँ—**'चक्षोः सूर्य्यः'–'आदित्यो वै देवचक्षुः'**–'सूर्य्यश्चक्षुर्भूत्वा'–**'कश्यपः पश्यको भवति'** इत्यादि-रूप से इस भौतिक दृष्टि का भी समर्थन किया ही है।

३८–परोह्वयः–पर उर्व्यः–रहस्य—

अब इसी वितानवेद के सम्बन्ध में 'परोह्वयः'–'पर उर्व्यः' इन दो साङ्केतिक शब्दों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। ऋक् को 'परोह्वयः' कहा जाता है, साम को 'पर उर्व्यः' माना गया है। मूर्त्ति ऋक् है, मण्डल साम है। कूटस्थ व्यासावच्छिन्न महामूर्त्तिपिण्ड से सम्बद्ध भूयव्यासावच्छिन्न मण्डलात्मिका सहस्र–सहस्र मूर्त्तियाँ उत्तरोत्तर छोटीं होतीं जातीं हैं। क्योंकि व्यासस्थ पार्श्वबिन्दुओं का उत्तरोत्तर ह्रसन है। इसीलिए मण्डल की अन्तिम परिधि में मूर्त्ति का आकार बिन्दुमात्र रह जाता है, जैसाकि 'सूर्य्यमूर्त्ति-वितानपरिलेख' में स्पष्ट किया जा चुका है। महिमामण्डल से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक मूर्त्ति के समप्रदेश

---

* **"जायमानो वै जायते, सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः"। "देवेभ्यश्च जगत्-सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः"।**

से एक एक स्वतन्त्र मण्डल बनाते जाइए । सहस्र मूर्तियों के ऐसे सहस्र मण्डल बन जायँगे । इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखिए कि, मूर्तियाँ तो प्रत्येक रश्मिवितान में एक एक सहस्र हैं । फलतः इन को तो सहस्र–साहस्रियाँ हो जातीं हैं । परन्तु चारों ओर की मूर्तियों के समानप्रदेश से सम्बन्ध रखने वाले ये स्वतन्त्र मण्डल एक सहस्र ही बनेंगे । साथ ही आप देखेंगे कि, विष्कम्भावच्छिन्न ये मूर्तियाँ जहाँ उत्तरोत्तर छोटी बनती हुई 'परोह्वयः' हैं, वहाँ ये स्वतन्त्रमण्डल उत्तरोत्तर बड़े बनते हुए 'पर उर्व्यः' हैं । ये ही मण्डल विताननवेद हैं, यही सामवेद है । तेज का स्वभाव है कि, वह मूल से तूल की ओर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकसित होता है । दीपार्चि (दीपशिखा–दीप लौ) ऋक् है । यह केन्द्र से उत्तरोत्तर छोटी है । परन्तु प्रकाशमण्डल उत्तरोत्तर बृहत् है । इसी आधार पर तेजोमय इस साम का—"**सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्**" यह लक्षण किया जाता है । ऋङ्मूर्ति ह्रस्वपरा होगी, साममण्डल दीर्घपर होंगे । प्रत्यक्ष होता है महिमामयी मूर्ति का । ये उत्तरोत्तर ह्रस्व हैं, छोटीं हैं । अतएव वस्तु उत्तरोत्तर छोटी दिखलाई देती है । साथ ही जिस प्रदेश पर खड़े होकर हम मूर्ति का जितना बड़ा आकार देख रहे हैं, उस प्रदेश से बनने वाले मण्डल पर जितनें व्यक्ति खड़े हो कर वस्तु पर दृष्टि डालेंगे, वे सब उसे समानाकार ही देखेंगे । मूर्तिसाम्य का प्रयोजक 'पर–उर्व्यः' साम बना है, मूर्तिदृष्टि का आलम्बन 'परोह्वयः' ऋक् बनती है, यही तात्पर्य है ।

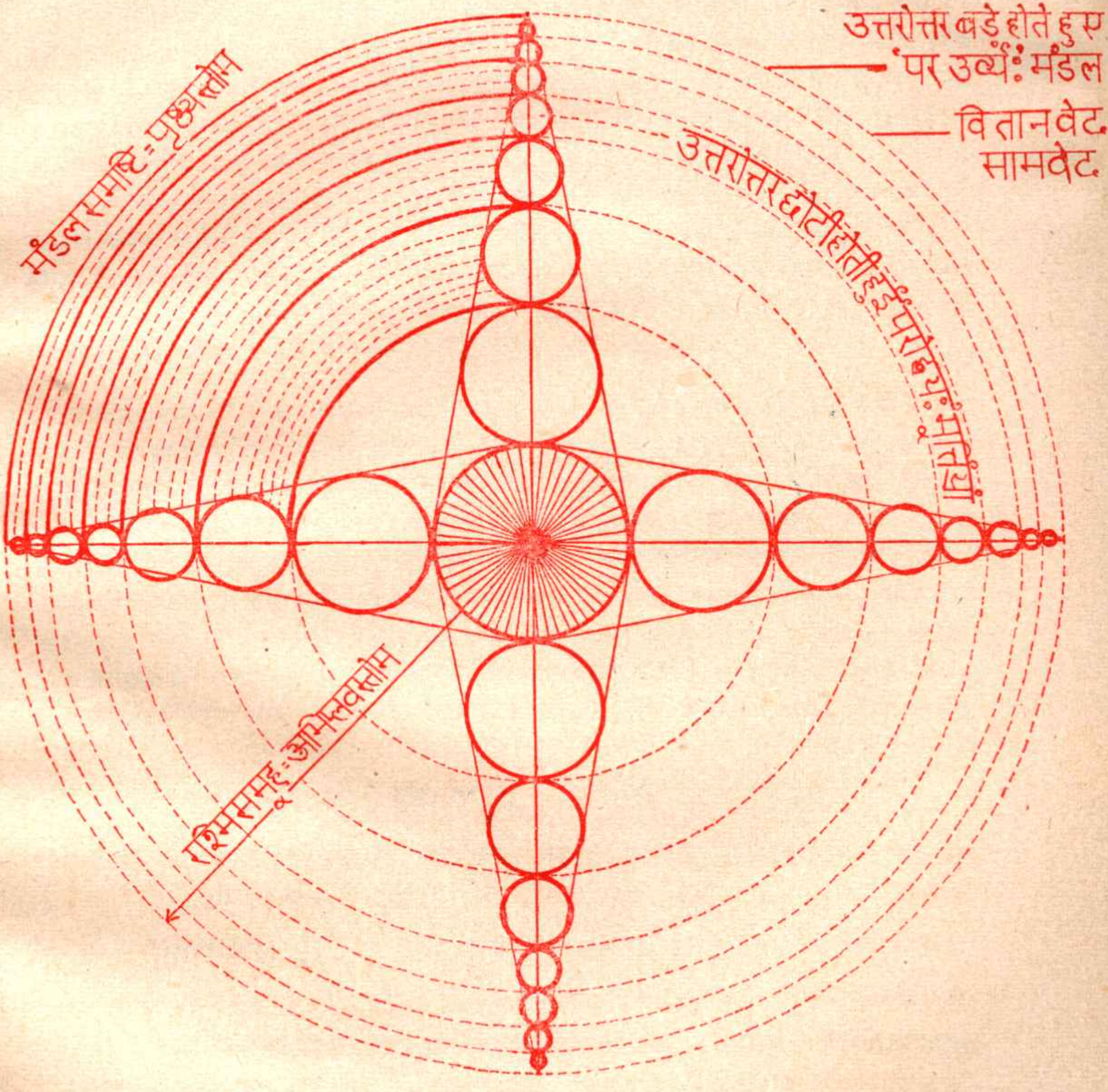
३९–अभिप्लव,एवं पृष्ठ्य-स्तोमविज्ञान—

विताननलक्षण सामवेद का स्वरूप प्रक्रान्त है । यह कहा जा चुका है कि, वितानात्मक पर उर्व्यः मण्डल का ही नाम साम है । छन्दोवेदलक्षणा ऋग्वेदत्रयी के अनुसार वितानलक्षणा सामवेदत्रयी भी विशुद्ध आयतन रूप है, वयोनाधलक्षणा है । आयतनत्रयी में प्रतिष्ठिता, वयोलक्षणा रसात्मिका यजुर्वेदत्रयी इन दोनों त्रयीभावों से सर्वथा पृथक् , किन्तु दोनों में व्याप्त तीसरी वेदत्रयी है, जिसका अनुपद में हीं स्पष्टीकरण होने वाला है । इन पंक्तियों से पहिले पहिले इस वितानसामनिरुक्ति–प्रकरण में जो कुछ कहा गया है, वह रसात्मिका यजुर्वेदत्रयी, एवं वितानात्मिका वेदत्रयी, दोनों से सम्बन्ध रखता है । व्यास, मध्यरेखा, मूर्त्ति, इन तीन पूर्वोक्त भावों का रसवेदत्रयी से सम्बन्ध है । मण्डलों का वितानवेदत्रयी से सम्बन्ध है । अब यहाँ से मण्डलात्मिका वितानत्रयी की निरुक्ति आरम्भ होती है । विष्कम्भ, मध्यरेखा, मूर्त्ति, रसत्रयी से सम्बद्ध इन तीनों भावों को छोड़ते हुए मूर्त्तिपृष्ठात्मक, सहस्रमण्डलात्मक सामवेद में साम कौन है ?, ऋक् कौन है ?, यजुः कौन है ? यह विचार करना है । दूसरे शब्दों में केवल मण्डल में रहने वाली सामत्रयी का क्या स्वरूप है ?, अब यह स्वतन्त्ररूप से मीमांस्य है ।

सामस्वरूपमीमांसा से पहिले तत्सम्बद्ध **'पृष्ठविज्ञान'** की मीमांसा कर लेना आवश्यक होगा । क्योंकि मण्डल ही साम है, एवं मण्डल ही 'पृष्ठ' है । इस पृष्ठ–स्वरूप परिज्ञान के लिए 'स्तोमविज्ञान' स्वतः मीमांस्य बन जाता है । अतः सर्वप्रथम इसी का दिग्दर्शन करा देना उचित होगा ! स्तोमशब्द 'राशि' (ढेर) का वाचक है । प्रत्येक पदार्थ से सम्बन्ध रखने वाला यह स्तोम **'अभिप्लवस्तोम'–'पृष्ठ्यस्तोम'** भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है । प्रत्येक वस्तुपिण्ड से चारों ओर मण्डलाकाररूप में परिणत होकर उत्तरोत्तर प्रवृद्धावस्थापन्न प्रतिष्ठित रहने वाले परिणाहों की राशि 'पृष्ठ्यस्तोम' कहलाएगी । एवं प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र से आरम्भ कर निधन (उद्व्च) साम नामक, अन्तिम परिधिरूप अन्तिम पृष्ठ (मण्डल) पर्यन्त व्याप्त रहने

(३३४, तथा ३३५ के मध्य में)

(२०)—परिणाहात्मकसाममण्डलवितानपरिलेखः—



वाली रश्मिराशि 'अभिप्लवस्तोम' नाम से व्यवहृत होगी। मण्डलसमष्टि पृष्ठ्यस्तोम होगा, रश्मिसमूह को अभिप्लवस्तोम कहा जायगा।

रश्मिभाव केन्द्रबिन्दु का ही वैतानिकरूप बतलाया गया है। केन्द्रबिन्दुओं की सञ्चितिरूप इस ऋजु (सीधी) रश्मि के आधार पर सहस्र व्यासों का उद्गम होता है। व्यास से समतुलित, रश्मिभाव से सम्बद्ध मूर्त्तियाँ इन्हीं व्यासों पर प्रतिष्ठित हैं। इन मूर्त्तियों के आधार पर ही मण्डलात्मक सहस्र पृष्ठों का उदय बतलाया गया है। इसप्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि, हृद्बिन्दुसञ्चितिरूप रश्मिलक्षण अभिप्लव ही परम्परया मण्डलात्मक सहस्र पृष्ठों का जनक है। अभिप्लव पिता है, पृष्ठ इसके पुत्र हैं *। सूर्य्यसंस्था से आने वाले प्राणदेवता पार्थिव पदार्थों में प्रविष्ट रहते हैं। यह सौरप्राण ही (बृहतीप्राण ही) **'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** के अनुसार पार्थिव पदार्थों का आयुःसंरक्षक आत्मा बनता है। ये आत्मदेवता रश्मिवितानद्वारा ही उस सौर-सम्वत्सर में चित होते हैं। पार्थिव पदार्थों के प्राणदेवता रश्मियों के द्वारा ही रिरिचान सौर सम्वत्सरप्रजापति का पुनः सन्धान करने में समर्थ होते है। जिस प्रकार नदी के इस छोर पर रहने वाला मनुष्य जलतरङ्गों के आधार पर तैरता हुआ नदी के उस पार पहुँच जाता है, एवमेव ये प्राणदेवता सहस्रभावापन्न रश्मिस्थानीय तरङ्गों के आधार पर पुनः उस स्वर्गलोक (सौरसंस्था) में पहुँच जाते हैं। इस सन्तरण-साधन से ही इन रश्मिस्तोमों को 'अभिप्लव' कहा गया है +।

जिस प्रकार सौर अग्नि 'आदित्य' नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव पार्थिव अग्नि 'अङ्गिरा' नाम से प्रसिद्ध है। सौरप्राण का ही पार्थिव पदार्थों के साथ दो प्रकार से सम्बन्ध होता है। प्रवर्ग्य सम्बन्ध से पार्थिव पदार्थों की प्रातिस्विक वस्तु बन जाने वाला सौरप्राण अङ्गिरा है। बहिर्य्याम सम्बन्ध से पार्थिव पदार्थों को आयुः-प्रदान कर प्रतिफलनविधा से वापस लौट जाने वाला सौरप्राण आदित्य है। आदित्य, और अङ्गिरा, दोनों यहाँ से वहाँ जा रहे हैं। दोनों का लक्ष्यस्थान एक है, परन्तु गमनमार्ग भिन्न-भिन्न है। आदित्यप्राण अभिप्लव के द्वारा सौरसम्वत्सर में जाता है, अङ्गिराप्राण पृष्ठ्यस्तोम के द्वारा वहाँ पहुँचता है। अङ्गिराप्राण अपने अग्नि-वायु-आदित्यरूपों से क्रमशः त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश पृष्ठ्यस्तोमों का स्पर्श करता हुआ एकविंशात्मक सूर्य्यलोक में जा पहुँचता है। क्योंकि ये मण्डल अङ्गिरात्रयी के स्पृश्य-मण्डल हैं, अतएव इन्हें 'स्पृश्य' कहा जा सकता है। यही 'स्पृश्य' शब्द परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'पृष्ठ्य' नाम से व्यवहृत हुआ है।

---

* **"पिता वा अभिप्लवः, पुत्रः पृष्ठ्याः"** (गो० ब्रा० पू० ४।१७।)।

+ **"स सहस्रायुर्जज्ञे। स यथा नद्यै पारं परापश्येत्, एवं स्वस्यायुषः पारं पराचख्यौ"** (शत० ११।१।६।६।)।

"तद्यदभिप्लवमुपयन्ति, सम्वत्सरमेव तद्यजमानाः समारोहन्ति" (कौ०ब्रा०२०।१।)।

"स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त। यदभ्यप्लवन्त, तस्मादभिप्लवाः"(शत०१२।२।२।१०।)।

"ते एतेनाभिप्लवेनाभिप्लुत्य मृत्युं पाप्मानमपहत्य ब्रह्मणः सलोकतां सायुज्यतामापुः" (कौ० ब्रा० २१।१।)

आदित्य-गमनसाधक रश्मिसंचितिलक्षण अभिप्लवस्तोम, एवं अङ्गिरा-गमनसाधक, मण्डलसंचितिलक्षण पृष्ठ्यस्तोम, दोनों के इस तात्त्विक स्वरूप का निम्न लिखित दोनों वचनों मे स्पष्टीकरण हो रहा है—

अभिप्लवः— "आदित्याः स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त । यदभ्यप्लवन्त, तस्म दभिप्लवः"

—गो० ब्रा० पू० ४।२३।

पृष्ठ्यः—"आङ्गिरसाः सर्वैः पृष्ठैः स्वर्गं लोकमभ्यस्पृशन्त । यदभ्यस्पृशन्त, तस्मात् स्पृश्यः । तं वा एतं 'स्पृश्यं' सन्तं 'पृष्ठ्य' इत्याचक्षते परोक्षेण" ।

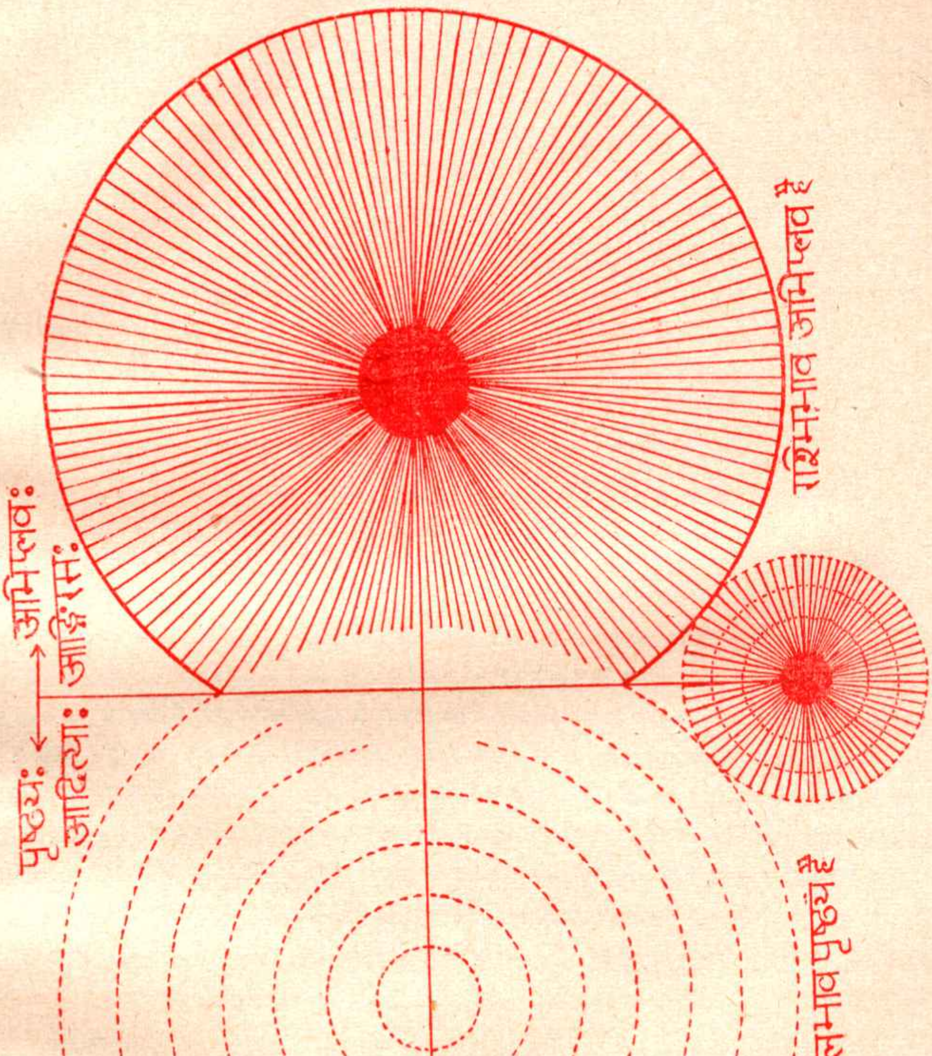
—गो० ब्रा० पू० ४।२३ ।

अभिप्लव रश्मिरूप हैं, पृष्ठ्य मण्डलात्मक हैं । रश्मियाँ भी एक सहस्र हैं, मण्डल भी एक सहस्र हैं । इस दृष्टि से तो दोनों समतुलित हैं । परन्तु दोनों के अवान्तर संस्थानों के स्वरूप में आगे जाकर भेद हो जाता है । अभिप्लवस्तोम ३६० संख्या को मूलाधार बनाते हुए अहोरात्रपर्वों के सम्पादक बनते हैं, पृष्ठ्यस्तोम '६-३' के क्रम से ६ भागों में विभक्त होते हुए लोकचतुष्टयी के प्रवर्त्तक बनते हैं, जिनका अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है । यहाँ दो बातों पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है । वस्तुकेन्द्रानुगामी सहस्र रश्मि-मण्डल अभिप्लव है, इसका आयुःप्रवर्त्तक सौर आदित्यप्राण (बृहतीप्राण) से सम्बन्ध है, यह एक दृष्टि है । वस्तुमूर्त्यनुगामी सहस्र साममण्डल पृष्ठ्य है, इसका लोकप्रवर्त्तक (शरीरप्रवर्त्तक) पार्थिव अङ्गिराप्राण से सम्बन्ध है, यह एक दृष्टि है । इन दोनों दृष्टियों के आधार पर प्रत्येक वस्तुपिण्ड में निम्न लिखितरूप से दोनों स्तोमों का स्वरूप उपभुक्त देखा जा सकता है ।

पहिले संक्षेप से आङ्गिरस सहस्र पृष्ठों का ही विचार कर लीजिए । इन सहस्र पृष्ठों के (जो कि मनः-प्राणगर्भित वाङ्मय गौतत्त्वात्मक हैं) ३०-३० गौके संकलन से ३३ अहर्गण हो जाते हैं । ९९० संख्या पूरी हो जाती है । १० शेष रह जाते हैं । सृष्टिधारा का विकास इसी शेषांश से हुआ है, होता है । पूर्व की छन्दोवेद-निरुक्ति में स्पष्ट किया गया था कि, व्यास की अपेक्षा त्रिगुणित रहने वाला परिणाह तिगुने से कुछ अधिक होता है । वही आधिक्य इस मण्डल में भी प्रतिष्ठित है, जिसकी उपपत्ति तन्निरुक्ति में ही बतलादी गई है । इन्हीं सहस्र भावों का यदि छन्दो दृष्टि से वितान किया जाता है, तो ४८ अहर्गण होते हैं । इन ४८ के आधार पर '२४-४४-४८' इस क्रम से छन्दोमा नामक तीन युग्मस्तोमों का आविर्भाव होता है । एवं ३३ के आधार पर '९-१५-१७-२१-२७-३३' इस क्रम से ६ अयुग्मस्तोमों का आविर्भाव होता है । क्योंकि सहस्र पृष्ठों का एकावसान इन ६ स्तोमों में हो जाता है, अतएव इन ६ ओं अयुग्म स्तोमों की समष्टि को-**'पृष्ठ्यषडह'** नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है । तीन छन्दोमास्तोमों की समष्टि का स्वतन्त्र विभाग रह जाता है । इनमें अष्टाचत्वारिंश (४८) स्थानीय तीसरा जागत स्तोम ही **'महाव्रतअतिरात्र'** नाम से प्रसिद्ध है । इस स्तोम से नीचे नीचे अहः-रात्रि, दोनों भावों का सम्बन्ध है । यहाँ विशुद्ध अहः की प्रधानता है, जो कि महाव्रताह-'अविवाक्यमहः' नाम से प्रसिद्ध है । अतएव इसे अतिरात्र कहना अन्वर्थ बनता है । छन्दोमात्रयी वेदलोक की अधिष्ठात्री है, पृष्ठ्यषडह पृथिव्यन्तरिक्षमापः-इस चतुर्लोकी की अधिष्ठात्री है । निम्नलिखित वचन इन्हीं पृष्ठ्यस्तोमों का स्पष्टीकरण कर रहा है--

(३३६, तथा ३३७ के मध्य में)

(२१)—मण्डलात्मक-पृष्ठ्य—रश्म्यात्मक अभिप्लव—मण्डलस्वरूपपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

१–"पृष्ठ्यः षडहश्छन्दोम–पवमानं महाव्रतमतिरात्रः । उभये स्तोमाः–युग्मन्तश्च, अयुजश्च । तन्मिथुनम् । मिथुनात् प्रजायते"

(ताण्ड्यम० ब्रा० २२।७।१,५।)

दूसरा आदित्यप्राणप्रधान सहस्त्ररश्मिरूप अभिप्लवस्तोम है । प्राजापत्यवेदमहिमा में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि, केन्द्रस्थ आदित्यप्राण 'बृहत्प्राण'–'बृहतीप्राण' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है । यह बृहत्प्राण आरम्भ में एकरूप रहता हुआ रश्मिवितान के कारण पहिले चार भागों में परिणत होता है, चार के दस विभाग होते हैं, दस शतगुण बनता है, शतगुण सहस्र से गुणित है । इस पारम्परिक रश्मिवितान से एक के ३६००० (छत्तीसहजार) विवर्त हो जाते हैं । बृहतीप्राण के इस व्यूहन का स्वरूप पूर्व प्रकरणों में बताला ही जा चुका है । इस सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा रखने वालों को ऋग्वेद के ३-५५ सू०,-५-४७ सू०, इन प्रकरणों का अन्वेषण करना चाहिए । यहाँ व्यूहनप्रक्रिया के सम्बन्ध में केवल एक मन्त्र उद्धृत किया जा रहा है ।

"चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तो दश गर्भं चरसे धापयन्ते ।
त्रिधातवः परमा अस्य गावो दिवश्चरन्ति परि सद्यो अन्तान्"

--ऋक् सं० ५।४७।४।

"चार इसे क्षेमार्थ धारण किए हुए हैं । चरण (गमन) के लिए दश–गर्भों को प्रेरित करते हैं । इस की त्रिधातुमूर्ति गाएँ चारों ओर द्युलोक में व्याप्त हो रहीं हैं" इस अक्षरार्थ को व्यक्त करने वाला उक्त मन्त्र सूर्यदृष्टान्त के द्वारा प्रत्येक वस्तुपिण्ड के अभिप्लवात्मक रश्मि–व्यूहन का ही स्पष्टीकरण कर रहा है । प्रत्येक वस्तुपिण्ड का स्वरूप चतुर्भुज माना गया है । वर्त्तुल वस्तुपिण्ड में चारों दिशाओं के आधार पर ९०–९०–९०–९० इस क्रम से चार भुजा बनतीं हैं । इन चार भुजाओं से ही वस्तुपरिणाह (वृत्त) के ३६० अंश (डिग्री) हो जाते हैं । मूलस्थ सौर प्राण–'स्वरहरैवाः सूर्य्यः' के अनुसार स्वरात्मक है । स्वर नवबिन्द्वात्मक माना गया हैं, जैसाकि अन्यत्र विस्तार से प्रतिपादित है । नव बिन्द्वात्मक स्वर ही चतुर्भुज बन कर सौरसंस्था की मूलप्रतिष्ठा बनता है । एक दृष्टि से वही नवसंख्या जहाँ ९० के चतुर्गुणन से ३६० अंशों की स्वरूपसमर्पिका बनती है, वहाँ यही संख्या ९ के चतुर्गुणन से ३६ की स्वरूपसमर्पिका बन रही है । मूल में इसका रूप ३६ ही माना जायगा, एवं यही नवबिन्द्वात्मक प्राण का प्रथम व्यूहन माना जायगा, जो वस्तुप्रतिष्ठा का मूलस्तम्भ है । इसी मूलस्थितिलक्षण प्रथम व्यूह का 'चत्त्वार ईं बिभ्रत्ति' से स्पष्टीकरण हुआ है ।

अब इसी प्रथम व्यूह के तीन व्यूहन और होते हैं । एवं प्रत्येक में दश–दश संख्याओं का समावेश है । ९ के ३६ पहिला व्यूहन था । ३६ को यदि दस से गुणित किया जाता है, तो ३६० हो जाते हैं । ३६० को यदि दस से गुणित किया जाता है, तो ३६०० हो जाते हैं । ३६०० को दश गुणित करने से ३६००० हो जाते हैं । यहाँ विकासमात्रा का अवसान है, गर्भीभूत विराट्–भाव का अवसान है । इसप्रकार '३६–३६०–३६००–३६००० इस क्रम से चार व्यूहन हो जाते हैं । इस व्यूहन से आरम्भ में ९ बिन्द्वात्मक रहने वाला

वही प्राण वितानभाव से सर्वान्त में बृहतीसहस्र (३६०००) संख्या में परिणित हो जाता है। प्रत्येक व्यूहन में त्रिभुजभाव का (त्रिधातवः) का सम्बन्ध है। इस वितान से मूल केन्द्र के आधार पर सहस्र किरणों की व्याप्ति हो जाती है। इसी सहस्र व्याप्ति को एक विशेष हेतु से बृहतीसहस्ररूप में परिणत होना पड़ रहा है। एवं वह विशेष काकरण है-पृष्ठ्यस्तोमात्मक सहस्रसाममण्डल। इस व्याप्ति का विचार पीछे कीजिए। पहले परिलेख के द्वारा '**दशगर्भं चरस धापयन्ते**' से सम्बद्ध गमनभाव का स्पष्टीकरण कर लीजिए।

आभिप्लवः—

❀ ६ ❀ १—६-६-६-६————————⟨ चत्वार इं विंश्रति-(मूर्त्तिम्)।

❀······१०—एकस्य दशत्—(दशत्)

❀······१००-दशतां दशत्—(दशत्) | -दश गर्भं चरसे धापयन्ते (रश्मिमण्डलम्)

❀······१०००-शतस्य शतम्—(दशत्)

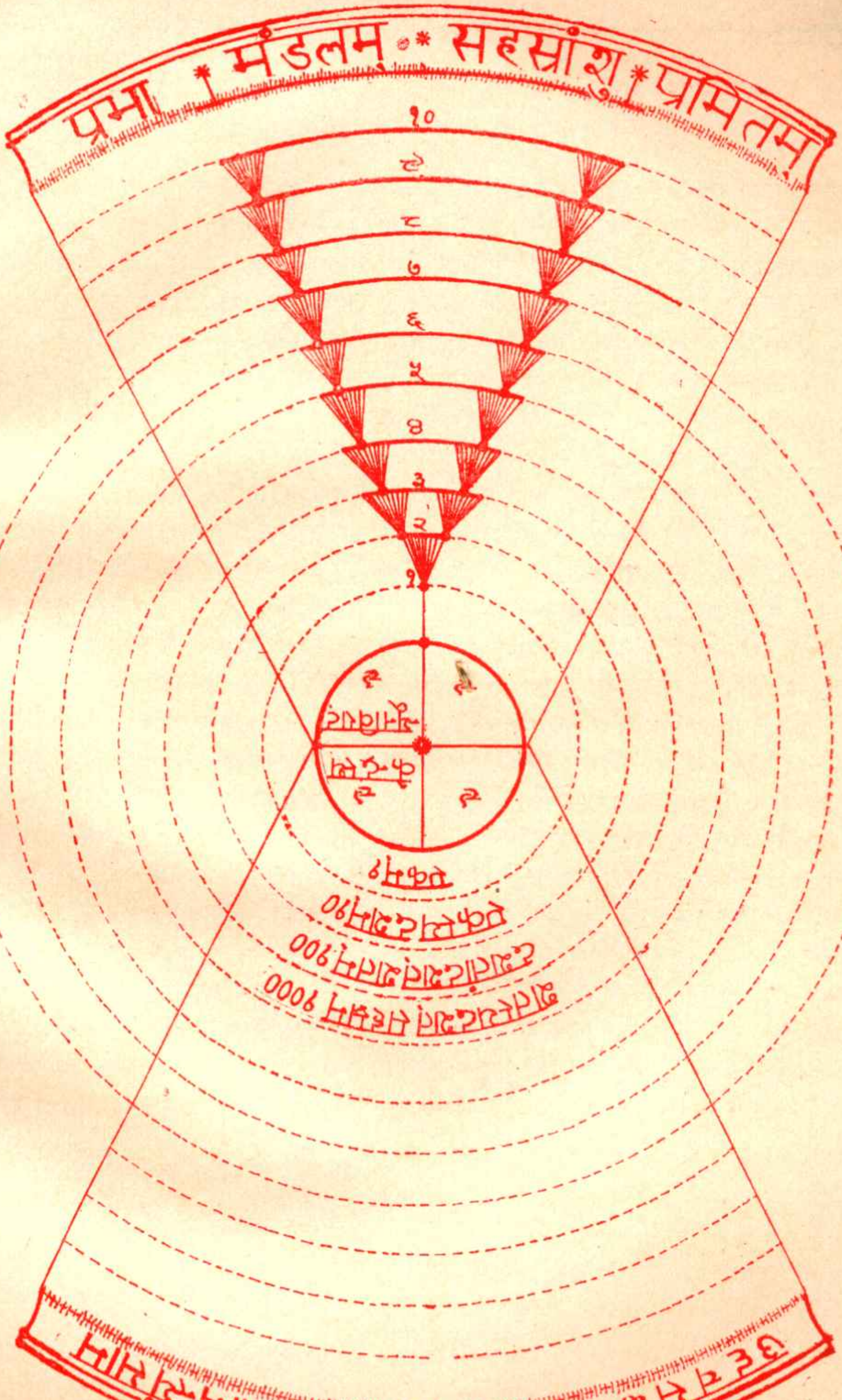
❀

रश्मियाँ एक सहस्र, फिर बृहतीसहस्रभाव का उदय किस आधार पर हुआ ?, इस प्रश्न का समाधान यद्यपि पूर्व से गतार्थ है। तथापि एक दूसरे दृष्टिकोण से समाधान और सुन लीजिए। जिन आभिप्लविक रश्मियों की संख्या एक सहस्र बतलाई हैं, उन्हें थोड़ी देर के लिए ३६० मान लीजिए। इसलिए मान लीजिए कि, इन्हीं रश्मियों के वितान से अहोरात्र की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। मूल में ६, आगे जाकर ३६, संख्या में विभक्त होने वाला बृहतीछन्दोऽवच्छिन्न बृहत्प्राण ३६० ही सूत्रों में विभक्त होता है। इन विभागों की मध्य विभक्तियाँ हीं '**अहनां विभक्तयो रात्रयः**' परिभाषानुसार ३६० रात्रियाँ हैं। इसप्रकार इन रात्रियों का स्वरूप इन्हीं ३६० अहःसूत्रों में अन्तर्भुक्त है। यही अहोरात्र की मौलिक व्याप्ति है। मूर्त्तिपृष्ठ से मण्डलपरिधि पर्य्यन्त सीधी ३६० रेखाएँ ले जाइए। ये ही ३६० अहोरात्रसूत्र होंगे। इन्हीं को A '**नाव्य**' कहा जायगा। इन सूत्रों को काटते हुए एक सहस्र पृष्ठ्यस्तोमात्मक साममण्डल बनाइए। आप देखेंगे कि, प्रत्येक सूत्र का प्रत्येक मण्डल के साथ सम सम्बन्ध हो रहा है। मण्डल क्योंकि एक सहस्र हैं, उधर सूत्र ३६० हैं। फलतः प्रत्येक मण्डल के साथ ३६० सूत्रों का सम्बन्ध हो जाता है। इसप्रकार एक षष्टित्रिशती सहस्र-षष्टित्रिशता रूप में परिणत हो रही है। यही ३६० की ३६००० व्याप्तियाँ है, सहस्र का बृहतीसहस्रत्व है। यही हमारे परिगणित आयुःसूत्र हैं, जैसाकि प्राजापत्यप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

A – **"सर्वाणि ह त्वेव भूतानि, सर्वे देवा एषोऽग्निश्चितः। तस्य नाव्या एव परिश्रितः। ताः षष्टिश्च, त्रीणि च, शतानि भवन्ति। षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि–आदित्यं नाव्याः समन्तं परियन्ति। षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि–आदित्यं नाव्या अभिक्षरन्ति"** (शत० १०।५।४।१४।)।

(३३८, तथा ३३९ के मध्य में)

(२२)-अभिप्लवस्तोमार्कवितानपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

सामान्यदृष्टि भी यही सिद्ध कर रही है। मण्डलात्मक प्रत्येक वृत्त के ३६० अंश मानें गए हैं। जब साममण्डल १००० हैं, तो इनके सब अंशों के संकलन से ३६००० ही संख्या ठहरती है।

जिन मण्डलों के आधार पर ३६० सूत्र बृहतीसहस्ररूप में परिणत हो रहे हैं, उन मण्डलों का नाम ही वितानवेदात्मक सामवेद है। सामवेद वस्तुतत्त्व नहीं है, केवल आयतनमात्र है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। इस स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए सामत्रयी का विचार कीजिए। इन साममण्डलों को हम **'पूर्वमण्डल, उत्तरमण्डल, मध्यपतित मूर्त्तिमण्डल'** भेद से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। पूर्व पूर्व मण्डल उत्तर उत्तर मण्डल का उपक्रमस्थान है, प्रस्तावभूमि है। उधर वेदपरिभाषानुसार प्रस्ताव को ही 'ऋक्' कहा गया है। ऋगनुबन्धिनी प्रस्तावात्मिका इस सामान्यपरिभाषा के अनुसार अन्त के एक निधनसाममण्डल को छोड़ कर हम पूर्व-पूर्व के ९९९ मण्डलों को अवश्य ही ऋक् कह सकते हैं। पूर्व पूर्व-मण्डल से उत्तर उत्तर मण्डल समतुलित है। यद्यपि पूर्वप्रतिपादित 'पर उर्व्यः' के अनुसार सहस्रों सामपृष्ठ परस्पर विषम हैं। पूर्व-पूर्वमण्डलापेक्षया उत्तरोत्तर मण्डल बृहदाकार बनता हुआ विषम है, तथापि अंश-साम्य को लेकर हम अवश्य ही पूर्वापेक्षया उत्तरमण्डल को साम मान सकते हैं। सूत्रानुबन्धिनी षष्टित्रिशती (३६०) जो मर्य्यादा पूर्व के छोटे साममण्डल में है, वही मर्य्यादा उत्तर साममण्डल में है। सहस्रों मण्डल ३६० अंशों से युक्त रहते हुए (आकार से विषमपृष्ठ बनें हुए भी) अंशमर्य्यादा के समतुलन से सम ही बने हुए हैं। साम का **'ऋचा समं मेने'** यह लक्षण माना गया है। क्योंकि ऋक्स्थानीय पूर्व पूर्व साममण्डलापेक्षया उत्तरोत्तर साममण्डल अंशमर्य्यादा से समतुलित हैं, ऋङ्मण्डलों के सम है, अतएव आरम्भ के एक मण्डल को छोड़कर अन्त के ९९९ मण्डलों को हम अवश्य ही **'साम'** कह सकते हैं। ९९९ में हीं क्यों, यदि मण्डलत्त्वेन उस ओर से विचार किया जायगा तो निधनसाम ऋक् बन जायगा, प्रस्तावात्मक इस ओर का प्रथम साम निधनात्मक साम मान लिया जायगा। इसप्रकार पूरे सहस्रमण्डल सामात्मक माने जा सकेंगे, पूरे सहस्रमण्डल हीं ऋगात्मक मानें जा सकेंगे। **'ऋचा समं मेने'** से सम्बन्ध रखने वाले अंश-साम्य के अतिरिक्त दूसरे प्रकार से भी देखा जा सकता है। पूर्वसाममण्डल में वितान (फैलाव) की जितनी मात्रा है, उत्तर साममण्डल में भी मात्रा वही है। पूर्व में थोड़े प्रदेश में वही मात्रा है, उत्तर में अधिक प्रदेश में वही मात्रा है। इस मात्रासाम्य से उत्तरमण्डल साम मान लिए जायँगे। यदि रसवेद के पक्षपाती उत्तरोत्तर बिन्दुद्वय के अनुपात से मात्रा में अल्पता मानते हुए इस कथन का विरोध करेंगे, तो हम **'ऋच्यध्यूढं साम गीयते'** इस लक्षण का समन्वय तो निर्बाध कर ही सकते हैं। पूर्वमण्डल के आधार पर ही उत्तरमण्डल का गान (विस्तार) हुआ है। फलतः ऋक्रूप पूर्वमण्डल पर प्रतिष्ठित होकर ही उत्तरमण्डलात्मक साम का गान हुआ है।

४०-सामवेद में वेदत्रयी का उपभोग—

पूर्वोद्धृत परिलेखों में यत्र तत्र यह स्पष्ट हो चुका है कि, दोनों मण्डलों के मध्य में व्यासानुगत मूर्त्तियाँ समन्तात् प्रतिष्ठित हैं। वहीं यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि, सहस्रधा महिमानः सहस्रं भाव में परिणत इन मूर्त्तियों के आधार पर ही साममण्डलों का वितान हुआ है। पहिली मूर्त्ति छन्दोवेदत्रयीरूपा महदुक्थलक्षणा महामूर्त्ति है। इसका घेरा एक साम है। इसके अनन्तर परितः मूर्त्तिस्तर है, पुनः साममण्डल

मूर्त्तिभावाः यजूंषि पर्वोत्तर मण्डले ऋक्सामे

है, पुनः मूर्त्तिस्तर है। इसप्रकार इस ओर मण्डल, उस ओर मण्डल, मध्य में मूर्त्तियाँ, यह धारावाहिक क्रम महदुक्थपृष्ठ से निधनसाम पर्य्यन्त व्याप्त है। मूर्त्तिगत वस्तुतत्त्व का जहाँ हम रसवेदत्रयी में अन्तर्भाव मानेंगे, वहाँ इस मूर्त्तिमण्डल को (मूर्त्ति के चारों ओर के घेरे को) मण्डलत्त्वेन अवश्य ही साम मान लिया जायगा। मूर्त्तिमण्डलात्मक मध्यपतित इस साम को हम यजुर्वेद कहेंगे। यजुर्वेद की -'ऋक् सामे यजुरप तः' यह परिभाषा है। ऋक्साम दोनों यजु के अनुगत रहते हैं। वयोलक्षण यजु ऋक्-सामोदर में प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ ठीक यही परिस्थिति है। उत्तर मण्डलात्मक साम, पूर्वमण्डलात्मिका ऋक्, दोनों के मध्म में भुक्त मूर्त्तिमण्डल प्रतिष्ठित है। अतएव इसे वयोलक्षण मानते हुए अवश्य ही यजु कहा जा सकता है।

इसप्रकार मण्डलात्मक केवल सामवेद में पूर्वमण्डल, उत्तरमण्डल, मध्यस्थ मूर्त्तिमण्डल, भेद से 'ऋक्-साम-यजुः' तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध हो जाता है। यही प्रकृत प्रकरण की दूसरी वितानवेदत्रयी है, जो छन्दोवेदत्रयी पर प्रतिष्ठित है। छन्दोवेदत्रयी ऋक् है, वितानवेदत्रयी साम है। अब शेष रहती है रसवेदत्रयी, जिसे हम यजुः कहा करते हैं। उसी का स्पष्टीकरण करता हुआ प्रकृत स्तम्भ उपरत हो रहा है।

१—पूर्व-पूर्व-मण्डलानि——— —{ ऋचः		
२—उत्तरोत्तर-मण्डलानि———{ सामानि		{ तदित्थं वितानात्मके मण्डललक्षणे सामवेदे-वेदत्रयोपभोगः
३—मध्यस्थमूर्त्ति-मण्डलानि———{ यजूंषि		

*

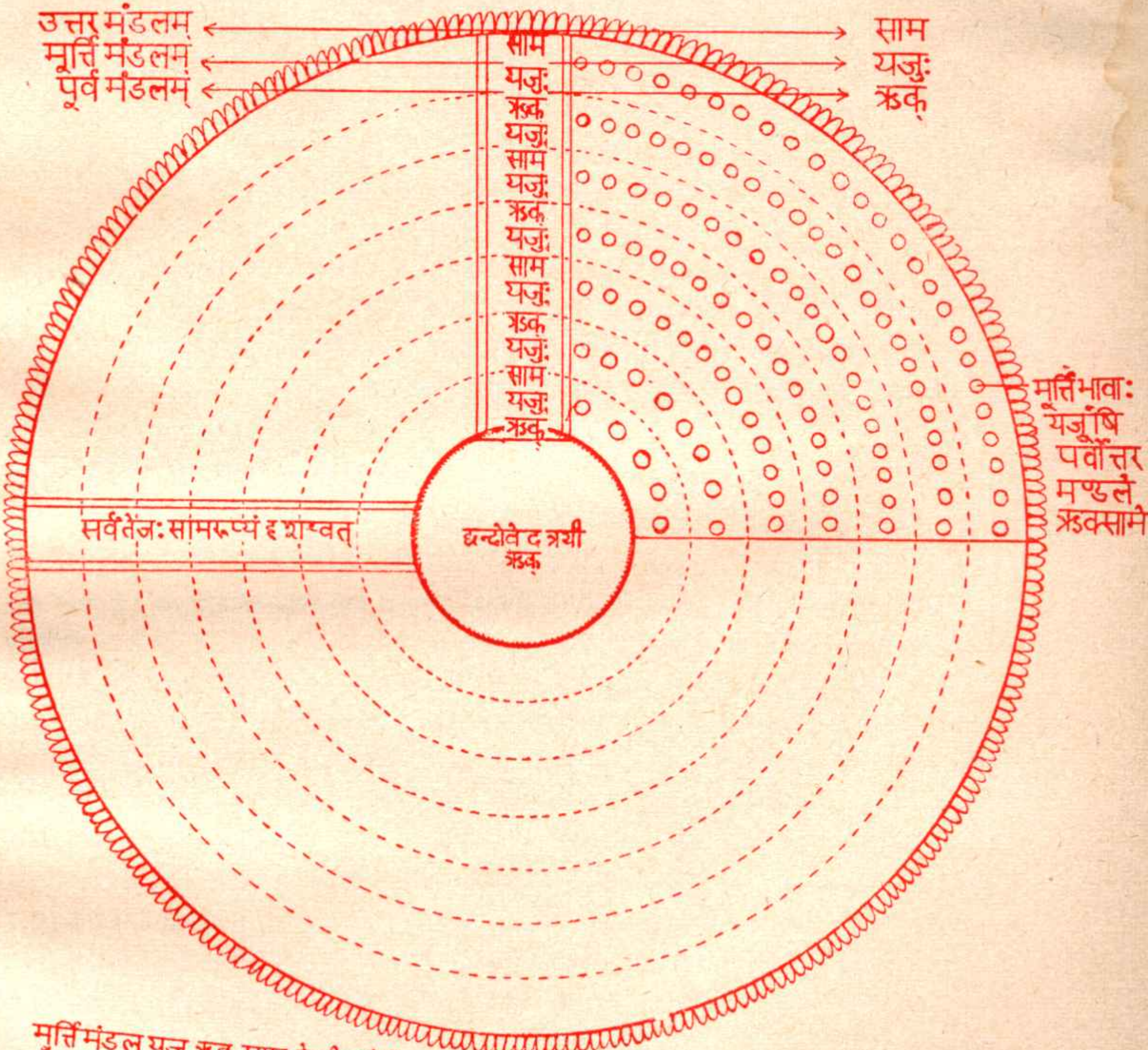
४१-रसलक्षण यजुर्वेद का उपक्रम—

वयोनाधलक्षण ऋक्-साम, दोनों समानधर्म्मा हैं। अतएव त्रयीवेदगणना में 'ऋक्सामे' यह स्वतन्त्ररूप से उद्धृत रहता है, 'यजुः' का स्वतन्त्र निर्देश रहता है। साथ ही ऋक् साम दोनों से ही यजुः का स्वरूप परिगृहीत है। बिना ऋङ्मय मूर्त्तिभाव के, साममय मण्डलभाव के न तो स्वयं वस्तुतत्त्व ही स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रह सकता, एवं न हमें हीं उस वस्तुतत्त्व की उपलब्धि हो सकती। एकमात्र इसी हेतु से पहिले वयोनाधलक्षणा ऋग्वेदत्रयी (छन्दोवेदत्रयी), एवं सामवेदत्रयी (वितानवेदत्रयी) का निरूपण आवश्यक समझा गया। अब क्रमप्राप्त उस यजुर्वेदत्रयी (रसवेदत्री) का ही संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है, जिसकी ऋक्-साम के आधार पर हमें उपलब्धि होती है, जिस उपलब्धि से हम तृप्तिलक्षण रसोद्रेक का अनुभव करते हैं।

वितानवेदनिरुक्ति में एक स्थान पर यह कहा गया है कि, न तो चक्षुरिन्द्रिय विषय पर जाती, न वस्तुपिण्ड चक्षु पर आता। एवं न वस्तुपिण्ड के साममण्डल की ही कोई वस्तु हमारा ब्रह्मौदन बन सकती। अपितु हमारा प्रज्ञानज्ञान चाक्षुषसामातिमान के आधार पर अपूर्व वस्तु का निर्म्माण करता है। कोई भी पदार्थ अपने प्रातिस्विक ब्रह्मौदन का परस्पर आदान-प्रदान नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक महाविप्रतिपत्ति उपस्थित हो रही है। चक्षुरिन्द्रिय सम्बन्धी रूपानुभव के सम्बन्ध में उक्त सिद्धान्त को थोड़ी देर के लिए स्वीकार करते हुए भी रसनेन्द्रिय के सम्बन्ध में हम उक्त सिद्धान्त का विरोध देख रहे हैं। पुरोऽवस्थित

(३४०, तथा ३४१ के मध्य में)

(२३)--परिणाहात्मकसहस्रसामवितानपरिलेखः —



मूर्त्ति मंडल यजु ऋक् साम के बीच में है

भोग्य सामग्री अशनायासूत्र से आकर्षित होकर हाथों के द्वारा मुखविवर में प्रविष्ट होती है, गले से नीचे जाती है, अशनाया शान्त हो जाती है, तृप्तिभाव उदित हो जाता है। भुक्त अन्न 'ऊर्क्' नामक रसविशेष में परिणत होता है, उर्क्-रस प्राणाग्नि-अवस्था में परिणत होता है। प्राणाग्नि विस्रंनधर्म्म से पुनः अशनाया के द्वारा अन्नाकर्षण का अधिष्ठाता बनता है। अन्न पुनः उर्क्, ऊर्क् पुनः प्राणाग्नि बनता है। इसप्रकार **'अन्नोर्क प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः"** लक्षण के अनुसार वस्तुमात्र में अन्नादानप्रदानलक्षण अहरहर्यज्ञ (भैषज्ययज्ञ) निरन्तर होता रहता है। **'यत् सप्तान्नानि तपसाजनयत् पिता'** इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान[१], क्रिया[२], आकाश[३] (शब्द), वायु[४] (श्वासप्रश्वास), अग्नि[५] (प्रकाश), जल[६], मिट्टी[७] (गोधूम यवादि एवं ओषधि-वनस्पतियाँ) ये सातों अन्न ग्राहक की योग्यता के तारतम्य से वस्तुमात्र के अन्न बने हुए हैं। बिना परादान के कोई भी पदार्थ स्वसंस्था को सुरक्षित नहीं रख सकता। यदि यह परस्परादान-प्रदान न होता, तो सृष्टिस्वरूप का विकास ही असम्भव हो जाता। इसी अन्नादान से हमारे शरीर की आयतन-वृद्धि होती है। ह्रास-वृद्धि-कृश-स्थूल आदि आदि अवस्थाविपर्य्यय ही इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि, अवश्य ही एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ अन्नादानप्रदानलक्षण यज्ञसम्बन्ध सुरक्षित है। ऐसी दशा में यह कहना कि, न हम अपना ब्रह्मौदन दे सकते, न किसी का ब्रह्मौदन ले सकते, कैसे समीचीन बन सकता है ?।

४२-प्रवर्ग्य का आदान प्रदान—

इस में तो कोई सन्देह नहीं कि, ब्रह्मौदन भाग का परस्पर आदान-प्रदान असम्भव है। परन्तु साथ ही यह भी असंदिग्ध है कि, स्वाभाविक यज्ञकर्म्म की रक्षा के लिए वस्तुभावों का परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। यह आदान-प्रदान भाव एकमात्र 'प्रवर्ग्यवस्तु' पर ही निर्भर है। प्रवर्ग्य भाग ही एक दूसरे की अन्नाहुति बनता है। इसी को अथर्व ने उच्छिष्ट कहा है, एवं इसी उच्छिष्ट से अथर्व ने विश्व की उत्पत्ति मानी है। यह उच्छिष्ट क्या है ?, इस प्रश्न का उत्तर न तो मूर्त्तिलक्षण छन्दोवेद (ऋग्वेद) दे सकता, न मण्डललक्षण वितानवेद (सामवेद) ही दे सकता। अपितु पुरुषलक्षण रसवेद (यजुर्वेद) ही इस प्रश्न का समाधान कर सकता है। मूर्त्ति एक आकारविशेष है, मण्डल भी एक आकारमात्र है। आकारभाव स्व-स्वस्थान में चाक्षुषमण्डलवत् प्रतिष्ठित रहते हैं। न इन में गति है, न आगति। न इनका आदान सम्भव, न प्रदान ही सम्भव। किसी वस्तु को जब आप अपना अन्न बनाने आगे बढ़ेंगे, तो पहिले उसका रक्षादुर्ग तोड़ना पड़ेगा। छन्द पर आक्रमण करना पड़ेगा। तभी वह स्वच्छन्दस्क पदार्थ आपकी छन्दः सीमा में आता हुआ परछन्दोऽनुवर्त्ती बन सकेगा। मण्डल स्वयं कोई वस्तु नहीं, मूर्त्ति भी कोई वस्तुतत्त्व नहीं। जिसका यह मण्डल है, जिसकी यह मूर्त्ति है, वही वस्तुतत्त्व स्वाभाविक रसनभाव से गति-आगति भावों का अनुगामी बनता हुआ यज्ञकर्म्म का प्रवर्त्तक बनता है। इसका जो भाग मूर्त्ति-मण्डल सीमा से बाहिर निकल जाता है, वही प्रवर्ग्यांश है। इसी प्रवर्ग्यादानप्रदान से भैषज्ययज्ञ सञ्चालित है। जब तक छन्द पर आक्रमण नहीं किया जाता, तब तक वह वस्तुतत्त्व ब्रह्मौदन है, और तब तक इसका आदान असम्भव है। छन्दःसीमा की विच्युति से ही वह प्रवर्ग्यरूप में परिणत होता है। एवं प्रवर्ग्यावस्था में आकार ही वह हमारा अन्न बनता है।

प्रमाणवादप्रकरण में इसी अभिप्राय से वेद का **'घर्म्मवेद'** नाम से दिग्दर्शन कराया गया है। प्रवर्ग्य ही घर्म्म है-(देखिए पृ० सं० ११५)। ऋक्-सामरूप वयोनाधों से सम्बद्ध यजुर्लक्षण वय को इसी

आधार पर अन्न माना गया है। क्योंकि वयोविध रसवेद ही प्रवर्ग्य भाव में परिणत होकर आहुतिद्रव्य बनता है। मूर्त्तिलक्षण ऋक् भी गतिशून्य है, मण्डललक्षण साम भी गतिशून्य है। गतिमत् है एकमात्र वस्तुतत्त्वलक्षण यजुः। यजु के गमन से ही स्थितिलक्षणा आयतनरूपा मूर्त्ति का वितान हुआ है। गति–रस ही ऊर्ध्व–अधः–चारों ओर गमन करता है। इसका जैसा संस्थान होता है, मूर्त्ति–मण्डल का भी वैसा ही संस्थान हो जाता है। गतिधर्म्म ही इसके रसनभाव का मुख्य हेतु है। रसन ही गमन है, गमन ही रसन है। इसी गमनवृत्ति से इस स्थितिगर्भित गतिलक्षण यजुः को रसवेद कहना अन्वर्थ बनता है। इसी का प्रवर्ग्यरूप से विस्रंसन होता है। अन्य पदार्थों के प्रवर्ग्यरूप विस्रस्त भावों से इसी विस्रस्त यजुः का पुनः सन्धान होता रहता है।

४३–प्राणवायु और यजुर्वेद —

प्राणवायु ही इस यजुर्वेद का मौलिक रूप है, जो कि प्राणवायु इस ओर से मूर्त्तिद्वारा, उस ओर से मण्डलद्वारा सीमित बना रहता है। कराघात न मण्डलपर होता, न मूर्त्ति पर। अपितु मूर्त्ति में प्रतिष्ठित यजु पर होता है। प्रत्यक्ष भी न मण्डल का होता, न मूर्त्ति का होता। अपितु मण्डलाहित यजुः का होता है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से यजुः का मूर्त्ति–मण्डलों से पृथक्करण किया जा सकता है। अपनी सम्वत्सर-चिति की महिमा से यह वयोविध यजु एकशतविध (१०१ प्रकार का) है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। यजुः साक्षात् रसवेद है, इस सम्बन्ध में महर्षि जैमिनि (वेदर्षि) का निम्नलिखित वाक्य-संग्रह हमारे सामने आता है—

"प्रजापतिर्वा इदं त्रयेण वेदेनाजयत्, यदस्येदं जितं तत्। स ऐक्षत–इत्थं चेद्वा अन्ये देवा अनेन वेदेन यक्ष्यन्ते, इमां वाव ते जितिं जेष्यन्ति, या ऽयम्मम। हन्त त्रयस्य वेदस्य रसमाददा इति। स भूरित्येवर्ग्वेदस्य रसमादत्त। सेयम्पृथिव्यभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत्, सोऽग्निरभवद्रसस्य रसः। भुव इत्येव यजुर्वेदस्य रसमादत्त। तदिदमन्तरिक्षमभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत्, स वायुरभवद्रसस्य रसः। स्वरित्येव सामवेदस्य रसमादत्त। सोऽसौ द्यौरभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत्, स आदित्यो-ऽभवद्रसस्य रसः। तस्या उ प्राण एव रसः" (जै० उ० ब्रा० १।१।)।

"प्रजापति ने अग्नि–वायु–आदित्य रूप से तीनों वेदों का रस ग्रहण कर लिया। प्राण ही वह रस था" इस तात्पर्य को अपने गर्भ में रखने वाली उक्त जैमिनिश्रुति स्पष्ट ही वेदत्रयी को रसात्मिका मान रही है। यहाँ अग्नि, और आदित्य को भी ऋक्–सामात्मक रसवेद बतलाया गया है। ऋक्–साम का यह रसत्व यजुः से सम्बन्ध रखता हुआ यजुर्म्मय ही माना जायगा। जिस प्रकार अग्निप्रधान मूर्त्तिलक्षण ऋग्वेद में अग्नि–वायु–आदित्य भेद से तीनों वेदों का समन्वय है। आदित्यप्रधान सामवेद में अग्नि–वायु–आदित्य भेद से तीनों वेदों का उपभोग है। एवमेव वायु (प्राण) प्रधान इस यजुर्वेद में भी अग्नि–वायु–आदित्य भेद से तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है। यह यजुर्वेदत्रयी रसप्रधाना है, रसन प्राण का धर्म्म है, प्राणात्मक

एकमात्र गतिलक्षण यजुर्वेद है। फलतः उक्त श्रुति की वेदत्रयी का यजुर्म्मयत्त्व ही सिद्ध हो जाता है। **'तस्या उ प्राण एव रसः'** इस उपसंहारवाक्य से स्वयं श्रुति ने भी अन्त में यही सिद्ध किया है।

आकाशात्मा वाक् ही ऋक् है, वाक् ही साम है। वाक् से ही रसरूप यजु का उपक्रम है, वाक् पर ही यजु का उपसंहार है। स्थितिलक्षण वाङ्मय आकाश ही वह महा आयतन है, जिसके गर्भ में–**"यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्"** (गीता ६।६।) के अनुसार वयोविध प्राणलक्षण यजुः प्रतिष्ठित है। मूर्त्तिलक्षणा ऋक् भी वाङ्मयी है, मण्डललक्षण साम भी वाङ्मय ही है। तभी तो साममण्डल को **'वषट्कारमण्डल'** नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है। मूर्त्तिमय वागाकाश के पीड़न से ही प्राणात्मक रसलक्षण यजुर्वेद का विनिर्गम हुआ है। वाङ्मय ऋक्पिण्ड में परिपूर्ण प्राणात्मक यजुः रस ही हृद्य व्यापार से उर्ध्व वितत होकर वाङ्मय महिममण्डलायतन में व्याप्त होता है। यही प्राणाग्निविध यजु महिमा में जाकर अग्नि–वायु–आदित्यविध बनता हुआ त्रयीविद्यारूप में परिणत हो जाता है। यज्ञप्रक्रिया में जो सामगान होता है, उस से परम्परया इसी रस की अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठा होती है। प्रणवात्मक सामगान स्वरात्मक बनता हुआ अक्षरात्मक है। इस स्वरसंधानलक्षण रससंधान से व्याहृति की, व्याहृति के द्वारा वेदत्रयी की, वेदत्रयी के द्वारा देवत्रयी की, देवत्रयी के द्वारा लोकत्रयी की, लोकत्रयी के द्वारा त्रैलोक्य व्यापक वागक्षर की, वागक्षर के द्वारा वाक् को, वाक् (इन्द्रपत्नीनामक मर्त्याकाश) के द्वारा आकाश (इन्द्र नामक अमृताकाश) की तृप्ति होती है। इसप्रकार प्राकृतिक साममण्डलाधार पर वितत इस शब्दात्मक सामगान की यथानुरूपता से यज्ञकर्त्ता यजमान का वह आधिदैविक खगोल शान्ति–समृद्धि–पूर्णता–प्रजावृद्धिका कारण बन जाता है, जोकि खगोलीय आकाशमण्डल यजमान के शिरोमण्डलस्थानीय खस्वस्तिक से बद्ध रहता हुआ यजमान का प्रातिस्विक पुराणाकाश बना हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति का खस्वस्तिकानुबन्धी आकाश कश्यपसंस्था से सम्बन्ध रखने वाली हृद्बिन्दु के भेद से पृथक् पृथक् है। प्रतिव्यक्ति के लिए नियत सम्वत्सरात्मक आकाश ही विकृतिलक्षण व्यक्ति (मनुष्य) की प्रकृति है। वहाँ से धारावाहिकरूप से इसे शुभाशुभ भाव मिला करते हैं। यदि व्यक्ति की चर्य्या प्रकृत्यनुकूल है, तब तो इसका प्राकृत आकाश शान्त समृद्ध रहता हुआ इस की गार्हपत्य–संस्था को शान्त–समृद्ध रखता है। यदि व्यक्ति का वैकारिक मण्डल प्रकृतिसंस्था से विरुद्ध गमन करने लगता है, तो विकृति से सम्बद्ध प्राकृताकाश भी कुपित हो जाता है। फलतः इसे उस कोपका लक्ष्य बनना पड़ता है। यदि राष्ट्र में अधिक व्यक्ति प्रज्ञापराधवश प्रकृतिविरुद्ध (अशास्त्रीय) आचरण करने लगते हैं, तो सम्पूर्ण राष्ट्र को कोपभाजन बनना पड़ता है। भूकम्प, महामारी, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आदि ही कोप के प्रत्यक्ष निदर्शन हैं। ठीक इसके विपरीत जहाँ के राष्ट्रीय व्यक्ति प्राकृतिक यज्ञादि कर्म्मों के द्वारा प्रकृति को शान्त रखते हैं, प्राकृताकाश का आप्यायन करते रहते हैं, वे–**"निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां, योगक्षेमो नः कल्पताम्"** लक्षण प्राकृतानुग्रह के सत्पात्र बने रहते हैं। और यह सत्पात्रता मिलती है उस सामगान से, जो प्राकृतिक साममण्डल के द्वारा पूर्वोक्त परम्परा के अनुसार आकाशाप्यायन का कारण बनता है। (देखिए, जै उप० ब्रा० ७।२।)। उक्त कथन से प्रकृत में यही कहना है कि, यजुर्वेद प्राणात्मक बनता हुआ रसवेद है। इस का आयतन वाङ्मयी मूर्त्ति, वाङ्मय–मण्डल है। मूर्त्ति–मण्डलात्मक, वागाकाशरूप ऋक्-सामायतन में व्याप्त प्राणात्मक यजु आगे जाकर देवत्रयी भेद से रसत्रयीरूप में विभक्त होता हुआ रसवेदत्रयीरूप में परिणत हो जाता है, जैसाकि निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट है—

"असदेवेदमग्र आकाश आसीत् , स उ एवाप्येतर्हि । स यस्स आकाशः, वागेव सा । तस्मादाकाशाद्वागवदति । तामेतां प्रजापतिरभ्यपीडयत् । तस्या अभिपीडितायै रसः प्राणेदत् । सा त्रयीविद्याभवत्" ।

—(जै० ब्रा० ७।१।)।

* रसात्मक यजुः की व्याप्ति अग्निविकास से सम्बन्ध रखती है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन अगले प्रकरण में किया जाने वाला है । यहाँ अग्निविकासलक्षण इस रसवेद के केवल उन तीन विवर्त्तों का ही संक्षिप्त स्पष्टीकरण अपेक्षित है, जिन के समन्वय से केवल यजुर्वेद भी ऋक्–सामवत् त्रयीवेदरूप में परिणत हो रहा है ।

४४–सूच्यग्र–सूचीमुख–ऋजुभावापन्न यजु—

वस्तुकेन्द्र में बीजरूप से प्रतिष्ठित यह तेजोरस ऊर्ध्वगमन करता है, यह कहा जा चुका है । ऊर्ध्वगमन करते हुए इस यजु रस की 'सूच्यग्र, सूचीमुख, ऋजुमुख', रूपसे तीन अवस्था हो जाती है । सूच्यग्र वही यजु ऋक है, सूचीमुख वही यजु साम है, एवं ऋजुमुख वही यजु यजु है । इसप्रकार रसात्मक केवल यजुर्वेद में हीं तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है । वितानवेदनिरुक्ति में हृदय-व्यास–परिधि का ऊर्ध्ववितान बतलाया गया है । यह वितान वस्तुतः रसात्मक यजुर्वेद का वितान माना जायगा ! वितानाख्य सामवेद का तो उन सहस्र साममण्डलों से सम्बन्ध है, जिनकी प्रतिष्ठा ३६० अहोरात्रसूत्र बने हुए हैं । बहिर्मण्डलावच्छिन्न सहस्र विष्कम्भ उत्तरोत्तर छोटे होते जाते हैं । इस का कारण पूर्वनिरुक्ति में यह बतलाया गया है कि, पूर्वव्यास के पार्श्ववर्त्ती अणुद्वय एक सिद्धाणुरूप में परिणत होकर उत्तर–व्यास की नभ्यबिन्दु बनते हैं । उत्तरोत्तर दो दो बिन्दु कम हो जाती हैं, अतएव पूर्व पूर्व व्यास की अपेक्षा उत्तर–उत्तर का व्यास छोटा हो जाता है । बिन्दु–द्वय के अभाव में व्यासवितान का अवसान हो जाता है । केवल नभ्यबिन्दुमात्र शेष रह जाती है । यही व्यास–परम्परासूत्र–की निधनबिन्दु है, यही याज्ञिकों का यज्ञमण्डलावसानलक्षण 'निधन' नामक उद्दच साम है, जिस की–"यज्ञस्योदृचं गच्छानि' इत्यादिरूप से याज्ञिक लोग आशंसा किया करते हैं । परिलेख में पाठक देखेंगे कि, त्रिभुजक्रम से आगे का व्यास छोटा होता जा रहा है, एवं पूर्वव्यास के पार्श्ववर्त्ती अणुद्वय ही उत्तर व्यास का नभ्य आत्मा (केन्द्रबिन्दु) बन रहा है ।

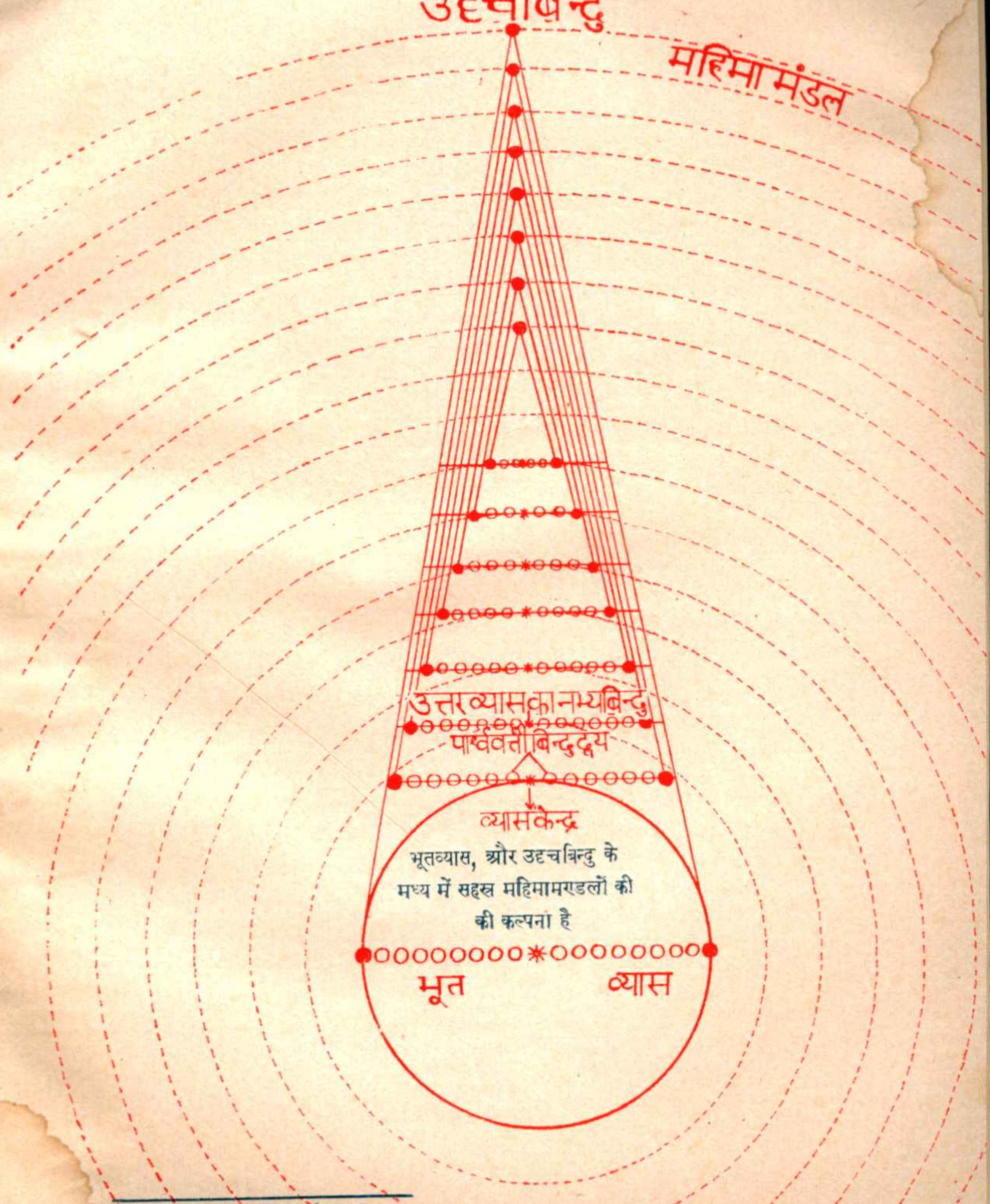
कूटस्थ व्यासकेन्द्र, एवं भूतव्यासकेन्द्रों के पार्श्ववर्त्ती बिन्दु (अणु) द्वय से निष्पन्न सिद्धाणु जैसे उत्तर भूतव्यास की नभ्यबिन्दु बनता है, वैसे ही व्यास पार्श्ववर्त्ती अन्तिम अणुद्वय से सम्पन्न एक एक सिद्धाणु उस उस व्यास का महिमामण्डल बना करता है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है । वहाँ कूटस्थ व्यास-

* "तस्य वा एतस्य यजुषः–'रस' एवोपनिषत् । तस्माद्यावन्मात्रेण यजुषा–अध्व–र्युर्ग्रहं गृह्णाति, स उभे स्तुतशस्त्रे अनुविभवति, उभे स्तुतशस्त्रेऽअनुव्यश्नुते । तस्माद्यावन्मात्र–इवान्नस्य रसः, सर्वमन्नं भवति, सर्वन्नमनुव्येति"।

(शत० १०।३।५।१२।)।

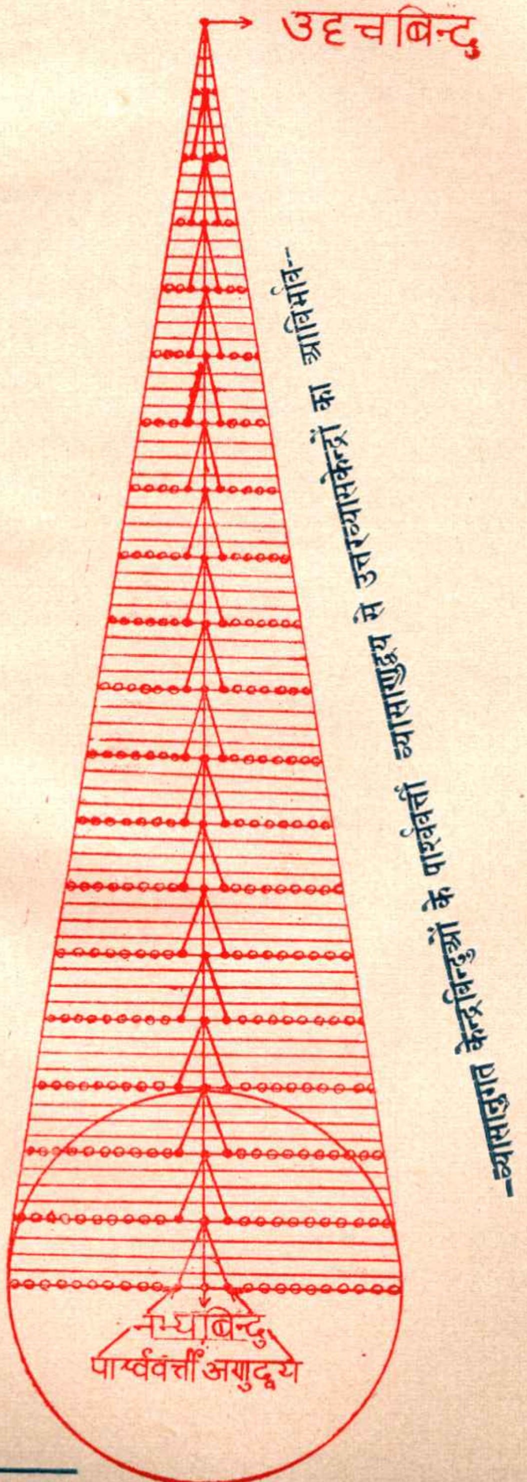
(३४४, तथा ३४५ के मध्य में)

(२४)—प्रकान्तरेण—सहस्रसामवितानपरिलेखः—



(३४४, तथा ३४५ के मध्य में)

(२५)-विष्कम्भ-मूर्त्ति-वितान-समष्टिपरिलेख :—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दूर्गापुरा (जयपुर)

बिन्दुओं की अन्तिम बिन्दु से सम्बन्ध रखने वाले अन्तिम साममण्डल का स्वरूप उद्धृत हुआ है। ठीक वही क्रम आगे के भूतव्यासों में समझना चाहिए। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, सिद्धाणु का वितान दो प्रकार से होता है। व्यासाणुओं के अन्तिम दो व्यासाणुओं से जहाँ उसी व्यास से सम्बद्ध महिमामण्डल का आविर्भाव होता है, वहाँ व्यासकेन्द्रबिन्दु के पार्श्ववर्त्ती व्यासाणुओं से उत्तरव्यास-केन्द्रों का आविर्भाव होता है, जैसाकि निम्न लिखित दोनों परिलेखों से स्पष्ट है।

४५-वास-व्युत्क्रम-स्वरूप-भेदभिन्न अग्नि—

वेदपदार्थ की जटिलता के समाधान का ज्यों ज्यों प्रयत्न किया जाता है, त्यों त्यों विषय दुरूह बनता जाता है। यजुर्वेद का जो स्वरूप हम यहाँ बतलाने चले हैं, एवं पूर्व में-ऋक्, सामवेदों का जो स्वरूप बतलाया गया है, वह तत्त्वतः विस्पष्ट रहता हुआ भी कुछ एक समानताओं से विश्लिष्ट सा बन रहा है। इस सङ्करता-निवृत्ति के लिए दो शब्दों में इन तीनों वेदों के तीनों विवर्त्तों का स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक है। वेदत्रयी के सम्बन्ध में सब से मुख्य लक्ष्य है-'अग्नि'। अग्निवेद का ही नाम त्रयीवेद है। छन्द, वितान, रस, तीनों एक ही अग्नि के महिमाभाव हैं। दूसरे शब्दों में वेदपदार्थ का-'**मनोमयः-प्राणगर्भिता वागेव वेदः**' यह लक्षण भी किया जा सकता है। '**अग्नेर्वागेवोपनिषत्**' के अनुसार यह मनःप्राणगर्भिता वाक् अग्नि का ही मौलिक रूप है। अतएव वेद के सम्बन्ध में-'**वाग्विवृताश्च वेदाः**'-'**अग्निविवृताश्च वेदाः**' दोनों बातें घटित हैं। दोनों का तात्पर्य समान है।

इस वाग्रूप वेदाग्नि के प्रत्येक पदार्थ में '**वास, व्युत्क्रम, स्वरूप**' भेद से तीन प्रकार से दर्शन किए जा सकते हैं। अथवा इन तीनों का 'वास-स्वरूप' इन दो भेदों में हीं पर्य्यवसान माना जा सकता है। अग्नि के रहने का स्थान '**अग्निवास**' कहलाएगा, एवं स्वयं अग्नि '**अग्निस्वरूप**' माना जायगा। अपने वास (निवास-स्थान) मे रहने वाले इस अग्नि के '**चित्य-चित्येनिधेय**' भेदसे दो स्वरूप मानें गए हैं। भूतप्रधान वही अग्नि क्षरभावात्मक बनता हुआ मर्त्य है, विस्रंसनधर्म्मा है। एवं अग्नि के भूतात्मक इसी मर्त्य-क्षररूप को 'चित्याग्नि' कहा जाता है। प्राणप्रधान (शक्तिरूप-देवात्मक) वही अग्नि अक्षरभावात्मक बनता हुआ अमृत है, एकरस है। एवं अग्नि के प्राणात्मक इसी अमृत-अक्षररूप को 'चितेनिधेय' कहा जाता है।

वस्तुपिण्ड सांकेतिक भाषा में '**कृष्णाजिन**' है, वस्तुमहिमा '**पुष्करपर्ण**' नाम से प्रसिद्ध है। दोनों में अग्नि के दोनों रूप प्रतिष्ठित है। अन्तर केवल यही है कि, वस्तुपिण्डात्मक कृष्णाजिन में (मूर्त्तिपिण्ड में) निवास करने वाला अग्नि प्राणाग्नि को गर्भ में रखता हुआ भूतप्रधान है, एवं वस्तुमहिमामण्डलात्मक पुष्कर-पर्ण में निवास करने वाला अग्नि भूताग्नि को अपने गर्भ में रखता हुआ प्राणप्रधान है। इसप्रकार यद्यपि अग्नि अपने दोनों हीं वासस्थानों में अपने दोनों सम्मिलितरूपों से प्रतिष्ठित है। तथापि 'तद्वादन्याय' के अनुसार पिण्डाग्नि भूताग्नि मान लिया जाता है, महिमाग्नि प्राणाग्नि मान लिया जाता है। इसी आधार पर हम कह सकते है कि, वस्तुपिण्ड मर्त्य है, विनाशशील है। एवं वस्तुमहिमा अमृत है, अविनाशी है। तत्त्ववाद की इसी मौलिकता के आधार पर यह लौकिक किंवदन्ती प्रतिष्ठित है कि,-'**शरीर नष्ट हो गया, किन्तु यश (महिमा) आजतक बना हुआ है**'। सामान्य भाषा में अग्नि के उक्त दोनों रूपों का 'शक्ति-

शक्तिमान्' द्वारा अभिनय कर सकते हैं। यद्यपि दोनों ही शब्द तत्त्वस्पष्टीकरण में असमर्थ हैं। तथापि उपलालन दृष्टि से यहाँ इन शब्दों का प्रयोग सम्भव बन रहा है। यह सभी को विदित है कि, प्रत्येक भौतिक पदार्थ में एक शक्तिविशेष प्रतिष्ठित रहती है। पदार्थ पाञ्चभौतिक बनता हुआ भूतप्रधान है। यही वैज्ञानिकों का **'मेटर'** है। इन पदार्थों में रहने वाली वह शक्ति, जिसके रहने पर वस्तुगत क्षरपरमाणु परस्पर समन्वित रहते हैं, संघठित रहते हैं, 'प्राण' नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्राणने क्षरपरमाणुओं का एकसूत्र में विधरण कर रक्खा है। अतएव वैदिकविज्ञान में प्राणतत्त्व 'विधर्त्ता' नाम से व्यवहृत हुआ है। लौकिक मनुष्य इसी को शक्ति (दम) कहते हैं। यही प्रतीच्य वैज्ञानिकों का 'फोर्स' है। प्राणलक्षणा शक्ति क्योंकि क्षरकूटरूप भूतपिण्ड के आधार पर प्रतिष्ठित रहती हुई भूतपिण्ड को संघठनात्मक स्वरूप से सुरक्षित रखती है, अतएव इसे दार्शनिक भाषा में **'कूटस्थ'** कहा गया है। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द, इन पाँचों तन्मात्राओं का सम्बन्ध क्षरपरमाणुसंघरूप भूतपिण्ड के साथ है। **'अवैकारिक रूढ क्षरपञ्चक'** का ही नाम पञ्चतन्मात्रा है, यही **'गुणभूत'** हैं। यही विज्ञानभाषा का **'विश्वसृट्'** है। **'वैकारिक विशुद्ध रूढ क्षर'** ही **'अणुभूत'** हैं, यही **'पञ्चजन'** है। **'वैकारिक पञ्चीकृत रूढ क्षर'** ही **'रेणुभूत'** है, यही **'पुरञ्जन'** है। **'वैकारिक सर्वरूप पञ्चधा-पञ्चीकृत रूढ क्षर'** ही **'महाभूत'** है, यही **'पुर'** है। इसप्रकार गुणात्मिका तन्मात्राएँ हीं भूतपिण्ड स्वरूपोदय की उपादान बन रही हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

***१-अवैकारिकरूढक्षराः———गुणभूतानि—* विश्वसृजः**

२-वैकारिकविशुद्धरूढक्षराः——अणुभूतानि--* पञ्चजनाः

३-वैकारिकपञ्चीकृतरूपा रूढक्षराः-रेणुभूतानि--* पुरञ्जनाः

४-वैकारिकसर्वरूपा रूढक्षराः——महाभूतानि--* पुराणि (पदार्थाः)

गुणाणुरेणुभूतों से सम्पन्न पाँच महाभूतों में आकाश, और तेज (प्रकाश), जब कि ये दोनों भूत भूत रहते हुए भी धामच्छद (स्थानावरोधक) नहीं हैं, तो भूतातीत शक्तिलक्षण अक्षरमूर्त्ति प्राण धामच्छद कैसे हो सकता है। इसी आधार पर इस प्राण का-**'रूपरसगन्धस्पर्शशब्दशून्यत्त्वे सत्यधामच्छदत्त्वम्'** यह लक्षण किया जाता है। प्राण प्रदेश नहीं रोकता, अतएव प्राणात्मक पार्थिव सौरसाममण्डलों का परस्पर अतिमान हो जाता है, जैसाकि पूर्व के अतिमान-परिलेखों से स्पष्ट है। भूतपिण्ड ही धामच्छद माना गया है। जब तक भूतपिण्ड प्राणशक्ति से युक्त रहता है, तब तक भूतपरमाणु संघठित रहते हैं। प्राणोत्क्रान्ति पर परमाणु विशकलित हो जाते हैं, संघटन टूट जाता है, वस्तुपिण्डस्वरूप पलायित हो जाता है। और उसी दशा के लिए सर्वसाधारण में-**'अरे अब इस में दम (प्राण) नहीं रहा'** यह कहावत प्रचलित है।

प्राण-भूत के उक्त स्वरूप निदर्शन से प्रकृत में यही कहना है कि, भूत उसी अग्नि का मर्त्य-चित्य-रूप है, प्राण उसी अग्नि का अमृत-चितेनिधेयरूप है, दोनों रूपों की समष्टि 'अग्नि' नामक प्रजापति है, जो केन्द्र में अनिरुक्तरूप से, महिमा में सर्वरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ-**'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्य-**

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन ईशभाष्य प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

मासीदर्द्धममृतम्' इस लक्षण को चरितार्थ कर रहा है। इसप्रकार स्वयं अग्नि अग्नित्वेन भूत (मूर्त्ताग्नि), प्राण (अमूर्त्ताग्नि) भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। भागद्वयात्मक यही अग्नि पूर्व कथित **'रस'** है।

यह रसाग्नि जिस 'वास' का अनुगामी बना रहता है, वह 'वास' ही इस अग्नितत्त्व (वस्तुतत्त्व) का छन्द माना गया है। इसी छन्दोरूप आयतन में यह उभयविध रसाग्नि प्रतिष्ठित रहता है। पाठकों को स्मरण होगा कि, प्राजापत्यवेदप्रकरण में **'छन्दांसि और त्रयीवेद'** नामक परिच्छेद में **'तस्माद्यज्ञात्०'** इत्यादि यजुर्मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि, आपोमय अथर्ववेद की ओर सङ्केत करता हुआ यह 'छन्दांसि'-पद वयोनाध का ही सूचक है। अब यहाँ दूसरे दृष्टिकोण से छन्दांसि का विचार किया जाता है। **'ऋचः सामानि जज्ञिरे, छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्'** इत्यादि वाक्य में पठित 'सामानि', 'छन्दांसि' दोनों पद वस्तुतः साम के ही सूचक हैं। छन्द ही वयोनाध है, वयोनाध ही परिणाह है, परिणाह ही साम है।

अग्निवास ही छन्द है। क्योंकि पूर्वकथनानुसार अग्नि के 'चित्य'-'चितेनिधेय' दो रूप हैं। अतएव वासलक्षण-छन्द भी दो भागों में विभक्त हो जाता है। चित्याग्नि का छन्द (आयतन) 'छन्दांसि' है, एवं चितेनिधेयाग्नि का छन्द 'सामानि' है। चित्यछन्द 'छन्दःसाम' कहलाया है, चितेनिधेयछन्द 'वितानंसाम' कहलाया है। **'ऋचां परिणाहः-अर्चिः'** के अनुसार ऋङ्मूर्त्तियों का परिणाह ही अर्चि है, अर्चि ही साम है। परिणाहरूप इस अर्चिःसाम के ही **'छन्दार्चिक'** एवं **'उत्तरार्चिक'** भेद से दो विभाग माने गए हैं। छन्दार्चिक चित्याग्नि का छन्द है, उत्तरार्चिक चितेनिधेयाग्नि का छन्द है। पिण्डपरिणाह छन्दार्चिक है, मण्डलपरिणाह उत्तरार्चिक है। छन्दार्चिक 'छन्दांसि' है, उत्तरार्चिक 'सामानि' है। विष्कम्भ भी (छन्दोवेद प्रकरण में) छन्द माना गया है। इसके त्रिगुणन से पिण्डपरिणाह को छन्दः न कह कर 'छन्दांसि' कहा गया है। उधर मण्डलपरिणाह भी एक सहस्र हैं। अतएव उनके लिए भी 'साम' के स्थान में 'सामानि' कहना ही अन्वर्थ बनता है।

निष्कर्ष यही है कि, मौलिक अग्नितत्त्व 'वय' है, इसका 'वास' ही वयोनाध है। अग्निद्वैविध्य से वास भी दो हो जाते हैं। मण्डलात्मक वासस्थान में अग्नि का ही व्युत्क्रम हुआ है। अतएव इसे हम वितान भी कह सकते हैं। उधर पिण्डात्मक वासस्थान में अग्नि ही चित्यरूप से प्रतिष्ठित है, अतएव इसे हम 'छन्द' कह सकते हैं। यह छन्द वही 'छन्दांसि' है, यह वितान वही 'सामानि' है। अग्नि के ही **'अग्निस्वरूप'** **'अग्निवास'**, **'अग्निव्युत्क्रम**, भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। ये ही तीनों विवर्त्त क्रमशः 'यजुः, ऋक्, साम' हैं। अग्निस्वरूपलक्षण यजु रस है, अग्निवासलक्षण ऋक् छन्द (छन्दांसि) है, एवं अग्निव्युत्क्रमलक्षण (प्राणाग्निवासलक्षण) साम वितान (सामानि) है, तीनों विवर्त्त एक ही प्रजापति के विवर्त्त हैं। इसप्रकार तीनों वेदों का अग्निविवर्त्तत्त्व भलीभाँति सिद्ध हो जाता है।

४६-व्युत्क्रमण-विक्रमण, एवं उत्क्रमण—

व्युत्क्रमण, विक्रमण, उत्क्रमण, तीनों व्यापारों का क्रमशः अग्नि, विष्णु, इन्द्र, इन देवताओं के साथ सम्बन्ध है। केन्द्र को आधार बना कर (पकड़े हुए) आगे बढ़ना विक्रमण है, केन्द्र को छोड़ कर आगे बढ़ना उत्क्रमण है, एवं जिस व्यापार में दोनों का समन्वय रहे, वही व्युत्क्रम है। यह सिद्धान्तपक्ष है कि, इन्द्राविष्णु की प्रतिस्पर्द्धा से ही अग्निमयी वेदसाहस्री का प्रादुर्भाव हुआ है। अतएव अग्नि में इन्द्राविष्णु

के उत्क्रमण, विक्रमणधर्म्मों का समावेश आवश्यक बन जाता है। उभयधर्म्मावच्छिन्न अग्नि के व्युत्क्रम से ही महिमामण्डल पूर्ण बनता है। छन्दो–वितान–रसलक्षणा वेदत्रयी की ये ही कुछ एक सामान्य परिभाषाएँ हैं, जिन्हें लक्ष्य में रखने से वेदतत्त्वसम्बन्धिनी जटिलता का एकान्ततः निरसन सम्भव है। पाठकों से सानुरोध निवेदन किया जायगा कि, वे अग्नि की इस पारिभाषिक व्याप्ति को लक्ष्य में रख कर ही त्रयीवेद की त्रयीमहिमा से सम्बन्ध रखने वाले त्रिवृद्भाव का समन्वय करें। फिर विरोध, किंवा दुरूहता का अणुमात्र भी अवसर नहीं है।

४५–अग्निपरिभाषा—

१—"वाक्–अग्निः, अग्निर्वाक्। तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषदित्याहुः। सैषा वाक् प्राणगर्भिता। प्राणश्च मनोमयः। अतश्च मनोमयप्राणगर्भिता वाक्, एव वाक्। सोऽग्निः। स एव वेदः। मनोमयप्राणगर्भिता वाक्–वेदः। वाग्विवृताश्चवेदाः, इत्याहुः। 'अग्निविवृताश्च वेदाः' इति निष्कर्षः।

२–१–इन्द्रः—उत्क्रमते—केन्द्रविच्युतिः
२–विष्णुः–विक्रमते—केन्द्रपरिग्रहः
३–अग्निः–व्युत्क्रमते—उभयोः परिग्रहः
} उत्क्रमण–विक्रमण–संयोगादेवाग्नि–र्व्युत्क्रमते।

३– – चित्याग्निः (भूताग्निः)……रसः
– चितेनिधेयाग्निः (प्राणाग्निः)…रसः
} रसवेदः……यजुः
– चित्याग्नेश्छन्दः…………छन्दः }—छन्दोवेदः… ऋक्
—चितेनिधेयाग्नेश्छन्दः…… वितानम् } वितानवेदः… साम
} अग्निवेदत्रय

४–१–छन्दः—ऋक्
२–वितानम्–साम
३–रसः—यजुः
} अग्निः (अग्निवेदस्त्रयीवेदः)।
❀–योनिः—अथर्वः }—सोमः (सोमवेदश्चतुर्थवेदः)।
}—"सर्वे वेदाः"

५–१-अग्नेर्ग्रासश्छन्दः——–ऋक्
२-अग्नेर्व्युत्क्रमो वितानम्-साम
} वयोनाधौ
३-अग्नेः स्वरूपम्——–यजुः } —वयः
} "सर्वमिदं वयुनम्" ।

६–१-छन्दोवेदे परिणाहात्मकं यत् साम (पिण्डसाम-छन्दांसि)-तत्-"छन्दार्चिकं साम" ।
२-वितानवेदे परिणाहात्मकं यत् साम (मण्डलसाम-सामानि)-तत्-"उत्तरार्चिकं साम" ।
※-"ऋचां परिणाहोऽर्चिः । अर्चिर्दीप्यते, तानि सामानि, स साम्नां लोकः" ।
१-छन्दार्चिकसामप्रकरणे —१—ऋक् (पिण्डव्याप्तिः) ।
२-उत्तरार्चिकसामप्रकरणे —३—ऋचः (मण्डलव्याप्तिः) ।

※

७–१-मूर्त्तिः (पदम्)........पिण्डः-छन्दोवेदः-छन्दोलक्षणः (अत्रापि वेदत्रयोपभोगः) ।
२-मण्डलम् (पुनःपदम्)...तेजः—सामवेदः—वितानलक्षणः (अत्रापि वेदत्रयोपभोगः) ।
३-पद्भ्यांप्रतिष्ठितः...... गतिः-यजुर्वेदः—रसलक्षणः (अत्रापि वेदत्रयोपभोगः) ।

※

८–१-मूर्त्तिः——ऋग्वेदः
२-गतिः——यजुर्वेदः
३-तेजः——सामवेदः
} त्रयीविद्या-देवविद्या
४-प्रतिष्ठा—अथर्ववेदः } अथर्वविद्या-भूतविद्या
} "सैषा अपराविद्याचतुष्टयी"

※-"अथर्ववेदः सौम्यः, आप्यः । आपो वै सर्वाणि भूतानि (शत० १०।५।४।१३) । त्रय्यां वाव विद्यायाम् ऋग्-यजुः-साममय्यां प्रजापतिः सर्वाणि-अथर्वमयानि भूतान्यपश्यत्" ।

४८–त्रयीभावों का समन्वय—

उक्त परिभाषाओं को लक्ष्य में रखते हुए पूर्व की छन्दोलक्षणा वेदत्रयी, एवं वितानलक्षणा वेदत्रयी का विचार कीजिए। दोनों का यथावत् समन्वय हो जायगा। हृदय, विष्कम्भ, परिणाह, ये तीनों भाव अग्निर्वास-लक्षण छन्दोमय ऋग्वेद के विवर्त्त हैं। ये ही क्रमशः ऋग्वेदीय 'यजुः-ऋक्-साम' हैं। महिमामण्डल के नाभ्य ३६० सूत्रों से सम्पन्न सहस्र साममण्डलों की समष्टि ही वितानलक्षण मण्डलात्मक सामवेद है पूर्व मण्डलात्मक साम ऋक् है, उत्तरमण्डलात्मक साम साम है, मध्यस्थ 'उक्थामद' नामक मूर्त्तियों के परिणाह यजु हैं। महिमावितानलक्षण इसी सामवेदत्रयी का निम्नलिखित मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

> "यजूदरः सामशिरा असावृङ्मूर्त्तिरव्ययः।
> स ब्रह्मेति हि विज्ञेयः, ऋषिर्ब्रह्ममयो महान्" (कौ० उप० १।७।)।

बस्तिगुहा, उदरगुहा, शिरोगुहा, भेद से त्रिधा विभक्त आध्यात्मिक संस्था के साथ तुलना करते हुए श्रुति ने बस्तिगुहा-स्थानीय पूर्वमण्डलात्मिका ऋक् को 'मूर्त्ति' कहा है। उदरगुहा-स्थानीय मध्यस्थ मूर्त्ति-मण्डलात्मक यजु को 'उदर' कहा है, एवं शिरोगुहास्थानीय उत्तरमण्डलात्मक साम को 'शिरः' कहा है। इस प्रकार मण्डलत्रयी के भेद से *अहर्गणात्मक सामवेद में भी छन्दोवेदमय ऋग्वेदवत् तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है। मण्डलात्मक इस सामत्रयी के सम्बन्ध में दो चार प्रासङ्गिक परिभाषाओं पर और दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

४९–सामव्यूहनरहस्य—

'नासामा यज्ञोऽस्ति' के अनुसार बिना साम के त्रयीविद्या से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञ का २१ पर्य्यन्त वितान असम्भव है। सामवितान के आधार पर ही श्रुति की "यज्ञं कृत्वा सत्यं (वेदं) तनवामहै" प्रतिज्ञा कार्यरूप में परिणत हो रही है। इसीलिए वैध-यज्ञ में भी यज्ञारम्भ में हिङ्काररूप से, यज्ञमध्य में उद्-गीथरूप से, एवं यज्ञसमाप्ति पर निधन (उद्व) रूप से उद्गाता लोग सामगान किया करते हैं। अतएव साम को हम यज्ञस्वरूपसम्पादक कह सकते हैं। सामवितान का पूर्व में सहस्रमण्डलरूप से दिग्दर्शन कराया गया है। अब विशुद्ध याज्ञिक दृष्टि से भी वितानलक्षण सामव्यूहन का प्रकार देख लीजिए।

– मनःप्राणगर्भिता वाक्–गौः–सैषा गौसाहस्री।
* गौसमष्टिः–अहर्गणाः।
* अहर्गणसमष्टिः— स्तोत्राणि।
* स्तोत्रसमष्टिः— स्तोत्रियाः।
* स्तोत्रियासमष्टिः— सामवेदो वितानाख्यः

} सामवितानपरम्पराक्रमः

मूर्तिमात्र के साथ **'स्पृश्य, दृश्य, पारावत'** इन तीन पृष्ठों का सम्बन्ध है । चौथा नभ्य (केन्द्र) पृष्ठ इन तीनों पृष्ठों का मूलाधार है । नभ्यपृष्ठ के आधार पर प्रतिष्ठित स्पृश्यपृष्ठ ही 'पदं' लक्षण **'अन्तःपृष्ठ'** है । अन्तःपृष्ठ (वस्तुपिण्ड) के आधार पर वितत होने वाला ४८ अहर्गणात्मक महिमामण्डल ही 'पुनःपदं' लक्षण **'बहिःपृष्ठ'** है । सामनिरुक्ति में चाक्षुषसामातिमान का स्वरूप बतलाते हुए यह कहा गया था कि, वस्तुपिण्ड को हम छू सकते हैं, देख नहीं सकते । एवं महिमामण्डल को देख सकते हैं, छू नहीं सकते । अब इस सम्बन्ध में थोड़ा संशोधन करना पड़ेगा । पूरा महिमामण्डल कभी दृश्य नहीं बन सकता । इस महिमामण्डल में जहाँ तक रसाग्नि का व्युतक्रम है, वहीं तक वस्तुस्वरूप का प्रत्यक्ष सम्भव है । **'यत्त्र-किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकम् अग्निकर्म्मैव तत्''** (यास्कनिरुक्त) के अनुसार अग्नि ही दृष्टिकर्म्म का अतिष्ठाता (अधिष्ठाता) माना गया है । एवं ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले महिमामण्डल के २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त ही अग्नि (अग्नि-वायु-आदित्यात्मिका अग्नित्रयी) की व्याप्ति मानी गई है । जहाँ तक अग्नि की व्याप्ति है, वहीं तक हम वस्तु देख सकते हैं । २१ से बाहिर की महिमामयीं मूर्त्तियाँ स्पृश्यपिण्डवत् प्रत्यक्षमर्य्यादा से सर्वथा अतीत हैं । इसप्रकार अष्टाचत्त्वारिंशदहर्गणात्मक बाह्यपृष्ठ के दो विभाग हो जाते हैं । २१ पर्य्यन्त का महिमामण्डल दृश्यपृष्ठ है, ४८ तक का महिमामण्डल पारावतपृष्ठ है । पारावतपृष्ठ निधन-साम है, यहाँ सीमा समाप्त है । दृश्यपृष्ठ उद्गीथसाम है, एवं स्पृश्यपिण्ड प्रस्ताव है । इसप्रकार पृष्ठत्रय के भेद से प्रत्येक पदार्थ में त्रिपृष्ठ साम का समन्वय किया जा सकता है ।

❁—**नभ्यपृष्ठम्** (**हृदयम्**)——**मूलप्रतिष्ठा**

१—**स्पृश्यपृष्ठम्**	(**वस्तुपिण्डः**)—**प्रस्तावः—उत्**	—**त्रिपृष्ठं साम**
२—**दृश्यपृष्ठम्**	(**२१ मण्डलम्**)—**उद्गीथः—गीः**	
३—**पारावतपृष्ठम्**	(**४८ मण्डलम्**)—**निधनम्—थम्**	

दूसरी दृष्टि से मूर्त्तिस्वरूप की मीमाँसा कीजिए । प्रत्येक मूर्त्ति में पाँच पृष्ठों का समन्वय किया जा सकता है । **"प्रजापति,[1] चित्याग्निपिण्ड,[2] चितेनिधेयाग्निमण्डल,[3] सौम्यमण्डल,[4] प्राणमण्डल"**[5] भेद से मूर्त्तिविवर्त्त पञ्चधा विभक्त है । नभ्य आत्मा प्रजापति है, यही नभ्यपृष्ठ है । मर्त्याग्निपिण्ड चित्याग्नि-पिण्ड है, यही स्पृश्यपृष्ठ है । अमृताग्निमण्डल चितेनिधेयाग्निमण्डल है, यही दृश्यपृष्ठ है । आपोमण्डल सौम्य मण्डल है, यही 'अपांपृष्ठ' नामक पारावतपृष्ठ है । वाङ्मय मण्डल प्राणमण्डल है, यही 'ब्रह्मपृष्ठ' है । ये पाँचों पृष्ठ क्रमशः हिंङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतीहार, निधन, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं ।

नभ्यपृष्ठ सर्वपृष्ठात्मक बनता हुआ अपृष्ठात्मक एकाकीपृष्ठ है । स्पृश्यपृष्ठ-हृत्पृष्ठ, विष्कम्भपृष्ठ, परिणाहपृष्ठ, भेद से त्रिपृष्ठ है । दृश्यपृष्ठ-त्रिवृदग्निपृष्ठ पञ्चदशवायुपृष्ठ, एकविंश आदित्यपृष्ठ भेद से त्रिपृष्ठ है ।

पारावतपृष्ठ–एकादश आप्यपृष्ठ, द्वाविंश वायुपृष्ठ, त्रयस्त्रिंश सौम्यपृष्ठ भेद से त्रिपृष्ठ है। एवं ब्रह्मपृष्ठ–चतुर्विंश-गायत्रपृष्ठ, चतुश्चत्त्वारिंश त्रैष्टुभपृष्ठ, अष्टाचत्त्वारिंश जागतपृष्ठ भेद से त्रिपृष्ठ है। इसप्रकार हृल्लक्षण, त्र्यक्षरमूर्त्ति, नभ्यपृष्ठात्मक, सर्वपृष्ठात्मक, अपृष्ठात्मक सत्यप्रजापति के त्रिःसत्यभाव के आधार पर वितत चार पृष्ठों में तीन–तीन अवान्तर पृष्ठ व्याप्त हो रहे हैं। चार महापृष्ठों के बारह अवान्तरपृष्ठ हो जाते हैं। यही द्वादशाक्षरा जगती है, जिस द्वादशाक्षर जगतीमण्डल को उस नभ्यप्रजापति का जगत् कहा जाता है। जगती के आयतन में प्रतिष्ठित देव–लोक–वेद–छन्द–पशु–स्तोम–आदि सब कुछ उसी नभ्य ईशप्रजापति की सत्ता से आक्रान्त है जैसाकि—'**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्**' इत्यादि से उपवर्णित है।

उक्त पृष्ठों के सम्बन्ध में एक रहस्य पूर्ण घटना है–"**अप्तत्त्व की सर्वव्याप्ति**"। "**इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां, त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्**" इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार अप् के आधार पर होने वाली इन्द्राविष्णू की प्रतिस्पर्द्धा से ही 'साहस्री' लक्षण महिमामण्डल का विकास हुआ है। कृष्णाजिन–पुष्कर-पर्णों का तात्त्विक स्वरूप बतलाते हुए पूर्व प्रकरणों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, वस्तुपिण्ड कृष्णाजिन है, महिमामण्डल पुष्करपर्ण है, एवं '**आपो वै पुष्करपर्णम्**' के अनुसार अब्मण्डल ही पुष्करपर्ण है। इसी से अन्तःपुरलक्षण पिण्ड का निर्म्माण हुआ है; एवं यही बहिष्पुरलक्षण महिमामण्डल का स्वरूप समर्पक बन रहा है। मूर्त्ति एवं मण्डल, दोनों का मूलाधारभूत यह अप्तत्त्व वह रहस्यपूर्ण तत्त्व है, जिसके गर्भ में देवत्रयी, वेदत्रयी, लोकचतुष्टयी, यज्ञ, छन्दः, स्तोमादि, सब कुछ प्रतिष्ठित हैं। पूर्वोक्त द्वादशाक्षरा जगती का मौलिक स्वरूप यही अप्तत्त्व है, जिसे वैज्ञानिक लोग भृग्वङ्गिरोमय '**अथर्ववेद**' कहा करते हैं, एवं सर्वोपबृंहण का मूल होने से सर्वप्रतिष्ठा होने से जो अथर्वतत्त्व "**सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्**" (तैत्तिरीयब्राह्मण) इत्यादि श्रुति के अनुसार 'ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध है। त्रयीवेद एक ओर है, ब्रह्मवेद एक ओर है। ब्रह्मवेदमूर्त्ति, अथर्वलक्षण, भृग्वङ्गिरोमय इस पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व के '**भृगु–अङ्गिरा–अत्रि**' नाम के तीन मनोता हैं। इनमें भृगुमनोता '**आपः–वायुः–सोमः**' भेद से तीन भागों में विभक्त है, अङ्गिरा मनोता '**अग्निः–वायुः–आदित्यः**' भेद से तीन भागों विभक्त है, एवं अत्रिमनोता एकरूप बनता हुआ–'**न त्रिः**'–निर्वचन से '**अत्रि**' नाम से प्रसिद्ध है। '**वागेवात्रिः**' के अनुसार वाक्तत्त्व ही अत्रि है। इस वाग्रूप अत्रिमनोता के गर्भ में भृगुत्रयी प्रतिष्ठित है, एवं भृगुत्रयी के गर्भ में अङ्गिरात्रयी प्रतिष्ठित है। तीनों मनोताओं की अमृत–मर्त्य भेद से दो अवस्थाएँ हैं। मर्त्यलक्षणा मनोतात्रयी से मूर्त्ति का निर्म्माण हुआ है, अमृतलक्षणा मनोतात्रयी से मण्डल का विकास हुआ है। अपने इन्हीं तीन मनोताओं के आधार पर सर्वत्र व्याप्त रहने वाला सर्वरूप यह '**आपः**'–'**यदाप्नोत्–यदवृणोत्**' इत्यादि निर्वचनों के अनुसार 'आपः' नाम से प्रसिद्ध है।

वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर अष्टाचत्वारिंशस्तोम पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले अत्रिलक्षण वाङ्मय मनोता को ही ब्रह्मपृष्ठ कहा जायगा। वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर त्रयस्त्रिंशस्तोम पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले भृगुमनोता को ही अपांपृष्ठ कहा जायगा। वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर एकविंशस्तोमपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले अङ्गिरामनोता को ही अग्निलक्षण दृश्यपृष्ठ कहा जायगा। एवं वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर मूर्त्तिपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले मर्त्य भृगु–अङ्गिरा–अत्रिमनोता ही स्पृश्यपृष्ठ कहलाएगा। अत्रिमनोता नामक वाङ्मय ब्रह्म–पृष्ठ के २४–४४–४८, भेद से तीन अवान्तर पृष्ठ होंगे। भृगुमनोता नामक अपांपृष्ठ के ३३–२२–११ भेद से तीन अवान्तर पृष्ठ होंगे। अङ्गिरामनोता नामक अग्निपृष्ठ (दृश्यपृष्ठ) के २१–१५–६ भेद से तीन

अवान्तर पृष्ठ होंगे। एवं मर्त्य भृग्वङ्गिरोऽत्रि–मनोता नामक स्पृश्यपृष्ठ के हृदय–विष्कम्भ–परिणाह भेद से तीन पृष्ठ होंगे। इसप्रकार हमारे विज्ञ पाठक अप्तत्त्व की व्याप्ति का विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि, अप्तत्त्व ही अपने तीन मनोताओं के आधार पर सर्वरूप बन रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो जाता है—

❀–नभ्यप्रजापतिः————नभ्यपृष्ठम्—हिङ्कारः
१–चित्याग्निपिण्डः————स्पृश्यपृष्ठम्–प्रस्तावः
२–चितेनिधेयाग्निमण्डलम्—दृश्यपृष्ठम्—उद्गीथः
३–सौम्यमण्डलम्————अपांपृष्ठम्—प्रतीहारः
४–प्राणमण्डलम्————ब्रह्मपृष्ठम्—निधनम्

—"पञ्चविधं सामोपासीत"

❀–नभ्य–आत्मा————सर्वपृष्ठात्मकोऽपृष्ठः
१–मर्त्यभृग्वङ्गिरोऽत्रिपिण्डः–त्रिपृष्ठात्मकः–स्पृश्यः
२–अमृत–अङ्गिरोमण्डलम्—त्रिपृष्ठात्मकं–दृश्यम्
३–अमृत–भृगुमण्डलम्——त्रिपृष्ठात्मकं–पारावतम्
४–अमृतात्रिमण्डलम्———त्रिपृष्ठात्मकं–ब्रह्म

—"सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्"

३–अत्रिः—वाक्
२–भृगुः—आपः
१–अङ्गिराः–अग्निः

—अमृतप्रधाना मनोतात्रयी–'आपः' (मण्डलम्)

१–अङ्गिराः–अग्निः
२–भृगुः—आपः
३–अत्रिः—वाक्

—मृत्युप्रधाना मनोतात्रयी–'आपः' (मूर्त्तिः)

'सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्'
'सर्वमापोमयं जगत्'

जगदीश्वरः। द्वादशाहरा जगती— यदिदं जगत्—

❀

(१२) ३–जागतपृष्ठम् (४८)–वाक्
(११) २–त्रैष्टुभपृष्ठम् (४४)–वाक्
(१०) १–गायत्रपृष्ठम् (२४)–वाक्
} —अत्रिः (अमृतम्)——वाक्–ब्रह्मपृष्ठम्

❀

(९) ३–सौम्यपृष्ठम् (३३)–सोमः
(८) २–वायव्यपृष्ठम् (२२)–वायुः
(७) १–आप्यपृष्ठम् (११)–अग्निः
} —भृगुः (अमृतम्)——आपः–पारावतपृष्ठम्

❀

(६) ३–आदित्यपृष्ठम्(२१)–आदित्यः
(५) २–वायव्यपृष्ठम् (५)—वायुः
(४) १–आग्नेयपृष्ठम् (६)—अग्निः
} —अङ्गिराः (अमृतम्)–अग्निः–दृश्यपृष्ठम्

❀

(३) ३–परिणाहपृष्ठम् ❀
(२) २–व्यासपृष्ठम् ❀
(१) १–हृत्पृष्ठम ❀
} —भृग्वङ्गिरोऽत्रयः—(मर्त्यम्)—स्पृश्यपृष्ठम

"इन्द्रश्च विष्णु यदपस्पृधेथां, त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्"

❀

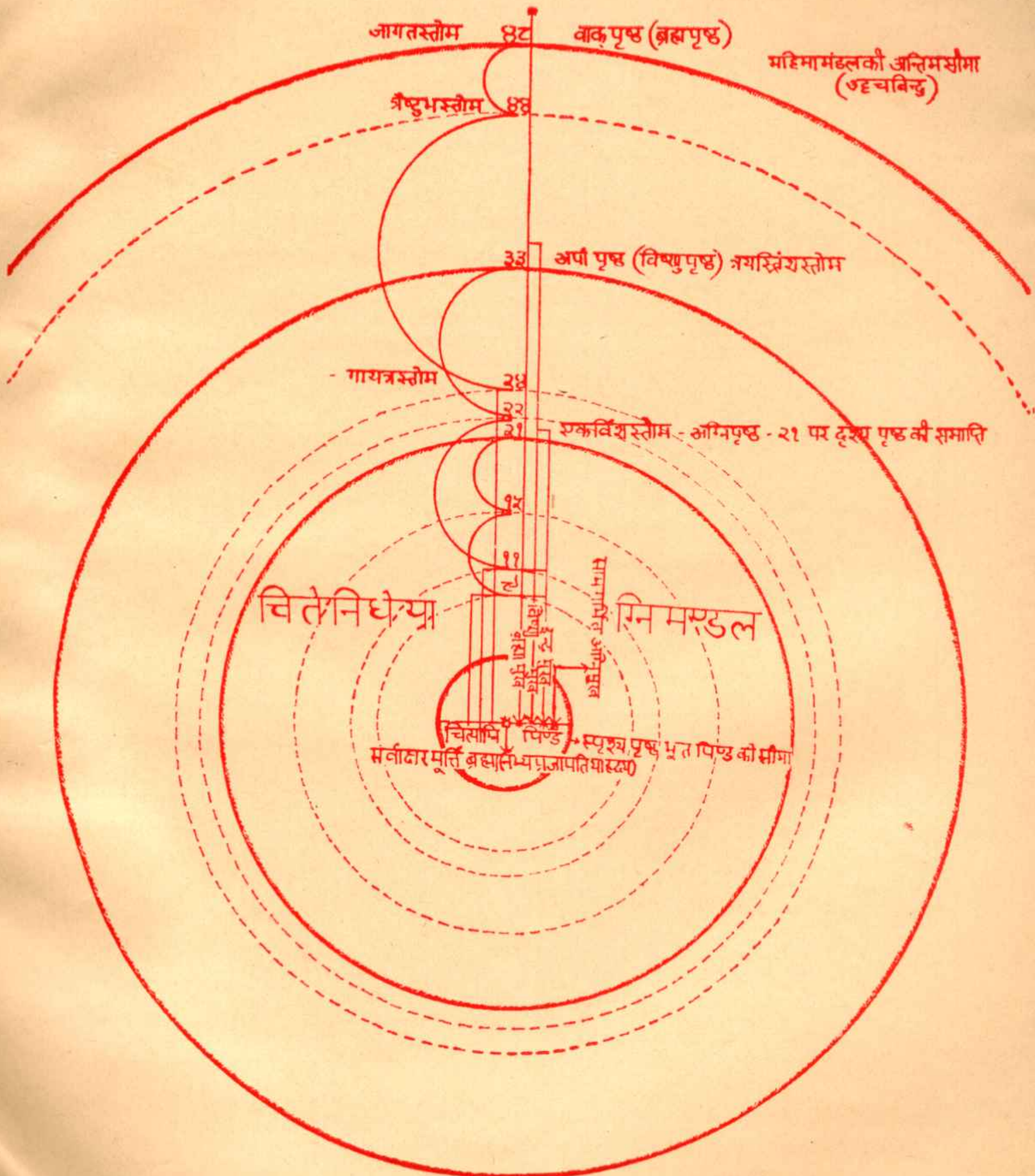
❀—नभ्य आत्मा–जगदीश्वरः

❀

सामात्मक पृष्ठों के उक्त पञ्चक का 'सप्तविधं सामोपासीत' के साथ भी समन्वय किया जा सकता है। मूर्त्तिपिण्ड के आधार पर प्रतिष्ठित महिमामण्डल के अपाँपृष्ठ में सौम्य–वायव्य–आप्य–भेद से तीन पृष्ठ बतलाए गए हैं। यदि अयुग्मस्तोमदृष्टि से त्रिपृष्ठात्मक इस अपाँपृष्ठ का अवलोकन किया जाता है, तो इसके त्रिवृत्–पञ्चदश–सप्तदश–एकविंश–त्रिणव–त्रयस्त्रिंश ($\frac{१}{३}$–$\frac{२}{१५}$–$\frac{३}{१७}$–$\frac{४}{२१}$–$\frac{५}{२७}$–$\frac{६}{३३}$) भेद से ६ पृष्ठ हो जाते हैं। स्वयं मूर्त्तिपिण्ड **'हिंकार'** पृष्ठ है, त्रिवृत्पृष्ठ **'प्रस्ताव'** है, पञ्चदशपृष्ठ **'आदि'** है, सप्तदशपृष्ठ

(३५४, तथा ३५५ के मध्य में)

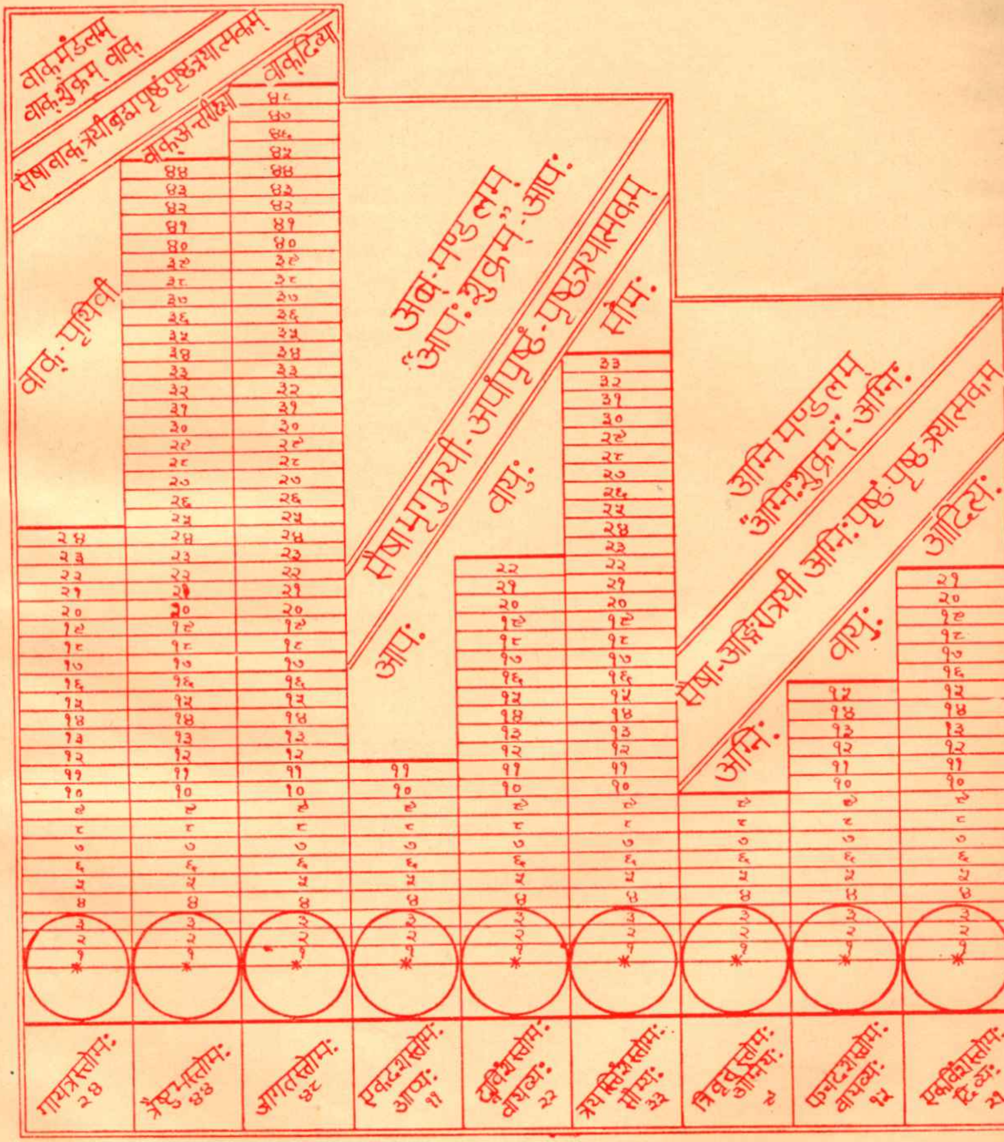
(२६)—पारावतपृष्ठानुगत—पार्थिव—जागतमण्डलपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३५४, तथा ३५५ के मध्य में)

(२७)-त्रैलोक्य–त्रिलोकीरूपस्तौम्यत्रैलोक्यानुगत–महापृथिवीपरिलेखः—

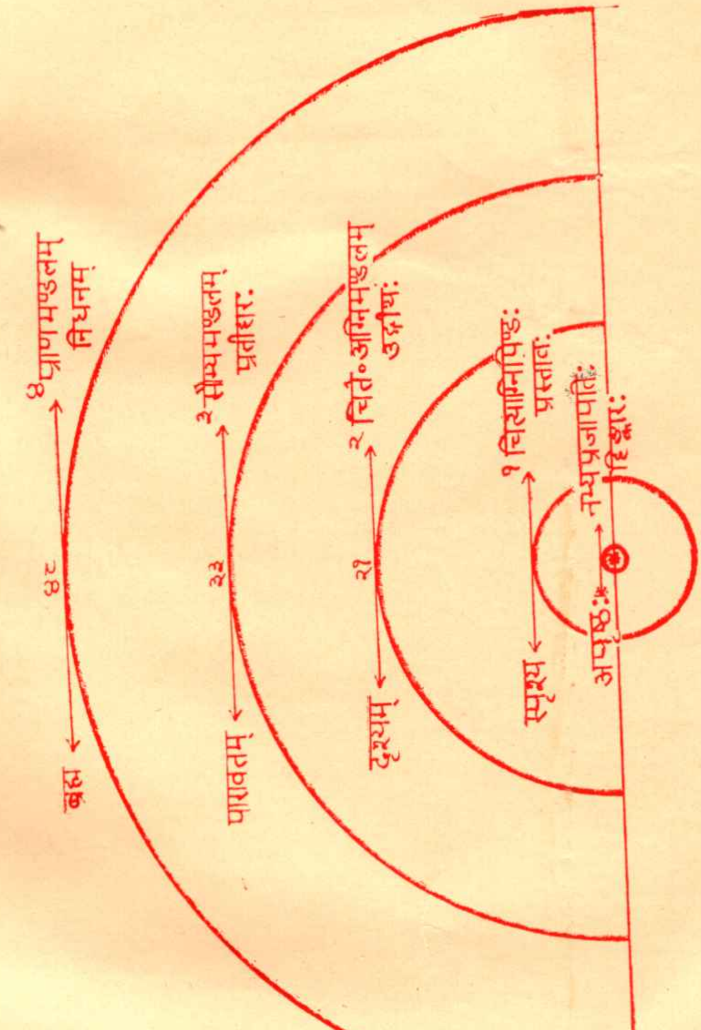


श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(२

(३५४, तथा ३५५ के मध्य में)

(२८)--पञ्चविधसामानुगत--पार्थिवमण्डलपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

'उद्गीथ' है, एकविंशपृष्ठ 'प्रतीहार' है, त्रिणवपृष्ठ 'उपद्रव' है, एवं त्रयस्त्रिंशपृष्ठ 'निधन' है। वर्णात्मिका, तथा सत्त्वात्मिका वाक् में भी इन सातों सामपर्वों का साक्षात्कार किया जा सकता है।

शब्दोत्पत्ति से पहिले होने वाला अग्नि का नोदनात्मक व्यापार, एवं वायुका प्रक्रमणव्यापार, दोनों की समष्टि 'हिङ्कार' है। स्थान-करणसंयोग से मुख में उत्पन्न शब्द 'प्रस्ताव' है। मुखविवर से विनिर्गत, वाक्समुद्र में वीचि-उत्पन्न करने वाला शब्द 'आदि' है। अन्य व्यक्ति के श्रोत्र में (वीचिन्याय से) पहुँचने-वाला (शब्दवीचिद्वारा श्रोत्रस्थान में प्रादुर्भूत होने वाला तात्कालिक) शब्द 'उद्गीथ' है। शब्दश्रवण का क्रमशः मन्द होते जाना 'प्रतीहार' है। श्रवणाश्रवणवृत्ति 'उपद्रव' है, एवं शब्दश्रवणव्यापार का उपराम ही 'निधन' है।

यद्यपि पदार्थमात्र सत्त्वात्मिका वाक् के उदाहरण मानें जा सकते हैं। तथापि सूर्य्य के साथ सातों का समन्वय इसलिए विस्पष्ट माना गया है कि, सूर्य्य-संस्था वाक् की प्रत्यक्ष प्रतिमा मानी गई है। अरुणोदय हिङ्कार है, प्रथमोदय प्रस्ताव है, संगव आदि है, मध्याह्न उद्गीथ है, मध्याह्नोत्तरकाल प्रतीहार है, अपराह्नकाल उपद्रव है, सायंकाल निधन है। इसप्रकार सभी वाक्प्रपञ्चों में दृष्टिकोण के भेद से इन सप्तविध सामभक्तियों का समन्वय किया जा सकता है।

१—अपांपृष्ठे सप्तविधं सामोपासीत—

—————— *

७—त्रयस्त्रिंशस्तोमः (३३)—निधनम्	(परमआवश्यक)	—'पदार्थेषु सप्तविधं सामोपासीत'
६—त्रिणवस्तोमः (२७)—उपद्रवः	(आपेक्षिक)	
५—एकविंशस्तोमः (२१)—प्रतीहारः	(आवश्यक)	
४—सप्तदशस्तोमः (१७)—उद्गीथः	(आवश्यक)	
३—पञ्चदशस्तोमः (१५)—आदिः	(आपेक्षिक)	
२—त्रिवृत्सोमः (९)—प्रस्तावः	(आवश्यक)	
१—सूर्य्यपिण्डः * —हिङ्कारः	(परमावश्यक)	

—————— *

२—शब्दवाक्प्रपञ्चे सप्तविधं सामोपासीत—

७—शब्दश्रवणव्यापारोपरतिः—	निधनम्	'शब्दात्मिकायां वाचि सप्तविधं सामोपासीत'
६—श्रवणमश्रवणं, नादमात्रं, वर्णश्रुत्यभावः	उपद्रवः	
५—शब्दश्रवणमान्द्यम्	प्रतीहारः	
४—अन्यश्रोत्रेन्द्रिये वीचिन्यायेन गतः शब्दः	उद्गीथः	
३—मुखाद्विनिर्गमनं बहिः—शब्दस्य	आदिः	
२—शब्दप्रादुर्भावो मुखे—	प्रस्तावः	
१—शब्दोत्पत्तेः पूर्वव्यापारः—नादः प्रक्रम-स्थान-भेदभिन्नः—	हिङ्कारः	

३—सत्त्ववाक्प्रपञ्चे सप्तविधं सामोपासीत—

७—सायम्— निधनम्	—'सत्त्वात्मिकायां वाचि सप्तविधं सामोपासीत'
६—अपराह्णः- उपद्रवः	
५—सन्धिः— प्रतीहारः	
४—मध्यन्दिनम्-उद्गीथः	
३—सङ्गवः (ह)-आदिः	
२—प्रथमोदयः- प्रस्तावः	
१—अरुणोदयः-हिङ्कारः	

५०-यजुर्वेदत्रयी का मौलिक रहस्य—

आगे जाकर 'यिष्टुति' के सम्बन्ध से इन सात सामभक्तियों के अवान्तर सहस्र विभाग हो जाते हैं, जिन्हें विस्तारभय से छोड़ते हुए साम-प्रासङ्गिक चर्चा यहीं समाप्त कर पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। यह कहा जा चुका है कि, अग्निस्वरूप का ही नाम यजुर्लक्षण रसवेद है, एवं अग्निवास

ऋग्लक्षण छन्दोवेद है, तथा अग्निव्युत्क्रमण सामलक्षण वितानवेद है। अग्निरस का साममण्डल के द्वारा ऊर्ध्व गमन होता है। जाते हुए इस अग्निरस की तीन संस्था बन जाती है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

पिण्डस्थ अग्नि पुरुष है, यही रसात्मक यजुर्वेद है। विस्रस्त होकर ऊर्ध्व गमन करने वाला अग्नि महदुक्थ है, यही रसात्मक ऋग्वेद है। विस्रस्तभागपूरक आगच्छत् अग्नि महाव्रत है, यही रसात्मक सामवेद है। अग्नि स्वयं रस है, रस ही यजु है। पुरुष, महदुक्थ, महाव्रत, तीनों रसाग्निरूप हैं, अतएव इन तीनों को हम 'यजुः' ही कहेंगे। रसात्मिका इसी यजुर्वेदत्रयी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

(मूलसूत्र) *-"अग्निरेष पुरस्ताच्चीयते सम्वत्सरे, उपरिष्टान्महदुक्थं शस्यते।

१—"प्रजापतेर्वि..स्तस्याग्रं रसोऽगच्छत। स यः स प्रजापतिर्व्यस्र'सत-सम्वत्सरः सः। अथ यान्यस्य तानि पर्वाणि व्यस्र'सन्त—अहोरात्राणि तानि। तदेतदत्रैव यजुश्चितं, अत्राप्तम्"।

२—"अथ योऽस्य सोऽग्रं रसोऽगच्छत्, महत्तदुक्थम्। तं रसं ऋक्-सामभ्यामनुयन्ति। यजुः पुरस्तादेति, अभिनतैव तदेति"।

३—"तमध्वर्यु र्ग्रहेण गृह्णाति। यद्गृह्णाति, तस्माद्ग्रहः। तस्मिन्नुद्गाता महाव्रतेन रसं दधाति। सर्वाणि हैतानि सामानि, यन्महाव्रतम्। तदस्मिन्त्सर्वैः सामभी रसं दधाति। तस्मिन् होता महोक्थेन रसं दधाति। सर्वा हैत ऋचो, यन्महदुक्थम्। तदस्मिन्त्सर्वाभिर्ऋग्भी रसं दधति"।

४—"ते यदा स्तुवते, यदानुशंसति, अथास्मिन्नेतं वषट्कृते जुहोति। तदेनमेष रसोऽप्येति। न वै महाव्रतमिदं स्तुतं शेते, इति पश्यन्ति, नो महदुक्थमिति। अग्निमेव पश्यन्ति। आत्मा ह्यग्निः। तदेनमेतेऽउभे रसोभूत्वा अपीत ऋक् च, साम च। तदुभे ऋक्सामे यजुरपीतः"।

५—"स एष मिथुनोऽग्निः। प्रथमा च चितिः, द्वितीया च, तृतीया च, तुचर्थी च, अथ पञ्चम्यै चितेः। यश्चितेऽग्निर्निधीयते, तन्मिथुनम्। मिथुन उ एवायमात्मा" (शत० १०।१।१।१-७ कं०)।

"*-(विस्रस्त सम्वत्सर की क्षतिपूर्त्ति के लिए, रिरिचान प्रजापति के विरिष्टसन्धान के लिए) पहिले अग्नि का (पार्थिव प्रवर्ग्याग्नि का) सम्वत्सर में चयन होता है, अनन्तर महदुक्थ का शंसन होता है। (१)-

विस्रस्त प्रजापति का रस आगे (आगे) चला। जो वह प्रजापति विस्रस्त हुआ, वह यह सम्वत्सर है। जो कि इस प्रजापति के वे पर्व विस्रस्त हुए, वे (पर्व) अहोरात्र हैं। इन्हीं (दोनों विस्रस्त भागों में) यजु चित है, यजु इनमें व्याप्त है। (२)–प्रजापति का जो रस आगे निकला, वह महदुक्थ है। इस रस को ऋक् साम (के आधार से) लेते है। यजु आगे आगे चलता है। यह (यजु) अभिनेता (सूत्रधार) की भाँति आगे आगे चलता है। (३)–(आगे जाते हुए) इस (यजुः) को अध्वर्यु ग्रह से ग्रहण करता है। ग्रहण करने से ही (यजुः) **'ग्रह'** कहलाया है। इस (ग्रहरूप यजु में) उद्गाता महाव्रत से रस का आधान करता है। ये सम्पूर्ण साम (मण्डल) ही महाव्रत है। इन्हीं सामों से वह यजु में रस डालता है। इस (ग्रहरूप यजु) में होता महोक्थ से रस डालता है (४)–[वे उद्गाता लोग जब स्तवन करते हैं.) होता लोग जब शंसन करते हैं, उसी समय 'वौषट्' बोलता हुआ अध्वर्यु आहुति देता है। इससे यह उस रस को आप्यायित कर देता है। न तो महाव्रत ही वस्तुतत्त्व है, न महदुक्थ ही वस्तुतत्त्व है। अपितु अग्नि ही वस्तुतत्त्वरूप से देखा जाता है। अग्नि ही आत्मा (वस्तुतत्त्व) है। इस आत्मरूप अग्नि को ये ऋक्–साम रसरूप बन कर आप्यायित करते हैं। ये दोनों ऋक् साम यजु के आप्यायन के कारण बन रहे हैं। (५ –यह आत्मरूप अग्नि मिथुन है। प्रथमा–द्वितीया–तृतीया–चतुर्थी, पञ्चमी, इन पाँच चितियों का नाम चित्याग्नि है। चित्य के आधार पर जिस अग्नि का आधान होता है, वही मिथुनभाव का स्वरूपसमर्पक है। यही अग्नि का मिथुनरूप (चित्य-चितेनिधेय) है। मिथुन ही आत्मा (अग्नि) है"।

५१–शस्त्र, स्तोत्र, एवं ग्रह-स्वरूपविज्ञान—

रसवेदत्रयी (यजुर्वेदत्रयी) का स्पष्टीकरण करने वाली उक्त 'अग्निरहस्य' श्रुति की पूरी व्याख्या के लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ अपेक्षित है। दिङ्मात्र से भी प्रकरण का कलेवर बढ़ रहा है। अतः प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल ६ शब्दों के पारिभाषिक अर्थों का ही दिग्दर्शन कर देना पर्य्याप्त होगा! **'शस्त्र[1]-स्तोत्र[2]-ग्रह[3]'-'महदुक्थ[4]-महाव्रत[5]-पुरुष[6]'** इन ६शब्दों के पारिभाषिक अर्थपरिज्ञान से रसवेद का स्वरूप गतार्थ बन जाता है। कर्म्मकाण्डनिष्णात कर्मठ याज्ञिकों को यह विदित है कि, वैधयज्ञ में 'अध्वर्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा' नाम के चार ऋत्विक् होते हैं। साथ ही अध्वर्यु यजुर्वेदी, होता ऋग्वेदी, उद्गाता सामवेदी, तथा ब्रह्मा त्रयीविद्या के साथ साथ अथर्ववेदी होता है। यजुर्वेदी अध्वर्यु यजुर्म्मन्त्रों से वषट्कारद्वारा आहुतिप्रदानलक्षण **'याज्या'** कर्म्म करता है। ऋग्वेदी होता ऋङ्मन्त्रों से **'अनुवाक्या'** (पुरोऽनुवाक्या) कर्म्म करता है। सामवेदी उद्गाता साममन्त्रों से **'स्तोत्रिया'** लक्षण सामगान करता है। एवं चतुर्वेदी ब्रह्मा चारों वेदमन्त्रों से यज्ञत्रुटि का पुनःसन्धान करता हुआ यज्ञ का निरीक्षण करता रहता है। पहिले होता अध्वर्यु के प्रैष (अनुज्ञा) से पुरोऽनुवाक्या करता है, अनन्तर अध्वर्यु याज्या करता है, अनन्तर उद्गाता सामगान करता है। उद्चसामगान से यज्ञस्वरूप सर्वात्मना सुसम्पन्न हो जाता है।

'पुरोऽनुवाक्या, याज्या, स्तोत्रिया', इन्हीं तीनों कर्म्मों के लिए क्रमशः **'शस्त्र–ग्रह–स्तोत्र'** शब्द नियत हैं। पुरोऽनुवाक्या 'शस्त्र' कर्म्म है, साधन ऋङ्मन्त्र हैं। याज्या 'ग्रह' कर्म्म है, साधन यजुर्म्मन्त्र हैं। स्तोत्रिया 'स्तोत्र' कर्म्म है, साधन साममन्त्र हैं। यह है वैधयज्ञकर्म्मत्रयी का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय। आध्यात्मिक, आधिदैविक और और जितनें भी प्राकृतिक नित्य ईश्वरीययज्ञ हैं, सबमें इसी कर्म्मत्रयी का समन्वय है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, पदार्थमात्र यज्ञात्मक हैं, यज्ञरूप हैं। एवं यज्ञात्मक प्रत्येक पदार्थ में

शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह, तीनों कर्म्मों का समन्वय हो रहा है। पदार्थ में भुक्त ऋक्तत्त्व से पदार्थानुबन्धी शस्त्रकर्म्म होता है, यजु से ग्रहकर्म्म होता है, साम से स्तोत्रकर्म्म होता रहता है। पदार्थस्वरूपसम्पादिका देवत्रयी के अग्निभाग से ऋकद्वारा शस्त्रकर्म्म होता है, वायुभाग से ग्रहकर्म्म होता है, आदित्यभाग से स्तोत्रकर्म्म होता है। पदार्थ में प्रतिष्ठित ये ही तीनों प्राणदेवता अपनी अपनी यज्ञसंस्था के ऋग्वेदी-यजुर्वेदी सामवेदी ऋत्विक् हैं। भृग्वङ्गिरोलक्षण अप्तत्त्व ही अथर्व है। **चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्ण"** के अनुसार पदार्थ में प्रतिष्ठित चान्द्रसोमभाग ही अथर्ववेदी ब्रह्मा है। इसके आयोमय मण्डल के गर्भ में ही अग्नित्रयी के द्वारा यज्ञ-कर्म्मत्रयी का वितान हो रहा है। यही आपोमय अथर्वा यज्ञविरिष्टसन्धाता बन रहा है। जैसा कुछ हम अपने यज्ञ में किया करते हैं, ठीक वैसा ही वहाँ हो रहा वै, सर्वत्र हो रहा है। वहाँ ऐसा हो रहा है, इसीलिए तो हमें अपने वैधयज्ञ में ऐसा ही करना पड़ता है। हमारा यज्ञकाण्ड तो विशुद्ध प्रकृति की प्रतिकृति है। वेद-ऋत्विक्-कर्म्म-आदि सब प्राकृतिक वेद-ऋत्विक्-कर्म्म आदि से समतुलित हैं।

वेदत्रयी के आधार पर वितत होने वाले शस्त्र, ग्रह, स्तोत्रकर्म्मत्रयीरूप यज्ञसंस्कार का ही नाम 'दैवात्मा' है। यही दैवात्मा यज्ञकर्त्ता यजमान की स्वर्गप्राप्ति का कारण बनता है। दैवात्मा आत्मा है, आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है। उधर तात्त्विक वेदत्रयी का ऋक्-साम भाग 'वाङ्मय' है, वाग्रूप है, यजुर्भाग प्राण-गर्भित मनोमय है, मनोरूप है। ऋग्लक्षणा मूर्त्ति चित्यवाक्पिण्ड है, सामलक्षण मण्डल चितेनिधेय वाङ्मण्डल है, दोनों निरुक्त हैं। हृद्यप्राणावच्छिन्न यजुर्लक्षण रसभाग उपाँशु है, अनिरुक्त है (देखिए शत० ४।६।७।१७।)। मण्डलात्मिका साममयी वाक् का मूलाधार पिण्डात्मिका ऋङ्मयी वाक् है। ऋङ्-मयी पिण्डवाक् के आधार पर ही साममयी मण्डलवाक् का केन्द्र से चारों ओर सहस्ररूपेण वितान होता है। आगे आगे साममण्डल बनते जाते हैं, साममण्डल के अनुगत मूर्त्तियों का वितान होता जाता है। जहाँ मण्डलात्मक साम पिण्डात्मिका ऋक् के आधार पर प्रतिष्ठित है, वहाँ पिण्डात्मिका ऋङ्मूर्त्तियाँ (उक्थामद-लक्षण मण्डलभुक्त दृश्य मूर्त्तियाँ) मण्डलात्मक सामों के अनुगत हैं। दूसरे शब्दों में आगे आगे उत्तरोत्तर मण्डलों का वितान होता जाता है, इसके साथ साथ ऋङ्मूर्तिलक्षण विष्कम्भों का वितान होता जाता है। क्योंकि इस दृष्टिकोण से ऋङ्मयी वाक् साममयी वाक् के अनुगत है, अतएव इसे **'अनुवाक्'** (पीछे पीछे चलने वाली मूर्त्तिमयी ऋक्-वाक्) कहा जाता है। इस अनुवाक् सम्बन्ध से ही होता के द्वारा होने वाले ऋङ्-मय शस्त्रकर्म्म को 'अनुवाक्या' कहा जाता है।

जैसी अनुवाक्या, वैसा स्तोत्र। जैसे अनुवाक्या-स्तोत्र, वैसा ग्रहकर्म्म। तात्पर्य्य यह हुआ कि, जिस प्रकार पानी का स्वरूप तदाधारभूत पात्रों के उच्चावच आकारों से समतुलित है, उसी प्रकार रसरूप यजुः का स्वरूप आयतनरूप ऋक्सामों से समतुलित है। पानी गोलपात्र में गोल है, चतुष्कोण में चतुष्कोण है। पानी का अपना कोई आकार नहीं है। आधारपात्रों का जैसा, जो आकार (वयोनाध-छन्द) है, पानी का भी वैसा वही आकार है। एवमेव रसलक्षण यजु का (प्राणगर्भित मन का) भी अपना आकार नहीं है। हम प्रत्यक्ष में अनुभव करते हैं कि, प्राणगर्भित हमारा मन बाह्य मूर्त्तियों के संस्काराकारों से छोटा-बड़ा बनता रहता है। हाथी के प्रतिबिम्ब से वही मन तदाकार है, सर्षप प्रतिबिम्ब से वही मन तदाकार है। **'यद्य-च्छरीरमादत्ते, तेन तेन स युज्यते'-'यो यच्छ्रद्धः, स एव सः'-'तं यथा यथोपासते, तथैव भवति'** इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रहीं हैं।

पिण्ड यदि गोल है, तो मण्डल भी गोल है, एवं पिण्ड-मण्डल में भुक्त प्राणरस भी तदाकार ही है। इसप्रकार मण्डल और प्राणरस, दोनों का आकार मूर्त्ति-पिण्ड के आकार से समतुलित रहता है। मूर्त्ति की जैसी काट-छाँट रहेगी, मण्डल, तथा रस स्वत एव उसी आकार में परिणत हो जायँगे। शिल्पी एक पाषाण खण्ड को शस्त्रविशेषों से (टाँकी, छेनी, आदि औजारों से) जैसा स्वरूप प्रदान कर देता है, पाषाणखण्ड उसी आकार (मूर्त्ति) में परिणत हो जाता है। एवं शिल्पी के इस शस्त्रकर्म्म से सम्पन्न मूर्त्ति का जैसा आकार एकबार बन जाता है, मण्डल, रस का भी वही आकार बन जाता है। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला हृद्यप्रजापति (अन्तर्य्यामी) ही शिल्पी है। मूर्त्तिबीजलक्षण 'ऋक्' ही इस शिल्पी के शिल्प-साधक (मूर्त्तिनिर्म्माणसाधक) शस्त्र (औजार) हैं। इस शस्त्र से मूर्त्ति बना डालना ही प्रजापति का शस्त्र-कर्म्म है। यही इस का शंसन है। चतुरशीतिलक्ष मूर्त्तियाँ महद्योनि में प्रतिष्ठित इसी शिल्पी के ऋङ्मय शस्त्रकर्म्म हैं। क्योंकि ऋक्-रूप शस्त्र से मूर्त्ति का निर्म्माण हुआ है, अतएव ऋक्कर्म्म को अवश्य ही 'शस्त्रकर्म्म' कहा जा सकता है। इसी तत्त्वमर्य्यादा के आधार पर ऋग्वेदी होता तात्विक् ऋक् की प्रतिकृतिभूत ऋङ्मन्त्र से शस्त्रकर्म्म करता है। पिण्डवाक्लक्षणा पुरोऽनुवाक्या ही इस का शस्त्रकर्म्म है। दैवात्मा की मूर्त्ति बनाना इसी ऋत्विक् का काम है। मूर्त्ति मण्डलसापेक्ष है। कहा जा चुका है कि, जैसी मूर्त्ति, वैसा मण्डल। जैसी ऋक्, वैसा साम। उद्गाता नाम का ऋत्विक् मूर्त्तिमयी वाक् का मण्डल रूप से वितान करता है, फैलाता है। यही इसका स्तोत्रकर्म्म है। उद्गाता के स्तोत्रकर्म्म (सामगान) से दैवात्ममूर्त्ति को मण्डलविभूति प्राप्त होती है। इसप्रकार आत्मा की 'मनः-प्राण-वाक्' कलाओं में से 'वाक्' कला का सम्पादन होता, एवं उद्गाता के द्वारा हो जाता है। एक (होता) ऋक्से शस्त्र करता हुआ पिण्डवाक् (शरीर) का निर्म्माण कर देता है, दूसरा (उद्गाता) साम से स्तोत्र करता हुआ मण्डलवाक् (महिमा) का विकास कर देता है। अब इन दोनों में रसाधान शेष रह जाता है।

शेष बचीं हुई दो कलाओं (मन-प्राण) का अध्वर्यु, तथा ब्रह्मा के द्वारा स्वरूप सम्पादन होता है। अध्वर्यु प्राणकला का स्वरूप सम्पादक बनता है, ब्रह्मा मनोभाव का स्वरूप संग्राहक बनता है। इधर मूर्त्ति केन्द्र है, उधर परिधि साम है, मध्यमें रसलक्षण प्राणगर्भित मन व्याप्त है। यही ग्रह है। मूर्त्ति-मण्डल, दोनों आकारमात्र हैं। हम इन का ग्रहण नहीं किया करते। अपितु इन के आधार (आयतन) पर प्रतिष्ठित उस रस का ग्रहण करते हैं, जो तृप्ति का कारण बनता है। रस से तृप्ति होती है। केवल आकार तृप्ति के कारण नहीं बना करते। क्योंकि ग्रहणमर्य्यादा का प्रधान स्थल रस है। अतएव प्राणगर्भित मन को, किंवा मनोगर्भित प्राणरस को अवश्य ही 'ग्रह' कहा जा सकता है। प्राणलक्षण गतितत्त्व ही यजु है। यही ग्रह है, यही रस है। अध्वर्यु अपने यजुर्मन्त्र से याज्या कर्म्म करता हुआ इसी रस का उस ऋक्-सामात्मक वाङ्मय दैवात्मा में आधान करता है। इस दृष्टि से अध्वर्यु को मनोव्यापार, तथा प्राणव्यापार, दोनों का सञ्चालक माना जा सकता है। मनःप्राणमय यजुर्लक्षण 'ग्रह' भाव ही मूर्त्तिकेन्द्र से आरम्भ कर मण्डलपरिधि पर्य्यन्त उत्तरोत्तर चलता है, अतएव इस ग्रहभाव को 'ग्रह' न कह कर **'ग्रहपुरश्चरण'** (उत्तरोत्तर वितत होने वाला ग्रह-यजुर्भाव) कहा गया है। चौथा ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् इन तीनों ऋत्विजों के व्यापार का भी निरीक्षण करता है, साथ ही मनोयोग द्वारा विशुद्ध मनःसम्पति का भी आधान करता जाता है। इसप्रकार चारों ऋत्विजों के व्यापार से यज्ञकर्त्ता यजमान का स्वर्गप्रापक मनः-प्राणवाङ्मय दैवात्मा सुसम्पन्न बन जाता है।

यही यज्ञकर्म्म भूतप्रधानता से वस्तुमात्र में हो रहा है। प्रतिज्ञात ६ शब्दों में से 'शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह' इन तीन शब्दों का यही पारिभाषिक अर्थ है। जिन में से प्रकृत में ग्रहशब्दवाच्य यजुः-रस ही प्रधान लक्ष्य है। वेदत्रयी के इसी मन.प्राणवाङ्मय आत्मभाव का विस्पष्ट शब्दों में स्पष्टीकरण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

"वागेव-ऋचश्च, सामानि च। मन एव यजूंषि। स यऽऋचा च, साम्ना च चरन्ति,वाक्-ते भवन्ति। अथ ये यजुषा चरन्ति, मनस्ते भवन्ति। तस्मात्-नानभिप्रेषितमध्वर्युणा किञ्चन क्रियते। यद्वाध्वर्युराह-'अनुब्रूहि', 'यज' इति, अथैव त कुर्वन्ति-यऽऋचा कुर्वन्ति। यदैवाध्वर्युराह-'सोमः पवतऽउपावर्त्तध्वम्' इति, अथैव ते कुर्वन्ति, ये साम्ना कुर्वन्ति। नो ह्यनभिगतं मनसा वागवदति। तद्वाऽएतन्मनोऽध्वर्युः पुर-इवैव चरति। तस्मात्पुरश्चरणं नाम"।

(शत० ४।६।७।१६,२०,)।

१*-मनः——(समष्टिः)—दैवात्मा——————सर्वमत्र प्रतिष्ठितम्

२-मनःप्राणौ-(यजूंषि)—ग्रह-पुरश्चरणम्-याज्या	(अध्वर्युर्गृह्णाति)	—"वेदत्रयी"
३-मर्त्यावाक्-(सामानि)—स्तोत्रम्————सामगानम्	(उद्गाता-स्तौति)	
४-अमृतावाक्-(ऋचः)—शस्त्रम्————पुरोऽनुवाक्या	(होता शंसते)	

५२-मदुहक्थ-महाव्रत, एवं पुरुष—

उक्त वेदत्रयी का व्यवहार यज्ञकाण्ड से प्रधान सम्बन्ध रखता है। विज्ञानकाण्ड में शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह शब्दों के स्थान में **'महदुक्थ-महाव्रत-पुरुष'** शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ऋक्शस्त्रात्मक मूर्तिपिण्ड 'महदुक्थ' है, सामस्तोत्रात्मिका मण्डलसाहस्री 'महाव्रत' है, एवं यजुर्ग्रहात्मक प्राणरस पुरुष है। मूर्तिपिण्ड स्वयं ऋक् है। ऋक् को विज्ञानभाषा में 'उक्थ' कहा गया है। क्योंकि इसी के आधार पर वस्तुप्राण का उत्थान होता है। प्राणवितानप्रभवस्थानीया मूर्ति उक्थ है, अतः इसे उक्थ ही कहना चाहिए था। परन्तु क्योंकि वितानमण्डल से सम्बन्ध रखने वालीं 'सहस्रधा महिमानः सहस्र' मूर्त्तियों का यह मूलपिण्ड आधार है, अतएव इसे 'महदुक्थ' कह दिया गया है। वितानवेदात्मक साममण्डल में भुक्त अवान्तर मूर्त्तियाँ भी अपनी अपनी साहस्री की अपेक्षा से उक्थ हैं। इन्हें-**'उक्थामद'** कहा जाता है। विकास साम का धर्म्म है, संकोच ऋक् का धर्म्म है। विकास हर्ष है, संकोच ग्लेपन है। हर्ष बढ़ाव है, ग्लेपन घटाव है मूर्त्तियाँ उत्तरोत्तर आकार में घटतीं जातीं

---

* इस विषय का विषद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य प्रथम वर्ष-प्रथमाङ्क में (पृ० सं० ४ से २५) देखना चाहिए।

हैं, मण्डल उत्तरोत्तर आकार में बढ़ते जाते हैं। वितानवेदनिरुक्ति में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, पूर्वमण्डल उत्तरमण्डल का 'मद' है, उत्तरमण्डल साम हैं। उत्तरमण्डल की अपेक्षा पूर्वमण्डल का श्लेपन है. पूर्वमण्डल की अपेक्षा मद है। दोनों भाव प्रत्येक मण्डल में, एवं प्रत्येक मूर्त्ति में विद्यमान है। इसी अभिप्राय से वितानमण्डलभुक्त मूर्त्तियों को 'उक्थामद' कहा गया है मण्डलावच्छिन्न मूर्त्तियों की समष्टि **'उक्थामद'** कहलाएँगी, प्रत्येक मूर्त्ति **'उक्थ'** कही जायगी, एवं मूलपिण्ड **'महदुक्थ'** माना जायगा, यही निष्कर्ष है।

महिमामण्डल समष्टिरूप से 'महाव्रत' कहलाएगा। एवं व्यष्टिरूप से 'व्रत' कहलाएगा। मूर्ति-मण्डल-भुक्त प्राणाग्निरस ही 'पुरुष' कहलाएगा। इसी को यजुर्वेद कहा जायगा। यही प्रकृत निरुक्ति का रसवेद माना जायगा।

५३-पुरुषलक्षणा यजुर्वेदत्रयी—

महदुक्थलक्षणा ऋग्वेदत्रयी, महाव्रतलक्षणा सामवेदत्रयी, दोनों के क्रमिक निरूपण के अनन्तर पुरुषलक्षणा यजुर्वेदत्रयी का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुआ है। वितानवेदनिरुक्ति में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, उत्तरोत्तर (बिन्दुद्वय-ह्रास से) छोटे होने वाले व्यास ऋक् हैं। हृद्यभावात्मक ये व्यास ही (तत्त्वात्मक प्राणबिन्दुसमष्टि ही) यजुर्वेदीय यजु है। एवं व्यासपार्श्वानुबन्धी प्राणबिन्द्वात्मक मण्डल ही यजुर्वेदीय साम है। इसी आधार पर यजु की सूच्यग्रादि तीन अवस्था बतलाई गई हैं। सूच्यग्र यजु के आधार पर व्यास का, सूचीमुख यजु से बहिर्मण्डलों का, एवं ऋजुभावापन्न यजु से केन्द्र का विकास हुआ है, यह भी वहीं स्पष्ट किया जा चुका है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, सूच्यग्र व्यास, सूचीमुख मण्डल, एवं ऋजुभावापन्न केन्द्र, तीनों आयतनमात्र हैं, वस्तुतत्त्व नहीं हैं। परन्तु यह भी असंदिग्ध है कि, ये तीनों वितान यजू-रस से ही परिपूर्ण हैं। यजु की व्याप्ति ही तीन प्रकार से हो रही है। इसीलिए इस आयतनत्रयी, एवं तत्प्रतिष्ठ यजुस्त्रयी में अभेद मान लिया गया है। इस अभेद का—'सूच्यग्र व्यास ऋक् है, सूचीमुख मण्डल साम है। एवं—'सूच्यग्रव्यासावच्छिन्न वही यजुरस (प्राणाग्नि) ऋक् है, सूचीमुख मण्डलावच्छिन्न वही यजुरस साम है, ऋजुभावापन्न हृदयावच्छिन्न वही यजुरस यजु है' इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है। कूटस्थव्यास के आधार पर भूतव्यासों के वितान से जो व्याससाहस्री प्रादुर्भूत हुई है, वही यजुर्वेदत्रयी की मुख्य प्रतिकृति है। मूर्त्तिपिण्ड को एक स्थान पर प्रतिष्ठित करते हुए उससे चारों ओर 'परोह्वयः', सूच्यग्र विष्कम्भ, 'पर उर्व्यः' सूचीमुख पृष्ठ, एवं ऋजुरेखा बनाते जाइए, यजुर्वेदत्रयी का चित्र बन जायगा। उस चित्र में आगे जाकर वितानवेदत्रयी, तथा छन्दोवेदत्रयीं का समावेश कर देने से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि, मूर्तिपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित हृद्यप्रजापति ही केवल संस्थानभेद से शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह-कर्म्म भेद से महदुक्थ-महाव्रत-पुरुष-रूप में परिणत होता हुआ छन्दोलक्षणा ऋक्, वितानलक्षण साम, रसलक्षण यजुः-रूप में विभक्त रहता हुआ भी तत्त्वतः अविभक्त है। यही छन्दो-वितान-रस-लक्षणा त्रिवृता वेदत्रयी का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है, जिसका केवल मन्त्रात्मक वेदग्रन्थों के आधार पर ही समन्वय नहीं किया जा सकता। विश्व में कौन सा ऐसा पदार्थ है, जो वेदशून्य है ?। किस पदार्थ में मूर्ति-मण्डल-रस' रूप से वेदत्रयी प्रतिष्ठित नहीं है ?। हम जो कुछ देख रहे है, वेदत्रयी की ही महिमा है। ब्रह्मनिःश्वसितलक्षणा स्वायम्भुवी वेदत्रयी के गर्भ में हीं गायत्रीमात्रिकलक्षणा सौरवेदत्रयी के द्वारा यज्ञमात्रिकलक्षणा भूतरूपा पार्थिववेदत्रयी का ही हमें साक्षात्कार हो रहा है। यही हमारा नित्य-कूटस्थ-अपौरुषेय वेदतत्त्व है। इसी के आधार पर शब्दात्मक वेदग्रन्थों का आविर्भाव हुआ है, जैसा कि पाठक अगले प्रकरण में देखेंगे।

३—तदित्थं-रसत्रयव्याप्तिभेदाद्यजुर्वेदे रसाख्ये वेदत्रयोपभोगः—

१—सूच्यग्रभावाः—विष्कम्भावच्छिन्नो रसः—यजुर्वेदमयो ऋग्वेदः	—रसवेदत्रय
२—सूचीमुखभावाः-पृष्ठावच्छिन्नो रसः——-यजुर्वेदमयः सामवेदः	
३—ऋजुमुखभावाः—हृदयावच्छिन्नो रसः——-यजुर्वेदमयो यजुर्वेदः	

—————————— *

समष्टिपरिलेखः—(छन्दोवितानरसलक्षणा वेदत्रयी)।

—————————— *

१—छन्दोवेदत्रयी (ऋग्वेदत्रयी)—

मूर्त्तिवेदः ऋक	१	१—कूटस्थविष्कम्भः—ऋग्वेदः (ऋक्)	—ऋक्प्रतिकृतिः (पृथक्द्रष्टव्या)
		२—पिण्डपरिणाहः——सामवेदः (ऋक्)	
		३—कूटस्थहृदयम् ——यजुर्वेदः (ऋक्)	

—————————— *

२—वितानवेदत्रयी (सामवेदत्रयी)

तेजोवेदः साम	२	१—पूर्वपूर्वमण्डलम्——ऋग्वेदः (साम)	—सामप्रतिकृतिः (पृथकद्रष्टव्या)
		२—उत्तर-उत्तरमण्डलम्--सामवेदः (साम	
		३—मण्डलद्वयभुक्ता मूर्त्तयः-यजुर्वेदः (साम)	

—————————— *

३—रसवेदत्रयी (यजुर्वेदत्रयी)

गतिवेदः यजुः	३	१—उत्तरोत्तरं ह्रस्वीभवन्तो विष्कम्भाः—ऋग्वेदः (यजुः)	-यजुःप्रतिकृतिः (पृथकद्रष्टव्या)
		२—उत्तरोत्तरं वृद्धिमन्ति पृष्ठानि——सामवेदः (यजुः)	
		३—ऋजुभावापन्ना रेखा————यजुर्वेदः (यजुः)	

—————————— *

उक्थम्—१-छन्दोवेदः—मूर्त्तिः—महदुक्थम्—ऋग्वेदः		
साम——२-वितानवेदः—मण्डलम्–महाव्रतम्—सामवेदः		—"मूलवेदत्रयी"
ब्रह्म——३-रसवेदः——प्राणाग्निः-पुरुषः——यजुर्वेदः		

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्डान्तर्गत

"अपौरुषेय वेद का तात्त्विक इतिवृत्त" नामक

चतुर्थ स्तम्भ उपरत

—४—

(३६४ के अन्त में)

(२९)-छन्दो-वितान-रस-भावानुगत-त्रयीवेदस्वरूपपरिलेखः—

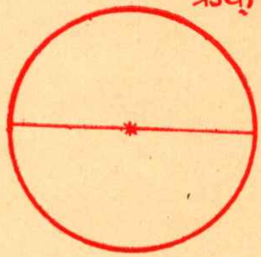
(१)–सैषा छन्दोवेदत्रयी (ऋग्वेदत्रयी)–

१–कूटस्थविष्कम्भः–ऋग्वेदः–ऋक्

२–पिण्डपरिणाहः–सामवेदः–ऋक्

३–कूटस्थहृदयम्—यजुर्वेदः–ऋक्

ऋक् प्रतिकृतिः



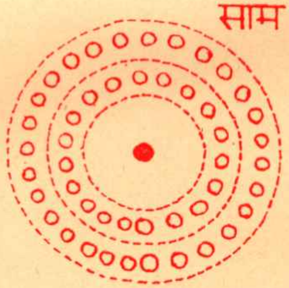
(२)–सैषा वितानवेदत्रयी (सामवेदत्रयी)–

१–पूर्वपूर्वमण्डलम्———ऋग्वेदः–साम

२–उत्तर-उत्तरमण्डलम्——सामवेदः–साम

३–मण्डलद्वयभुक्ता मूर्त्तयः–यजुर्वेदः–साम

साम प्रतिकृतिः

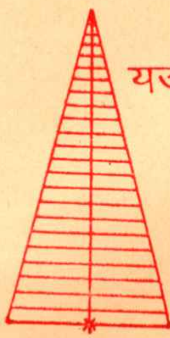


(३)–सैषा रसवेदत्रयी (यजुर्वेदत्रयी)–

१–उत्तरोत्तरं ह्रस्वीभवन्तो विष्कम्भाः–ऋग्वेदः–यजुः

२–उत्तरोत्तरं वृद्धिमन्ति पृष्ठानी——सामवेदः–यजुः

३–ऋजुभावापन्ना रेखा——————यजुर्वेदः–यजुः

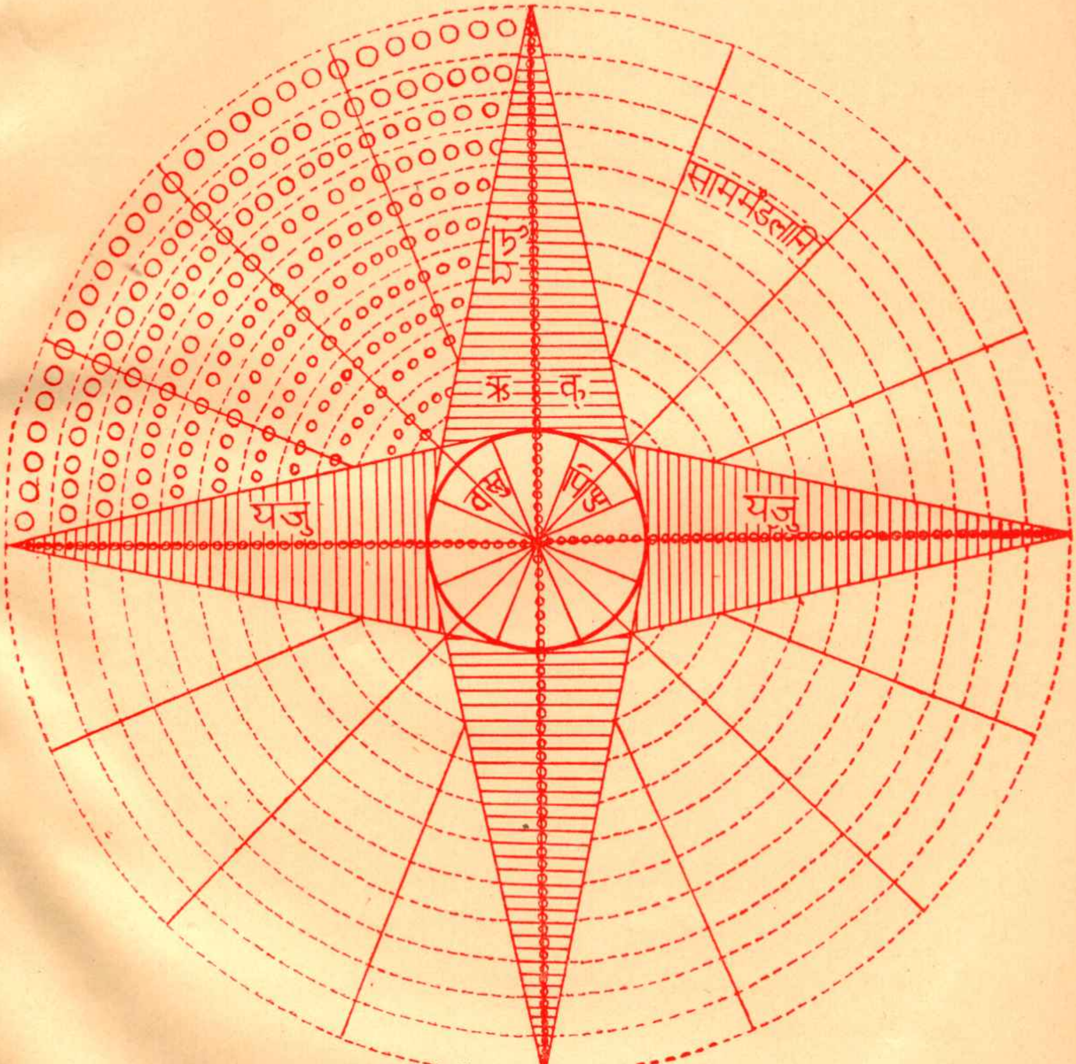


यजुः प्रतिकृतिः

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३६४ के अन्त में)

(३०)–वेदत्रयी--समष्टिपरिलेखः—



श्री:

'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका'-द्वितीयखण्डान्तर्गत

"अपौरुषेयवेद का तात्त्विक इतिवृत्त" नामक

चतुर्थस्तम्भ--उपरत

४

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत-

"अग्निविकासरहस्य, और वेदशाखा-विभाग" नामक

पंचम–स्तम्भ

५

———*———

श्री;

अग्निविकासरहस्य, और वेदशाखाविभाग

१–शास्त्रवेद और ब्रह्मवेद—

तात्त्विकवेद से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रतिपादित अपौरुषेयवेदेतिवृत्त से अनुप्रमाणित वेदस्वरूपावलोकन से सम्भवतः विज्ञ पाठकों का दृष्टिकोण इस तात्त्विक सिद्धान्त की ओर अवश्य ही आकर्षित हुआ होगा कि, "वेद एक तात्त्विक पदार्थ है, सृष्टि का मूलकारण है। एवं यह वेद नित्य, तथा अपौरुषेय है"। शब्दात्मक वेद-शास्त्र 'शास्त्रवेद' है. तत्त्वात्मकवेद 'ब्रह्मवेद' है। ब्रह्मवेद यदि शास्त्रवेद का आत्मा है तो शास्त्रवेद ब्रह्मवेद का शरीर है। आत्मस्थानीय ब्रह्मवेद यदि कूटस्थ नित्य है, तो शरीरस्थानीय शास्त्रवेद कृतक–मर्य्यादा से युक्त है। शरीरस्थानीय इस शास्त्रवेद के ११३१ विभाग विद्वत्समाज में सुप्रसिद्ध हैं, एवं आत्मस्थानीय ब्रह्मवेद के ८६४००० विभाग वैज्ञानिक समाज में सुप्रसिद्ध हैं। दोनों वेदों का यह संख्या–वैषम्य ही यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, तत्त्वात्मक ब्रह्मवेद पृथक् वस्तु है, एवं शब्दात्मक शास्त्रवेद पृथक् वस्तु है।

शब्दात्मक शास्त्रवेद की शाखाओं का, मण्डल, वर्ग, अष्टक, ऋचा, अध्याय, काण्ड, शब्द, अक्षर, इत्यादि का विभाग विद्वत्समाज के लिए तिरोहित नहीं है। जो महानुभाव वेदशाखादि से अपरिचित हैं, उन्हें एकबार 'चरणव्यूह' प्रकरण देख लेना चाहिए। चरणव्यूह में शब्दवेद का जो विभाग हुआ है, उसे सामने रखिए, एवं, 'प्राजापत्यवेदमहिमा' नामक पूर्व प्रकरण में २४ बृहतीसहस्र–संख्यात्मक जिस तत्त्ववेद का निरूपण हुआ है, उसे सामने रखिए। दोनों की संख्याओं का विचार कीजिए। प्राजापत्य नित्य तात्त्विक वेद त्रयी में भुक्त ऋग्वेद की ४३२००० ऋचाएँ होंगीं, यजुर्वेद के २८८००० यजु होंगे, सामवेद के १४४००० साम होंगे। एवं तीनों के संकलन से त्रयीवेद की कुल संख्या ८६४००० होगी। शब्दात्मक वेदमन्त्रों की संख्या का भी प्रकरण सङ्गति के लिए संक्षेप से निदर्शन करा देना अनुचित न होगा।

A चरणव्यूहानुसार शब्दात्मक (मन्त्रात्मक) वेद के 'ऋक्–यजुः–साम–अथर्व' भेद से चार भेद हैं। *B* इनमें ऋग्वेद की २१ शाखा हैं, यजुर्वेद की १०१ शाखा हैं, सामवेद की १००० शाखा हैं, एवं

A–"अथातश्चरणव्यूहं व्याख्यास्यामः। तत्र निरुक्तं चातुर्विद्यम्। चत्वारो वेदा विज्ञाता भवन्ति"।

B–"महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः। एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा-बाह्वृच्यं, नवधाऽथर्वणो वेदः" इति (पातञ्जलमहाभाष्य–'सन्त्य-प्रयुक्ताः')।

अथर्ववेद की ९ शाखा हैं। चारों के संकलन से ११३१ वेदशाखा होतीं हैं। **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार शब्दात्मक वेदशास्त्र मन्त्र-ब्राह्मण भेद से दो भागों में विभक्त है। वेदशास्त्र का मन्त्रभाग **'ज्ञातव्यवेद'** माना जा सकता है, एवं ब्राह्मणभाग को **'कर्त्तव्यवेद'** कहा जा सकता है। ज्ञातव्यवेद केवल जानने की वस्तु है, कर्त्तव्यवेद व्यवहार की वस्तु है। **'ज्ञात्वा'** का मन्त्रवेद से सम्बन्ध है, **'कर्म्माणि कुर्वीत'** का ब्राह्मणवेद से सम्बन्ध है। वर्त्तमान दृष्टिकोण के अनुसार यों कहा जा सकता है कि, सिद्धान्तपरिज्ञानात्मक (थ्योरिटिकल नॉलेज) वेदभाग मन्त्रवेद है, एवं व्यवहारात्मक (प्रेक्टिकल नॉलेज) वेदभाग ब्राह्मणवेद है। त्रि:सत्य प्राणदेवताओं की प्राणविभूति का स्पष्टीकरण करने वाले मन्त्रवेद के ज्ञातव्यविषय **'विज्ञान-स्तुति-इतिहास'** तीन भागों में विभक्त हुए हैं, एवं ब्राह्मणवेद के कर्त्तव्य विषय **'कर्म्म-उपासना-ज्ञान'** तीनों भागों में विभक्त होते हुए अपनी त्रित्वमर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। मन्त्रवेदचतुष्टयी के कुछ एक मन्त्र तो प्राकृतिक सृष्टिविज्ञान का विशुद्ध 'विज्ञान' रूप से निरूपण कर रहे हैं। कुछ एक मन्त्रों के द्वारा प्राणदेवताओं की स्तुति के द्वारा विज्ञान का प्रतिपादन हुआ है। एवं कुछ एक मन्त्र इतिहास के द्वारा विज्ञान का प्रतिपादन कर रहे हैं। मन्त्रवेद का प्रधान लक्ष्य है 'सृष्टि-विज्ञानप्रतिपादन'। यही कारण है कि ऐतिह्य मन्त्रों में भी परोक्षविधि से विज्ञान का निरूपण हुआ है, एवं स्तुतिमन्त्रों में भी देवस्तुति के साथ साथ प्राणदेवताओं के वैज्ञानिक स्वरूप का ही विश्लेषण हुआ है।

२–वैदिक इतिहासदृष्टि—

अपनी शब्दवेदभक्ति को अणुमात्र भी कम न करते हुए हमें यह कहना ही पड़ता है कि, ब्राह्मणवेद की कौन कहे, स्वयं मन्त्रवेद भी ऐतिह्य मर्य्यादा से शून्य नहीं है। अपौरुषेय भावानुगता भ्रान्ति ने अपनी स्वरूप-रक्षा के लिए इस एक दूसरी भ्रान्ति को जन्म दे डाला है। अपौरुषेयता की रक्षा के लिए ही वेदभक्तों को आगे जाकर अपना यह मन्तव्य बनाना पड़ा कि, वेद क्योंकि अपौरुषेय हैं, ईश्वरप्रणीत हैं, ईश्वर के निःश्वास हैं, अतएव इनमें इतिहास (मानव चरित्र) नहीं हो सकता। 'त्रिकालज्ञ ईश्वरप्रजापति अपने से पीछे होने वाले सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी–अग्नि–इन्द्र–वरुण–आदि का तो प्रतिपादन कर सकता था, किन्तु मानवचरित्र इसे विदित नहीं था" इस हेतु का हम किस आधार पर समन्वय करें, यह आज तक समझ में न आ सका। सह–योगियों की अपौरुषेयभक्ति का अभ्युपगमवाद से अभिनन्दन करते हुए क्या उनसे यह नहीं कहा जा सकता कि–भगवन् ! मानवचरित्र के समावेशमात्र से भय करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वह उत्तरभावी सृष्टिपर्वों का निरूपण करता हुआ अपनी कृति का अनादित्व सिद्ध कर सकता है, तो उत्तरभावी मानवचरित्र के समावेश से भी इसकी कृति के अपौरुषेयत्व पर कोई आक्रमण नहीं हो सकता। इतिहास मान लेने पर भी विश्व का कोई भी विद्वान् वेद की स्वतःप्रमाणता में सन्देह नहीं कर सकता।

उधर हमारे दृष्टिकोण से तो शब्दात्मक वेदशास्त्र ऋषियों की पवित्र वाणी है, सहजज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली सहजकृति है, जैसाकि तृतीयखण्ड में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। ऋषि मनुष्य थे, आकार–प्रकार में ठीक हमारे ही जैसे थे। उन्होंनें अपने सहजज्ञान से ईश्वरीय तत्त्ववेद का साक्षात्कार किया, विविध वैज्ञानिक (याज्ञिक) प्रक्रियाओं का आविष्कार किया। इन आविष्कारों को सहजवाणी में गुम्फित

किया। साथ साथ तत्कालीन मानवचरित्र का भी अपनी सहजवाणी से निरूपण किया। वही ऋषिग्रन्थ शब्दात्मक शास्त्रवेद कहलाया। **'अनृतसंहिता वै मनुष्याः'** सिद्धान्त पर कोई आपत्ति न करते हुए भी 'ऋषि' स्थान पर पहुँचे हुए (आप्त) पुरुषों के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को अपवाद ही मानना पड़ेगा। जो महानुभाव शब्दवेद को अपौरुषेय मानते हैं, उन्हें भी अपने **'शास्त्रयोनित्त्वात्'-'आप्तोपदेशः प्रमाणम्'-'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'-'यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्'** इत्यादि आप्त सिद्धान्तों की रक्षा के लिए आप्त पुरुषों की वाणी निर्भ्रान्त माननी ही पड़ती है। वे भी यह स्वीकार करते हैं कि, जिन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाती है, वे विदितवेदितव्य बन जाते हैं। भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान, तीनों उनके लिए प्रत्यक्षवत् हो जाते हैं। ऐसे त्रिकालज्ञ जो कुछ कहते हैं, वह हमारे लिए निःसदिग्ध प्रमाण है। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** यह वचन स्पष्ट ही ब्रह्मवेत्ता के वचन को 'ब्रह्मवाक्य' (ईश्वरवाक्य) बतला रहा है। त्रिकालज्ञ ऋषि ईश्वर के प्रतिनिधि हैं, प्रतिकृतिरूप हैं। ये जो कुछ कह रहे हैं, ईश्वर कथनवत् हमारे लिए मान्य है। एवं इसी दृष्टि से यदि आस्तिक प्रजा वेदशास्त्र को ईश्वरप्रणीत कहे, तो किसी को भी कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती।

यद्यपि यह ठीक है कि, मन्वादि धर्म्मशास्त्र, वेदान्तादि दर्शनशास्त्र, ब्रह्मादि पुराणशास्त्र, गोभिलादि सूत्रग्रन्थ श्रुतिप्रामाण्य के आधार पर प्रतिष्ठित होने से ही प्रमाणभूत हैं। अतएव इन्हें 'परतःप्रमाण' कहना अन्वर्थ बनता है। परन्तु कोई भी आस्तिक मन्वादि शास्त्रों को अनाप्तवाक्य कहने का साहस नहीं कर सकता। यदि इन की आप्तता में सन्देह किया जायगा, तो आर्षप्रजा के श्रौत-स्मार्त्त संस्कारों की प्रामाणिकता एकान्ततः उच्छिन्न हो जायगी। श्रौत, तथा स्मार्त्त सूत्रग्रन्थों में श्रोत-स्मार्त्त जिन ४८ संस्कारों की इतिकर्त्तव्यता (पद्धति) प्रतिपादित हुई है, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र में उस इतिकर्त्तव्यता का अभाव है। जब स्वतः-प्रमाणभूत वेदशास्त्र में संस्कारों की इतिकर्त्तव्यता नहीं, तो परतःप्रमाणरूप सूत्रग्रन्थों की संस्कारेतिकर्त्तव्यता का क्यों समादर किया जाय ?। ऐसी ऐसी अनेक विभीषिकाएँ उपस्थित हो सकतीं हैं उस समय, जब कि हम वेदशास्त्रातिरिक्त शास्त्रों की आप्तता में, निःसदिग्ध प्रामाणिकता में, सन्देह करने लगते हैं तो। वसिष्ठ, भरद्वाज, कश्यप, भृगु, अङ्गिरा, आदि वेदद्रष्टा महर्षियों की तुलना में राजर्षिमनु, भगवान्व्यास, कणाद, कपिल, गोतम, जैमिनि, पतञ्जलि, आदि आप्तपुरुषों का महत्त्व कभी कम नहीं किया जा सकता। इनके आदेश आर्षप्रजा को वेदवत् मान्य हैं। क्योंकि सभी अपने अपने विषय के द्रष्टा विद्वान् हैं। सभी अपने अपने स्थान में ऋषि हैं। निवेदन करने का अभिप्राय यही है कि, जिस भय से सहयोगी, एवं असहयोगी वेद को पुरुष-रचना मानने में संकोच करते हैं, वेद की स्वतःप्रमाणता सुरक्षित रखने के लिए 'भ्रान्तपुरुषकल्पना' से बचाने के लिए वेद को ईश्वरकृत मानते हैं, उन्हें भी यह स्वीकृत है कि, आर्षदृष्टियुक्त आप्तपुरुष भ्रान्तसिद्धान्त के अपवादस्थल हैं। आप्तपुरुषों के वचन कभी भ्रान्त नहीं हो सकते। एकमात्र इस दृष्टिकोण के आधार पर भी वे पुरुषमूलक भ्रान्तिसम्बन्ध को 'पौरुषेयवेदशास्त्र' से विच्छिन्न कर सकते हैं।

विषय अप्रस्तुत है। विस्तार सापेक्ष है। अन्य किसी स्वतन्त्र निबन्ध में वैदिक इतिहास का विवेचन किया जायगा। यहाँ हमें **"वेदों में अवश्य ही इतिहास है"** इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए ही प्रकृत का अनुगमन करना है। मौलिक इतिहास, जातीयता के मूलसूत्र, सभ्यता, राज्यप्रणाली, आदर्श, साम्राज्यवैभव, आदि अतीत विभूतियों का यदि यथार्थ परिचय प्राप्त करना है, तो हमें वैदिक इतिहास की ही शरण में जाना

पड़ेगा। 'पौरुषेयत्वापौरुषेयत्व' जैसे निस्तत्त्व, निरर्थक, शुष्क कलह में पड़ कर अपनी कल्पित, भ्रान्त आस्तिकता के मोहमें पड़ कर, जिस क्षण से भारतीयों नें वेदशास्त्र को इतिहासमर्य्यादा से पृथक् किया है, उसी क्षण से हमारा गौरवपूर्ण अतीत इतिवृत्त स्मृतिगर्भ में विलीन हो गया है। हमारा अपना तो यह निश्चित दृष्टिकोण है कि, यदि हमें अपने अतीत का वास्तविक स्वरूपज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा है, तो हमें वैदिक इतिहास को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाना पड़ेगा। 'हम क्या थे ?, क्या हो गए ?, क्या होते जा रहे है ?, इस का पूरा पूरा समाधान वैदिक इतिवृत्त से ही सम्भव है।

३–मूल, एवं तूलवेद—

* 'विज्ञान, स्तुति, इतिहास' इन तीन ज्ञातव्य विषयों का निरूपण करने वाला मन्त्रात्मक वेदभाग जहाँ मूलवेद है, वहाँ कर्त्तव्यविषयप्रतिपादक ब्राह्मणात्मक वेदभाग तूलवेद है। दोनों का बीज–वृक्षवत् घनिष्ठ सम्बन्ध है। कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, भेद से आर्षप्रजा के कर्त्तव्य + आश्रमव्यवस्थानुबन्धी गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, संन्यासाश्रम, इन तीन आश्रमों में विभक्त हैं। गृहस्थाश्रम कर्म्मप्रधान है, वानप्रस्थाश्रम उपासनाप्रधान है, एवं संन्यासाश्रम ज्ञानप्रधान है। कर्त्तव्यकर्म्मप्रतिपादक ब्राह्मणभाग **'विधि'** नाम से, कर्त्तव्योपासनाप्रतिपादक ब्राह्मणभाग **'आरण्यक'** नाम से, एवं अनुष्ठेय ज्ञानप्रतिपादक ब्राह्मणभाग **'उपनिषत्'** नाम से प्रसिद्ध है।

कहा जा चुका है कि, ज्ञातव्यवेद की ११३१ शाखा हैं। क्योंकि कर्त्तव्यवेद इसी ज्ञातव्यवेद का तूलरूप है, अतएव इस की भी इतनीं हीं शाखा हो जातीं हैं। वर्त्तमान में 'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध विधिग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ, उपनिषत्ग्रन्थ, प्रत्येक वेदशाखा के साथ तीनों तूलवेदों का सम्बन्ध है। यदि ऋग्वेद की २१ शाखा हैं, तो २१ ब्राह्मण हैं, २१ हीं आरण्यक हैं, २१ हीं उपनिषत् हैं। **'मन्त्रसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उनिषत्'** चारों को मिलाकर एक शाखावेद का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। मन्त्रभाग वेद का आदि है, उपनिषत्भाग वेद का अन्त है, अतएव **'सर्वे-वेदान्ताः'** इत्यादिरूप से प्राचीन परिपाटी में उपनिषद्भाग **'वेदान्त'** (वेद का अन्तभाग) नाम से प्रसिद्ध है। इन सब विषयों का विवेचन भूमिका प्रथम खण्ड के–**'उपनिषच्छब्दार्थ'** प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। यहाँ वक्तव्य यही है कि, यदि शब्दात्मक शास्त्रवेद की संख्याओं संकलन किया जाता है, तो हमें निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है—

---

* देखिए, गीताविज्ञानभष्यभूमिका, द्वितीयखण्ड 'क' विभाग, आत्मपरीक्षा,

\+ देखिए, गी० भूमिका, द्वितीयखण्ड 'ख' विभाग कर्म्मयोगपरीक्षा

१–ऋग्वेदशाखाः–२१	ब्राह्मणानि २१	आरण्यकानि २१	उपनिषदः २१	८४
२–यजुर्वेदशाखाः–१०१	ब्राह्मणानि १०१	आरण्यकानि १०१	उपनिषदः १०१	४०४
३–सामवेदशाखाः–१०००	ब्राह्मणानि १०००	आरण्यकानि १०००	उपनिषदः १०००	४०००
४–अथर्ववेदशाखाः–९	ब्राह्मणानि ९	आरण्यकानि ९	उपनिषदः ९	३६
११३१	११३१	११३१	११३१	४५२४
मूलवेदशाखाः— ११३१	तूलवेदविवर्त्तभावाः—		३३९३	

४–शाखाविभाग, और प्राचीन दृष्टि—

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद की उक्त शाखा-संख्याओं का क्या कारण ?, ऋग्वेद की २१ संहिताओं, २१ ब्राह्मणों, २१ आरण्यकों, २१ उपनिषदों में, एवमेव अन्यान्य संहिता–ब्राह्मणादि में प्रतिपादित विषयों की समानता है, अथवा विभिन्नता ?, इत्यादि प्रश्नों के उपस्थित होने पर प्राचीन व्याख्याता यह समाधान करते हैं कि, वेदाध्ययनसम्प्रदायप्रवर्त्तक आचार्य्यपरम्परा ही इस शाखाभेद का कारण है। अध्ययनसम्प्रदायभेद का, एवं सूत्रभेद का तात्पर्य्य समान है। "**शाकल, शाङ्खायन, आश्वलायन, माण्डूक, बाष्कल, ऐतरेय, कौषीतकि, पैङ्ग्य, मुद्गल, गोकुल, वास्य, शौशिर, शिशिर,**" आदि स्वाध्यायप्रवर्त्तक आचार्य्यों की भेद परम्परा ही शाखाभेद का मूल है। प्राचीनों के इस उत्तर का प्रतिवाद करना तो इस लिए धृष्टता है कि, वेदतत्त्वाध्ययन-परम्परा से वञ्चित हम लोगों का मूलमन्त्र '**तातस्य कूपः**' बन रहा है। यदि हम थोड़ी देर के लिए भी वेद के तात्त्विक स्वरूप पर दृष्टि डालने का अनुग्रह करते, तो शाखा–विभाग जैसे मौलिक–तात्त्विक–वैज्ञानिक भेद का केवल अध्ययनभेद पर ही विश्राम मानने की भूल न करते। शाखाभेद का वह मौलिक कारण क्या है ?, यह तो पाठक अनुपद में हीं विस्तार से प्रतिपादित देखेंगे हीं ; पहिले प्रसङ्गोपात्त चरणव्यूह–सम्मत मन्त्र-संहिताओं के अवान्तर पर्वों की ही संख्या का विचार कर लीजिए।

५–वेदसंख्यान—

पहिले क्रमप्राप्त ऋग्वेद को ही लीजिए। ऋग्वेद की जो शाखा व्यवहार में प्रचलित है, शाखा-रहस्यानभिज्ञ बन्धुओं नें जिस शाखा को मूलवेद, एवं इतर उपलब्ध–अनुपलब्ध ऋक्शाखाओं को वेदमर्यादा

से बहिष्कृत समझने की भूल कर रक्खी है, उस ऋग्वेद शाखा में १० मण्डल हैं, ६४ अध्याय हैं, ८ अष्टक हैं, २००६ वर्ग हैं, १०१७ सूक्त हैं, १०५८० ऋचा हैं, १५३४२६ शब्द हैं, ४३२००० अक्षर हैं।

यजुर्वेद शुक्ल–कृष्णभेद से दो भागों में विभक्त है। शुक्लयजुर्वेद की १५ शाखा हैं, कृष्णयजुर्वेद की ८६ शाखा है। सम्भूय यजुर्वेद १०१ शाखाओं में विभक्त है। कथानक प्रसिद्ध है कि, गुरुप्रदत्त यजुर्वेद का याज्ञवल्क्य ने तिरस्कार कर दिया, गुरु ने तित्तिर (तीतर) बन कर याज्ञवल्क्य से निकले हुए अपने वेद का संग्रह किया, वही कृष्णयजुर्वेद कहलाया, एवं स्वयं याज्ञवल्क्य ने अश्व (सूर्य्य) द्वारा जो नवीन वेद प्राप्त किया, वह शुक्लयजुर्वेद कहलाया। सम्प्रदायसिद्ध इस कथानक में ऊहापोह न करते हुए यह कहना पड़ेगा कि, यजुर्वेद के १०१ विभाग मौलिक यजुर्वेद की शाखाओं पर ही प्रतिष्ठित हैं। इन १०१ शाखाओं के नाम भी जब उपलब्ध नहीं होते, तो इन शाखाओं की उपलब्धि में कुछ भी कहना परितापवृद्धि का ही कारण होगा। ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले–**चरक, आह्वरक, कठ, प्राच्यकठ, कापिष्ठल, वारतन्तवीय, श्वेत, श्वेताश्वतर, औपमन्यव, पाताण्डिनेय, मैत्रायणीय, मानव, वाराह, दुन्दुभ, छागलेय, आपस्तम्ब, बौधायन, हिरण्यकेश, शाट्यायन,** इत्यादि कतिपय नामों का भी वस्तु–स्वरूप आज हमारे दुर्भाग्य से विलुप्त हो चुका है। इसके अतिरिक्त शुक्ल यजुर्वेद की "**काण्व, माध्यन्दिन, जाबाल, बुधेय, शाफेय, तापनीय, कपोल, पौण्ड्रवत्स, आववटि, परमावटिक, पाराशरीय, वैनेय, वैधेय, औधेय, गालव**" इन १५ शाखाओं में काण्व, तथा माध्यन्दिन नाम की दो शाखा सौभाग्य से बच रहीं हैं। शेष संहिताएँ या तो किसी भाग्यशाली विद्वान् के घर में ताड़पत्रों से सुरक्षित हैं, अथवा स्मृतिगर्भ में विलीन हो चुकीं हैं। शुक्लयजुर्वेद का प्राकृतिक 'वाज' (सूर्य्याश्व) से सम्बन्ध है, अतएव इन १५ हों शाखाओं को 'वाजसनेय' कहा जाता है। माध्यन्दिनी शाखा से सम्बद्ध व्यवहार में प्रचलित शुक्लयजुर्वेदसंहिता में ४० अध्याय हैं, १९०० मन्त्र हैं।

सामवेद की १००० शाखा प्रसिद्ध हैं। सुनते हैं, अनध्यायों में वेदस्वाध्याय करने वाले शाखाध्यायी इन्द्र के द्वारा मार डाले गए। फलतः सामवेद की अनेक शाखाएँ उच्छिन्न हो गईं। '**राणायनीय, शाट्यमुग्र, कापोल, महाकापोल, लाङ्गलिक, शार्दूल, कौथुम, आसुरायण, वातायन, प्राञ्जलि, वैनधृत, प्राचीनयोग्य, नैगेय,** इत्यादि जो कुछ एक सामशाखाओं के नाम सुने जाते हैं, वे भी अपनी नाममर्य्यादा पर ही विश्रान्त हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद की ९ शाखा भी आज केवल संख्यागणना की ही आधारभूमि बनी हुई हैं। सब्राह्मण, सारण्यक, सोपनिषत्क मन्त्रवेद के ४५२४ ग्रन्थों में से आज आर्षसाहित्य–भाण्डार में कितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं?, यह जान कर खेद तो इसलिए नहीं होता कि, जो १०–५ ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, वे भी आडम्बरपूर्ण अनार्षग्रन्थों के आवरण से स्वाध्याय परम्परा से वञ्चित हो चुके हैं। अस्तु, इन सब नियति–चर्चाओं की मीमांसा करना अनधिकारचेष्टा है। प्रकृत में इस वेदसंख्यान से हमें यही बतलाना है कि, ब्राह्मणग्रन्थों में तात्त्विकवेद की जो संख्या बतलाई गई है, वह इस शास्त्रवेदसंख्या से विषम बनती हुई यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, ये वेदग्रन्थ वेद के ग्रन्थ हैं, तात्त्विकवेद का स्पष्टीकरण करने वाला शब्दप्रपञ्च है। तात्त्विकवेद आत्मा है, शास्त्रवेद शरीर है। आत्मस्थानीय तात्त्विकवेद कूटस्थ नित्य है, अपौरुषेय है। शरीरस्थानीय शास्त्रवेद अनित्य है, पौरुषेय है। तात्त्विकवेद ऋषिदृष्ट है, शास्त्रवेद ऋषिकृत है। तात्त्विकवेद की दृष्टि से महर्षि जहाँ 'मन्त्रद्रष्टा' हैं, वहाँ शास्त्रवेद दृष्टि से महर्षि मन्त्रकृत हैं—"**नमा ऋषिभ्य मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः**"।

६-मन्त्रब्राह्मणात्मक तात्त्विकवेद—

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्-समष्टिरूप ब्राह्मणवेद, एवं ऋग्-यजुः साम-अथर्व-समष्टिरूप मन्त्रवेद, दोनों हीं 'वेद' शब्द से ग्राह्य हैं। क्यों कि प्राकृतिक नित्यवेद स्वयं मन्त्र-ब्राह्मणभेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। शास्त्रवेद क्यों दो भागों में विभक्त हुआ ?, इस प्रश्न का उत्तर वही तात्त्विकवेद है। तात्त्विकवेद के मन्त्र-ब्राह्मणविवर्त्तों के परिज्ञान के लिए हमें 'अदितिसंहिता' का आश्रय लेना पड़ेगा। पाठक देखेंगे कि, अदितिसंहितारूप तात्त्विक मन्त्रवेद अपने अपने तीन पर्वों से ब्राह्मणवेद को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित किए हुए हैं।

७-अदितिस्वरूपपरिचय-

भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाली अदिति का स्पष्टीकरण विस्तारसापेक्ष है। अतः इस सम्बन्ध में तो पाठकों से हम यही अनुरोध करेंगे कि, अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित अदितिस्वरूप का अवलोकन करने का कष्ट उठावें *। यहाँ इस सम्बन्ध में केवल यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि, चतुर्लोकात्मिका पृथिवी का वह अर्द्ध भाग, जो कि सूर्य्यसमसाम्मुख्य से ज्योतिर्म्मय बना हुआ है, अदिति है। एवं वह विरुद्ध भाग, जहाँ सौरज्योतिका अभाव है, दिति है। वही पार्थिव ज्योतिर्म्मण्डल अदिति है, एवं वही पार्थिव तमोमण्डल दिति है।

भूपिण्ड को केन्द्र में रखते हुए २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त एक मण्डल बना डालिए। यही मण्डल पार्थिव रथन्तर-साममण्डल कहलाया है, जैसाकि पूर्व के सामातिमान-परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। भूकेन्द्र से निकलकर २१ स्तोमावच्छिन्न साममण्डल में व्याप्त रहने वाला प्राजापत्य-प्राणाग्नि पार्थिव अग्नि है। इस अग्निमण्डल का ही नाम अदिति है, इसी का नाम दिति है। जो अग्निमण्डल सौरप्रकाश से अविच्छिन्नरूप से युक्त होकर ज्योतिर्म्मय बन रहा है, वही अदितिमण्डल है। जो अग्निमण्डल सौरप्रकाश से विच्छिन्न होकर तमोमय बन रहा है, वही दितिमण्डल है। अदितिमण्डलस्थ वही प्राणाग्नि ज्योतिर्म्मय बनता हुआ ज्योतिःप्रधान प्राणदेवताओं का दूत है, एवं दितिमण्डलस्थ वही प्राणाग्नि तमोमय बनता हुआ तमःप्रधान असुरप्राण का दूत है। देवाग्नि **'अग्नि'** नाम से प्रसिद्ध है, एवं असुराग्नि **'सहरक्षा'** नाम से प्रसिद्ध है—(देखिए शत० १।४।१।३४)।

आसुरभाव से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव तमोमय प्राण उसी पार्थिव प्रजापति का 'अवाङ्प्राण' है, दिव्यभाव से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव ज्योतिर्म्मय प्राण उसी का 'ऊर्ध्वप्राण' है। अदितिमण्डलावच्छिन्न ऊर्ध्वप्राण से देवसृष्टि हुई है, दितिमण्डलावच्छिन्न अवाङ्प्राण से आसुरी सृष्टि का विकास हुआ है (देखिए, शत० ११।१।६।८।)। जिस अदितिभाग से देवसृष्टि का सम्बन्ध है, उसके स्तोमभेदभिन्न तीन लोक प्रसिद्ध हैं। स्वयं अदितिमण्डल एक पार्थिवमण्डल है। क्यों कि भूकेन्द्र से आरम्भ कर एकविंशस्थ सूर्य्य पर्य्यन्त (सूर्य्य से भी कुछ ऊपर तक, २२ वें अहर्गण पर्य्यन्त) पार्थिव प्राणाग्नि व्याप्त है। अवार-पारीण इसी प्राणाग्नि का

---

* अदिति, दिति के स्वरूप परिचय के लिए-शतपथब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्य का अष्टविध देवता-प्रकरण, एवं गीताभूमिकाकर्म्मयोगपरीक्षा-खण्डान्तर्गत 'अदितिमूला वर्णसृष्टि' नामक प्रकरण देखना चाहिए।

नाम 'प्रजापति' है, जिस का देव-भूत-लोक-वेद-छन्द-स्तोमादि-निर्म्माण में विस्रंसन हुआ करता है। इस अविच्छिन्न धरातलस्थानीय प्राणाग्नि के आधार पर "त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश" भेद से तीन स्तोमविभाग प्रतिष्ठित हैं। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेश इस अदितिमण्डलात्मक पार्थिव मण्डल का 'पृथिवीलोक' है, तदवच्छिन्न घनभावापन्न, अतएव 'अग्नि' नामक पार्थिव अग्नि 'लोकाधिष्ठाता' है, अष्टाक्षर गायत्रीछन्द से यह छन्दित है, प्रातःसवन का अधिष्ठाता है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेश 'अन्तरिक्षलोक' है, तदवच्छिन्न तरलभावापन्न, अतएव 'वायु' नाम से प्रसिद्ध पार्थिव अग्नि लोकाधिष्ठाता है, एकादशाक्षर त्रिष्टुपछन्द से यह छन्दित है, माध्यन्दिनसवन का अधिष्ठाता है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेश 'द्यु लोक' है, तदवच्छिन्न विरलभावापन्न, अतएव 'आदित्य' नाम से प्रसिद्ध पार्थिव अग्नि लोकाधिष्ठाता है, द्वादशाक्षर जगतीछन्द से यह छन्दित है, सायंसवन का अधिष्ठाता है। पार्थिव अग्नि का आठ वसुगणरूप से, आन्तरिक्ष्य वायु का ग्यारह रुद्रगणरूप से, एवं दिव्य आदित्य का बारह आदित्यगणरूप से विकास हुआ है। प्रजापति मूल धरातल है, उस पर अग्नि-वायु-आदित्य नामक तीन मुख्य अतिष्ठावा देवता प्रतिष्ठित हैं। तीनों के आधार पर क्रमशः ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, ये ३१ गणदेवता प्रतिष्ठित हैं, साध्य नासत्य, दस्रप्राण ३३ संख्या के पूरक हैं। इसप्रकार अदितिगर्भमें ३३ प्राणदेवताओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है +। देवताओं के अतिरिक्त तीनों लोक, तीनों छन्द, तीनों सवन भी इसी अदितिगर्भ में प्रविष्ट हैं।

'द्यौष्पितः पृथिवि मातर॰" इत्यादि वैदिक परिभाषा के अनुसार पृथिवी शब्द 'माता' का सूचक है, 'द्यु' शब्द पिता का द्योतक है। उक्त अदितिमण्डल का ही त्रिवृत्प्रदेश पृथिवीलोक है। इस दृष्टि से इसी अदिति को 'माता' कहा जा सकता है। अदितिमण्डल का ही एकविंशप्रदेश द्युलोक है, एवं इस दृष्टि से इसी अदिति को 'पिता' कहा जा सकता है। ३३ देवता अदितिरस से ही समुद्भूत हैं, इस दृष्टि से इसी अदिति को 'पुत्र' भी माना जा सकता है। इसप्रकार भूकेन्द्र से २१ पर्य्यन्त व्याप्त अदितिमण्डल का सर्वरूपत्व सिद्ध हो जाता है। अदिति की इसी सर्वरूपता का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषिने कहा है—

"अदितिर्द्यौः, अदितिरन्तरिक्षम्, अदितिर्म्माता, स पिता, स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः, पञ्चजना, अदितिर्जातमदितिर्जनित्त्वम्"

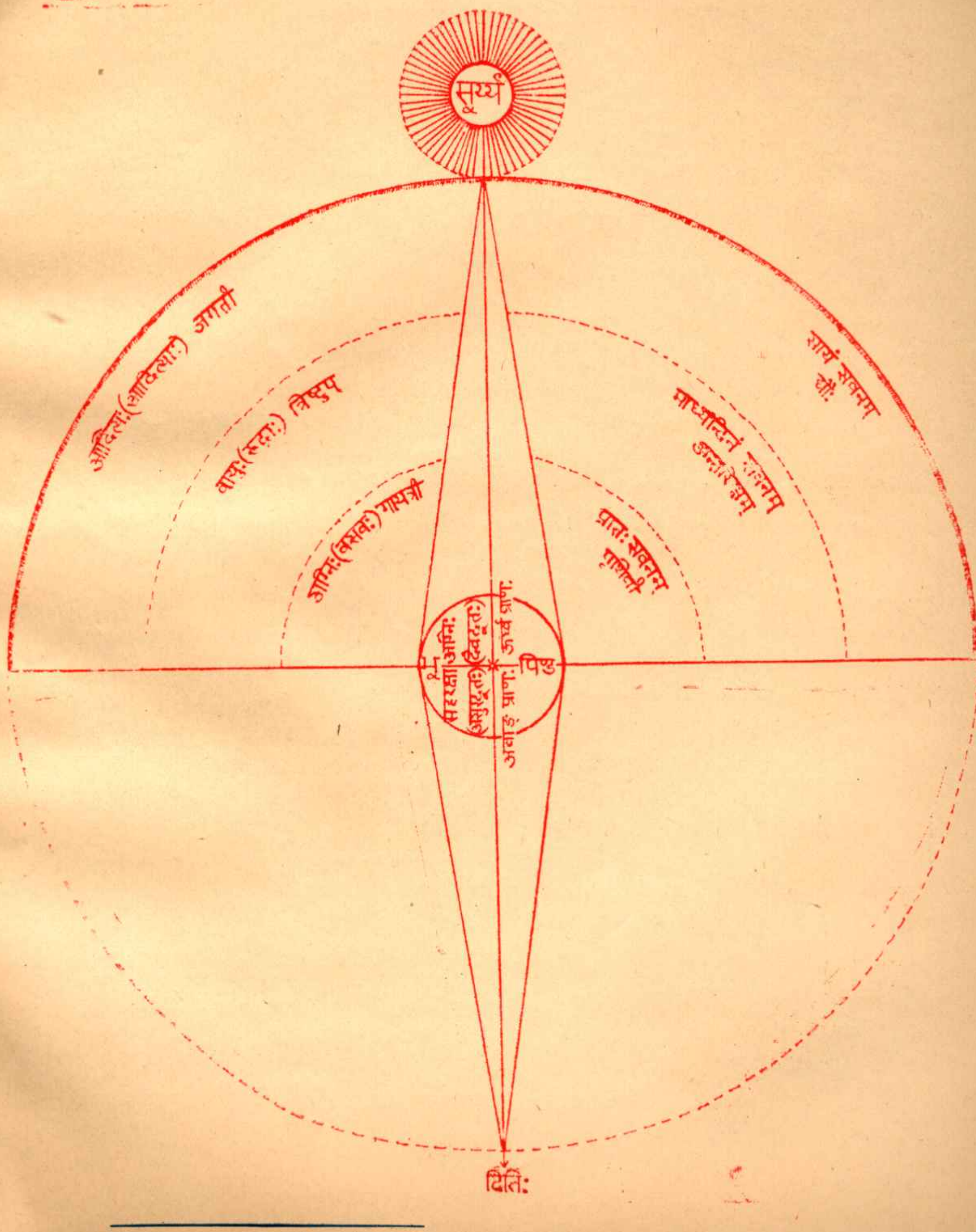
	त्रयस्तोमाः ३	त्रयो लोकाः ३	त्रयो देवाः ३	त्रयंस्त्रिंशद्गणा देवाः ३३	त्रीणि छन्दांसि ३	त्रीणि सवनानि ३
अदितिः-	३-एकविंशस्तोमः (२१)	द्यौः	आदित्यः	आदित्याः	जगती	सायंसवनम्
	२-पञ्चदशस्तोमः (१५)	अन्तरिक्षम्	वायुः	रुद्राः	त्रिष्टुप्	माध्यन्दिनंस॰
	१-त्रिवृत्स्तोमः (९)	पृथिवी	अग्निः	वसवः	गायत्री	प्रातःसवनम्

+ अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम!
आदित्या (१२), वसवो (८), रुद्रा (११) अश्विनौ च परन्तप!" (वाल्मीकिः)।

(३७६, तथा ३७७ के मध्य में)

(३१)-सौर--अदितिमण्डलपरिलेख :—

—नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

लो
गं
तो
है
सम
'अ
त्रि
है,

यज्ञ
'अ
हो
रह
है
'वे

से
के
है,
सू
इल
के

आ
त्रै

*
A

८-संहिता के विविधरूप—

'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' इत्यादि श्रुति के अनुसार उक्त तीन अग्नि-वायु-आदित्य-लोकों से अतिरिक्त एक चौथा आपोलोक (सोम) है। बात यथार्थ में यह है कि, त्रयस्त्रिंशत् (३३) अहर्गणात्मक पार्थिव वषट्कारमण्डल में अग्नि-सोम, दोनों का भोग हो रहा है। ३३ के आधे भाग में (१६ पर्य्यन्त) तो अग्नि का साम्राज्य है, एवं आधे में (३३ पर्य्यन्त) सोम का साम्राज्य है। ३३ का केन्द्र १७ वाँ अहर्गण है। यही 'सप्तदश' नामक उद्गीथप्रजापति है। पूर्व की १६ अहर्गणसमष्टि **'उत्'** है, उत्तर की १६ अहर्गण समष्टि 'थम्' है, मध्यस्थ १७ वाँ अहर्गण 'गीः' है, सम्पूर्ण समष्टि 'उद्गीथम्' है। भूकेन्द्रस्थ प्रजापति 'अनिरुक्त' है, वषट्कारमण्डलकेन्द्रस्थ सप्तदश प्रजापति 'उद्गीथ' है, एवं चतुस्त्रिंशप्रजापति 'सर्व' है। इसी त्रित्व के कारण ओङ्कारमूर्ति प्रजापति के-**'प्रणवोङ्कार, उद्गीथोङ्कार, सर्वोङ्कार'**, भेद से तीन विवर्त हो जाते हैं, जिनका ईशादिभाष्यों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

तीनों प्रजापतियों में से प्रकृत में सप्तदशस्थानीय उद्गीथप्रजापति ही लक्ष्य है। सप्तदश स्थान पार्थिव-यज्ञ का **'आहवनीयकुण्ड है**, तत्रस्थ दाहक प्राणाग्नि **'आहवनीयाग्नि' है**, १७ से ऊपर व्याप्त दाह्य सोम **'आहुतिद्रव्य'** है। इस सोम की उस प्राणाग्नि में आहुति होती है। दाह्य सोमाहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित हो पड़ता है। यह प्रज्वलित अग्नि २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त हो जाता है। इसप्रकार मूलस्थिति में १७ पर्य्यन्त रहने वाला अग्नि सोमाहुति के प्रभाव से २१ पर्य्यन्त चला जाता है। यही यज्ञाग्निमूर्ति विष्णु* के तीन विक्रम है। त्रिवृत् पहिला विक्रम है, पञ्चदश दूसरा विक्रम है, एकविंश तीसरा विक्रम है, जैसाकि शतपथभाष्यान्तर्गत 'वेदि-विज्ञानब्राह्मण' में विस्तार से प्रतिपादित है।

'पूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि, सन्धान' इन चारों पर्वों की समष्टि ही वैदिकपरिभाषा में **'संहिता'** नाम से व्यवहृत हुई है। ऐतरेय-आरण्यक में इन संहिताओं का विस्तार से निरूपण हुआ है। **'माण्डूकेय'** महर्षि के अनुसार 'वायु' संहिता है। क्योंकि अग्निस्थानीय पृथिवीलोक पूर्वरूप है, आदित्यस्थानीय द्युलोक उत्तररूप है, वायुस्थानीय अन्तरिक्षलोक सन्धि है, स्वयं वायु **"वायुर्वै गौतम ! तत्सूत्रम्। वायुना वै गौतम ! सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति"** (शत० १४।६।७।६।) इत्यादि के अनुसार सन्धाता है। चारों पर्वों की सम्मिलित अवस्था ही संहिता है। वायु ही इन चारों पर्वों के सह-समन्वय का कारण है, अतएव वायु को ही 'संहिता' उपाधि प्रदान की जा सकती है A।

'माक्षव्य' महर्षि के अनुसार 'आकाश' संहिता है। माक्षव्य का अभिप्राय यही है कि, वायु व्याप्य है, आकाश व्यापक है। आकाश से वायु का ग्रहण सिद्ध है, परन्तु वायु से आकाश का ग्रहण सम्भव नहीं है। त्रैलोक्यात्मिका संहिता की मूलप्रतिष्ठा एकायतनरूप आकाश ही है। वैसे भी वायुस्थानीय अन्तरिक्ष सन्धि ही

---

*-**"अग्निर्विष्णुः सर्वभूतान्यनुप्रविश्य प्राणान् धारयति"** (महा० शा० ३४२ अ० १५ गद्य)

A-**"अथातः संहिताया उपनिषत्। पृथिवी पूर्वरूपं, द्यौरुत्तररूपं, वायुः-संहितेति माण्डूकेयः"** (ऐ० आ० ३।१।)।

बन रहा है। सन्धाता चौथा पर्व होना चाहिए। वह आकाश ही बन सकता है। पृथिवी--अन्तरिक्ष-द्यौ-आकाश, चारों क्रमशः पूर्वरूप, सन्धि, उत्तररूप, एवं सन्धान हैं। सन्धाता आकाश ही संहिता की मूलप्रतिष्ठा है B।

'आगस्त्य' महर्षि ने दोनों पक्षों का समादर करते हुए यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया है कि, मण्डूकपुत्र का वायु को संहिता मानना इसलिए सुसङ्गत है कि, सूत्रात्मारूप से वायु ही लोकसन्धाता बन रहा है। उधर मक्षुपुत्र का आदित्य को संहिता बतलाना भी निर्विरोध है। क्योंकि पाञ्चभौतिक सृष्टिधाराक्रम की अपेक्षा आकाश ही सबका एकायतन बनता हुआ सन्धाता बन रहा है। C।

"शूरवीर" नामक एक दूसरे माण्डूकेय महर्षिने आध्यात्मिक दृष्टि से संहिता का विचार करते हुए यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि, वाक् पूर्वरूप है, मन उत्तररूप है, प्राणस्थान सन्धि है, स्वयं प्राण सन्धाता है। शूरवीर का अभिप्राय यही है कि, वाक् अग्निप्रधान बनती हुई पृथिवी-स्थानीया है, अतएव इसे पूर्वरूप माना जा सकता है। चान्द्रमन सोमप्रधान बनता हुआ तृतीय द्यु स्थानीय है, अतएव इसे उत्तररूप माना जा सकता है। नासाप्राण-वायुप्रधान बनता हुआ अन्तरिक्षस्थानीय है, अतएव इसे सन्धि, एवं सन्धानस्थानीय मानते हुए 'संहिता' माना जा सकता है।

शूरवीर के ज्येष्ठपुत्र इस सम्बन्ध में पिता से विपरीत सम्मति प्रकट करते हुए कहते हैं कि, मन पूर्वरूप है, वाक् उत्तररूप है। हम देखते हैं कि,-**'यन्मनसा मनुते, तद्वाचमपिगच्छति'** सिद्धान्त के अनुसार मानस संकल्प का ही वाक् के द्वारा बाह्य वातावरण में चित्रण होता है। पहिले मानस संकल्प है, अनन्तर वाग्व्यापार है। एवं इस दृष्टि से हम वाक् को पूर्वरूप न कह कर उत्तररूप कहेंगे, एवं मन को उत्तररूप न कह कर पूर्वरूप मानेंगे।

महर्षि ऐतरेय दृष्टिकोण-भेद से दोनों पक्षों का समर्थन करते हुए अपना यह अभिप्राय व्यक्त कर रहे हैं कि, ऐन्द्रियकदृष्टि से शूरवीर का वाक् को पूर्वरूप, मन को उत्तररूप बतलाना यथार्थ है। अग्निप्रधान वागिन्द्रिय, वायुप्रधान प्राणेन्द्रिय, सोमप्रधान इन्द्रियमन, तीनों की क्रमशः **'मुख-नासिका-ब्रह्मरन्ध्र'** स्थानों में प्रतिष्ठा है। मुख पूर्वभाग है, ब्रह्मरन्ध्र उत्तरभाग है, नासिका मध्यभाग है। इस दृष्टि से शूरवीर का सिद्धान्त मान्य है। एवं आत्मदृष्टि से शूरवीर के ज्येष्ठपुत्र का सिद्धान्त सुव्यस्थित है। मनःप्राणवाङ्मयी आत्मसंस्था में 'मन-प्राण-वाक्' यह क्रम है। मनसे संकल्प का उदय होता है, यही कामना है। संकल्पानुसार प्राण-व्यापार होता है, यही तप है। प्राणव्यापारानन्तर वाग्व्यापार (भूतव्यापार) होता है, यही श्रम है। इस दृष्टि से मन पूर्वरूप है, वाक् उत्तररूपर है।

B **"आकाशः संहिता' इति-अस्य माक्षव्यो वेदयाञ्चक्रे। स हाविपरिहतो मेने। न मेऽस्य पुत्रेण समगात्' इति"** । (ऐ० आ० ३।१।१।)।

C **"समाने वै तत् परिहतो मेने-इत्यागस्त्यः। समानं ह्य तद्भवति, वायुश्चाकाशश्च, इति"** (ऐ० आ० ३।१।)। **इत्यधिदैवतम्।**

अथवा केवल ऐन्द्रियक दृष्टि से भी दोनों पक्षों का समर्थन किया जा सकता है। स्थितिदृष्टि से शूरवीर का पक्ष ठीक है। क्योंकि स्थितिक्रमानुसार 'वाक्-प्राण-मन' यह संस्थान है। व्यापारदृष्टि से ज्येष्ठ-पुत्र का कथन निर्विरोध है। क्योंकि व्यापारकाल में मन पहिले है, वाणी का उच्चारण पीछे है। इसी आध्यात्मिक संहिता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

"अथाध्यात्मम्-वाक् पूर्वरूपं, मन उत्तररूपं, प्राणः संहितेति शूरवीरो माण्डूकेयः। अथ हास्य पुत्र आह-ज्येष्ठः-मनः पूर्वरूपं, वागुत्तररूपम्। मनसा वा अग्रे संकल्पयति, अथ वाचा व्याहरति। तस्मान्मन एव पूर्वरूपं, वागुत्तररूपं, प्राणस्त्वेव संहितेति। समानमेनयोरत्र पितुश्च, पुत्रस्य च"।

(ऐ०आ० ३।२।१।)।

'इति नु माण्डूकेयानाम्' इस ऐतरेय वचन के अनुसार उक्त आधिदैविक, आध्यात्मिक संहिताएँ मण्डूकमहर्षि की सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखतीं हैं। महर्षि 'शाकल्य' दूसरे ही दृष्टिकोण से इन संहिताओं का समन्वय कर रहे हैं। उनका कहना है कि, पृथिवी पूर्वरूप है, द्यौ उत्तररूप है, वृष्टि (पानी-आन्तरिक्ष्य जल) सन्धि है, पर्जन्य (जलवर्षक सौम्य वायु) सन्धाता है। चारों की समष्टि आधिदैविक संहिता है। इन्द्र के वज्रप्रहार से जब जलावरोधक 'नमुचि*' नामक आसुर अश्माप्राण का संघात टूट जाता है, तो जलवर्षक पर्जन्यवायु (मान्सून) बलवान् बन जाता है। अहोरात्र वृष्टिमय बन जाते हैं। मूसलधार वृष्टि के समय ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानो पृथिवी और द्यु (जमीन, आसमान) मिलकर एक हो गए हों। जल-थल का भी (अन्तरिक्ष और पृथिवी का भी) भेद जाता रहता है। इसप्रकार वृष्टिकाल इस पर्वचतुष्टयात्मिका आधिदैविकी संहिता का प्रत्यक्ष निदर्शन बन जाता है +।

पुरुष का निर्म्माण इसी आधिदैविकी संहिता से हुआ है। अतएव इस में भी संहिता के चारों पर्व ज्यों के त्यों प्रतिष्ठित हैं। पुरुषशरीर के त्रैलोक्यस्वरूप का अनेक प्रकार से समन्वय किया जा सकता है। पहिले 'अर्द्धवृगल' दृष्टि से ही विचार कीजिए। ईश्वरीय देवसत्यात्मक साक्षी सुपर्ण जहाँ पूरे खगोल को

---

* "अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्त्तयः, विश्वा यदजयः स्पृधः" (ऋक्सं० ८।१४।१३।)। "पाप्मा वै नमुचिः" (शत० १२।७।३।४।)— (न मुञ्चति-आपः-इति नमुचिः-अश्मासोमः)।

+ "अथ शाकल्यस्य-पृथिवी पूर्वरूपं, द्यौरुत्तररूपं, वृष्टिः सन्धिः, पर्जन्यः सन्धाता। तदुतापि यत्रैतद्बलवदनुद्गृह्णन्त्संदधत्-अहोरात्रे वर्षति। 'द्यावापृथिवीव्यौ समधातां' इत्युताप्याहुः। इति न्वधिदैवतम्"। (ऐ० आ० ३।१।२)।

अपनी स्वरूपप्रतिष्ठा बनाता हुआ पूर्णेन्द्र है, सर्वतः पाणिपादाक्षिशिरोमुख है, वृत्तौजा (वर्तुलाकार) है, वहाँ अर्द्ध खगोलीय रस से कृतरूप पुरुष अर्द्धेन्द्र है, नियत पाणिपादाक्षिशिरोमुख है, अर्द्धवृत्ताकाराकारित है। सूर्य्यानुगृहीत आधे अग्निप्रधान दृश्य कश्यप-रस से पुरुष का निर्म्माण हुआ है, चन्द्रानुगृहीत आधे सोमप्रधान कश्यप-रस से स्त्री का निर्म्माण हुआ है। सूर्य्यानुगत अहःकाल पुरुषसंस्था की प्रतिष्ठा है, चन्द्रानुगत रात्रिकाल स्त्रीसंस्था की प्रतिष्ठा है।

दृश्य अर्द्ध खगोलात्मक पुरुष बाह्यसंस्थानुगत है, अदृश्य अर्द्ध खगोलात्मिका स्त्री अन्तःसंस्थानुगता है। बाह्यक्षेत्र में पुरुष की प्रधानता है, गृह्यक्षेत्र में स्त्री की प्रधानता है। पुरुष में दिव्यसंस्थानुगत सौर अग्नि का प्राधान्य है, अतएव इसे 'द्यु' लोक माना जा सकता है। स्त्री में पार्थिव संस्थानुगत चान्द्रसोम का प्राधान्य है, अतएव इसे 'पृथिवी' लोक माना जा सकता है। खगोलमध्यस्थ विषवद्वृत्त (इक्वेटर) ही मेरुदण्ड का निर्म्मापक है। अर्द्ध मेरुदण्ड पुरुष में है, अर्द्ध मेरुदण्ड स्त्री में है। स्वतन्त्र रहते हुए दोनों अर्द्धेन्द्र हैं, अर्द्धवृगल (समानरूपात्मक विभक्त खण्ड) हैं। **'सोऽयमाकाशः पत्न्यापूर्य्यते'** के अनुसार पुरुष के आधे आकाश की पूर्त्ति स्त्री-सम्बन्ध पर निर्भर है। दाम्पत्यभाव ही दोनों की पूर्णेन्द्रता का अधिष्ठाता है *। इस परिस्थिति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, पार्थिवतत्त्वप्रधाना स्त्री पूर्वरूप है, सौरतत्त्वप्रधान पुरुष उत्तररूप है, दाम्पत्यभाव का फलस्वरूप पुत्र सन्धि है, प्रजननकर्म्म सन्धाता है, चारों की समष्टि आध्यात्मिक-संहिता है। पुरुष द्युलोक है, स्त्री पृथिवीलोक है, पुत्र अन्तरिक्षलोक है। इसप्रकार 'नारी-नर' के समन्वित-रूप में त्रैलोक्य का समन्वय हो रहा है।

अब केवल पुरुषस्वरूप में हीं संहिता का समन्वय देखिए। अपान, व्यान, उदान, प्राणभेदसे शरीर में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनों लोक प्रतिष्ठित हैं। मूलग्रन्थि, एवं नाभि दोनों के मध्य में पार्थिव अपान-प्राण का सञ्चार है। शिरः, कण्ठ, दोनों के मध्य में तैजसनाड़ी के द्वारा दिव्य उदानप्राण का संचार है। नाभि-हृदय, दोनों के मध्य में आन्तरिक्ष्य वायव्य प्राणका सञ्चार है। अपानप्राणभूमि उत्तररूप है, व्यानप्राणभूमि सन्धि है, हृदय में उक्थरूप से व्याप्त, किन्तु सर्वाङ्गशरीर में अर्क (रश्मि) रूप से व्याप्त व्यानवायु सन्धाता है। चारों की समष्टि आध्यात्मिक संहिता है।

उदरगुहा, उरोगुहा, शिरोगुहा, तीनों को क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युलोक माना जा सकता है। उदरगुहा में पार्थिवाग्निप्रधान चतुर्विधान्नपाचक अर्थमूर्त्ति **'वैश्वानर'** प्रतिष्ठित है। उरोगुहा में आन्तरिक्ष्य वायुप्रधान क्रियामूर्त्ति **'तैजस'** प्रतिष्ठित है। एवं शिरोगुहा में दिव्य आदित्यप्रधान ज्ञानमूर्त्ति **'प्राज्ञ'** प्रतिष्ठित है। वैश्वानर पूर्वरूप है, प्राज्ञ-उत्तररूप है, तैजस सन्धि है, वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-कृतमूर्त्ति अतएव त्रिमूर्त्ति, कर्म्ममोक्ता कर्म्मात्मा सन्धाता है। चारों की समष्टि आध्यात्मिक संहिता है।

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' द्वितीयखण्ड के 'ग' विभागात्मक 'कर्म्मयोगपरीक्षा' खण्ड के 'संस्कारविज्ञानान्तर्गत'-**'विवाहसंस्कारोपपत्ति'** प्रकरण में देखना चाहिए।

'मूलरन्ध्र, मध्यरन्ध्र, ऊर्ध्वरन्ध्र' इन तीनों रन्ध्रों की प्रतिष्ठा क्रमशः शिष्ण, हृदय, चक्षु, माने गए हैं। मूलरन्ध्र पृथिवी है, मध्यरन्ध्र अन्तरिक्ष है, ऊर्ध्वरन्ध्र द्युलोक है। जिस प्रकार पृथिवी में 'अग्निज्योति', अन्तरिक्ष में (वायु-सोमगर्भित) 'विद्युज्ज्योति', द्युलोक में 'आदित्यज्योति' प्रतिष्ठित है। एवमेव मूलरन्ध्र (मूलग्रन्थि) की प्रतिष्ठारूप शिष्ण अग्निज्योतिप्रधान है, मध्यरन्ध्र की प्रतिष्ठारूप हृदय विद्युज्ज्योतिःप्रधान है, एवं ऊर्ध्वरन्ध्र (ब्रह्मरन्ध्र) की प्रतिष्ठारूप चक्षु आदित्यज्योतिप्रधान है। मूलरन्ध्रात्मक पृथिवीलोक पूर्वरूप है, ऊर्ध्वरन्ध्रात्मक द्युलोक उत्तररूप है, मध्यरन्ध्रात्मक अन्तरिक्षलोक सन्धि है, व्याप्त प्राणाग्नि सन्धाता है, चारों की समष्टि आध्यात्मिक संहिता है।

वहाँ जैसे द्युलोक में आदित्य प्रतिष्ठित है, तद्वत् यहाँ द्युलोकस्थानीय ऊर्ध्वरन्ध्रप्रदेश (शिरोमण्डल) में चक्षु प्रतिष्ठित हैं। वहाँ जैसे अन्तरिक्ष में वायुलक्षण विद्युत् प्रतिष्ठित है, तद्वत् यहाँ अन्तरिक्ष स्थानीय मध्यरन्ध्रप्रदेश में (हृदयाकाश में) हृदयरूप विद्युत् प्रतिष्ठित है। वहाँ जैसे पृथिवी में अग्नि-प्रतिष्ठित है, तद्वत् यहाँ मूलरन्ध्रप्रदेशस्थ उपस्थ में सारवद् रेत प्रतिष्ठित है। श्री सायणाचार्य्य ने पाद से आरम्भ कर अधरोष्ठ पर्य्यन्त पृथिवीलोक माना है, उत्तरोष्ठ से आरम्भकर केशान्तपर्य्यन्त द्युलोक माना है, मुख-विवर को अन्तरिक्षलोक माना है। और अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि, जैसे ब्रह्माण्ड के पृथिवी-द्युरूप दो दल सर्वथा विभक्त प्रतीत हो रहे हैं, एवमेव अधरोष्ठ, उत्तरोष्ठ रूप से शरीर में भी दो दल विभक्त प्रतीत हो रहे हैं। कल्पना सुन्दर है, परन्तु-'एवमिदमात्मनि हृदयम्' इस वाक्य से विरुद्ध जाती हुई प्रौढिवादग्रस्त है। 'चत्वार आत्मा' के अनुसार पक्षपुच्छशिरो-व्यतिरिक्त मध्यस्थ शरीरयष्टि आत्मा है, इसी दृष्टि से 'आत्मा वै तनूः' (शत० ६।७।२।६।) यह कहा गया है। हृदय को अन्तरिक्ष मानने वाली श्रुति का समन्वय मुखविवर से कैसे हो गया ?, इस प्रश्न की मीमांसा व्यर्थ है। वक्तव्य प्रकृत में यही है कि, आध्यात्मिक संहिता का अनेक दृष्टियों से समन्वय किया जा सकता है। इसी संहिता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

"अथाध्यात्मम्—पुरुषो ह वा अयं सर्वं आन्दं द्वे विदले भवतः-इत्याहुः। तस्येदमेव पृथिव्या रूपं, इदं दिवः। तत्रायमन्तरेणाकाशः (हृदयाकाशः), यथासौ द्यावापृथिव्यावन्तरेणाऽऽकाशः। तस्मिन्हास्मिन्नाकाशे प्राण आयत्तः, यथाऽमुष्मिन्नाकाशे वायुरायत्तः। यथाऽमूनि त्रीणि ज्योतींषि, एवमिमानि पुरुषे त्रीणि ज्योतींषि। यथासौ दिव्यादित्यः, एवमिदं शिरसि चक्षुः। यथाऽसावन्तरिक्षे विद्युत्, एवमिदमात्मनि (मध्यशरीरयष्टौ) हृदयम्। यथाऽयमग्निः पृथिव्याम्, एवमिदमुपस्थे रेतः। एवमु ह स्म सर्वलोकमात्मानमनुविधायाऽऽह। इदमेव पृथिव्या रूपम्, इदं दिवः। स य एवमेतां संहितां वेद, सन्धीयते प्रजया पशुभिर्यशसा ब्रह्मवर्चसेन स्वर्गेण लोकेन। सर्वमायुरेति"।

(ऐ० आ० ३।१।२।)।

सामरहस्यवेत्ता भगवान् 'ताण्ड्य' ने 'सामातिमानसंहिता' का विश्लेषण किया है। पार्थिव साम रथन्तर है, सौरसाम बृहत् है। दोनों स्वतन्त्र दो संहिता हैं। दोनों के साम अतिमानसम्बन्ध से परस्पर ओत-

प्रोत हैं। फलतः दोनों संहिता मिल कर सामातिमानात्मिका एक द्यावापृथिव्य–संहिता बन जाती है, जैसाकि पूर्वप्रकरण के सामातिमानपरिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। बृहद्रथन्तरात्मिका संहिता आधिदैविक संहिता है, वाक्–प्राणात्मिका संहिता आध्यात्मिक संहिता है। हमारी वागिन्द्रिय पार्थिव आग्नेय रथन्तरसाम की, एवं प्राण सौर बृहत्साम की प्रतिकृति है। वाक्–प्राण दोनों के सन्धान से ही आध्यात्मिक संहिता का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। *A*

इसी आध्यात्मिक वाक्–प्राणसंहिता को महर्षि **कौण्ठरव्य 'अवरपरासंहिता'** बतला रहे हैं। उनका कहना है कि, वाक् प्राण से संहित है, प्राण दिव्य पवमानसाम से, पवमानसाम विश्वेदेवों से, विश्वेदेव स्वर्ग से, स्वर्ग परब्रह्म से संहित है। यज्ञप्रयोग से अवरसहिता के द्वारा परःसन्निकर्ष प्राप्त करते हुए अन्त में पर-ब्रह्मसंहिता से आध्यात्मिक संस्था का योग हो जाता है। *B*

महर्षि **'पञ्चालचण्ड' ने वाक्संहिता'** का स्पष्टीकरण किया है। आपका कहना है कि, संहिता की मूलप्रतिष्ठा 'वाक्' तत्त्व ही है। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा ने अर्थप्रधाना वाक् के आधार पर ही सर्वत्र योग कर रक्खा है। मनःप्राण असङ्ग हैं, अमूर्त्त हैं। अतएव इनका किसी से साक्षात् योग नहीं हो सकता। भूतमात्रा-लक्षणा, मूर्त्ता वाक् के द्वारा ही इनका योग सम्भव है। अतएव यच यावत् संहिताओं को हम 'वाक्संहिता' ही कहेंगे। स्वायम्भुवी सत्यावाक् के द्वारा ही ऋक्–यजुः–सामात्मक तीनों वेदों का परस्पर सन्धान हुआ है। वाङ्मय वषट्कारमण्डल ही वेदसाहस्री की प्रतिष्ठा है। गायत्र्यादि सातों छन्दों (अहोरात्रवृत्तों) का परस्पर में सौरी गौरीविता वाक् के आधार पर ही संधान हुआ है। शब्दात्मिका वाक् से, एवं अर्थरूपा (वस्तूपहाररूपा) वाक् के आदान प्रदान से ही मित्रों का परस्पर संधान होता है। सर्वव्यापिका, आपोमयी, मनःप्राणगर्भिता आम्भृणी पारमेष्ठिनी वाक् से ही आपोमय भूतों का परस्पर संधान हुआ है। कहाँ तक गिनावें–सर्वत्र इसी वाक्संहिता का साम्राज्य है। आध्यात्मिक–वाक्संहिता में वाक्–प्राण का माता–पुत्र सम्बन्ध है। मन पिता है, वाक् माता है, प्राण पुत्र है। मनोवाक् रूपा वर्त्तनी में प्राणपुत्र प्रतिष्ठित है। मनोयुक्ता वाङ्मयी माता कभी अपने पुत्र प्राण को चाटती रहती है, कभी पुत्रप्राण माता वाक् को चाटता रहता है। माता पुत्र के सहज श्रद्धा–वात्सल्य प्रेम का यह एक अपूर्व निदर्शन है। स्वाध्यायकाल में, अथवा सामान्य वाग्व्यापार काल में (वैदिक तथा लौकिक वाक् प्रयोगकाल में) प्राण वाक् में डूबा रहता है, प्राणपुत्र माता वाक् को चाटता रहता है। एवं सुषुप्ति–अवस्था में, तथा मौन समय में वाक् प्राण में लीन रहती है, वाक्–माता प्राण-पुत्र को चाटती रहती है। वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञलक्षण पार्थिव–आन्तरीक्ष्य–दिव्य प्राणात्मक, प्राणत्रयी–मूर्त्ति

A –"बृहद्रथन्तरयो रूपेण संहिता सन्धीयते, इति ताक्ष्यः। वाग्वै रथन्तरस्य रूपं, प्राणो-बृहतः। उभाभ्यां–उ–खलु संहिता सन्धीयते–वाचा च, प्राणेन च–इति"।
(ऐ० आ० ३।१।६।)।

B –"वाक् प्राणेन संहिता–इति कौण्ठरव्यः, प्राणः पवमानेन, पवमानो विश्वैर्देवैः, विश्वे देवाः स्वर्गेण लोकेन, स्वर्गो लोको ब्रह्मणा। सैषा 'अवरपरसंहिता"।
(ऐ० आ० ३।१।६।)।

कर्म्मभोक्ता सुपर्ण (जीव-प्राणी) शुक्र-शोणितात्मक मातापिता के आपोमय समुद्र में प्रविष्ट होकर अन्नरूप से ही पुरुषाकार रूप में परिणत होता है, जैसाकि, 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि छान्दोग्य वचन से स्पष्ट है। आपोमय समुद्र में प्रविष्ट इस प्राणात्मक सुपर्ण को पूर्वकथनानुसार वाङ्मयी माता वात्सल्यपूर्वक मनोभाव से चाटती रहती है, यह भी उसे चाटता रहता है। यही वाक्संहिता का संक्षिप्त इतिवृत्त है। पञ्चालचण्ड की इसी वाक्संहिता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

"वाक् संहिता-इति पञ्चालचण्डः। वाचा (स्वा० सत्यवाचा) वै वेदाः सन्धीयन्ते, वाचा (सौरवाचा) छन्दांसि, वाचा (अनुष्टुप्-वाचा) मित्राणि संदधति, वाचा (पार० आम्भृण्या वाचा) सर्वाणि भूतानि। अथो वागेवेदं सर्वम्। तद्यत्रैतदधीते (वैदिकीं वाचं प्रयुङ्क्ते), वा भाषते वा (लौकिकीं 'वाचं' प्रयुङ्क्ते वा), वाचि तदा प्राणोभवति। वाक् तदा प्राणं रेहलि। अथ यत्र तूष्णीं वा भवति, स्वपिति वा, प्राणे तदा वाग्भवति। प्राणस्तदा वाचं रेहलि। तावन्योऽन्यं रीहलः। वाग्वै माता, प्राणः पुत्रः। तदेतद् ऋषिणोक्तम्—(ऐ० आ० ३।१।६।)।

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं (शरीरं) भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं माता रेहलि स उ रेहलि मातरम्॥
(ऋक्० सं० १०।११४।४।)

६—व्यासदेव की वेदसंहिता, और पुराणसंहिता—

वेदसंहिता के प्रसङ्ग से विविध संहिताओं का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब प्रकृत विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। शब्दात्मिका वेदसंहिताओं का नाम 'संहिता' क्यों हुआ ?, इस प्रश्न का समाधान प्राचीन सम्प्रदाय यह करता है कि, भगवान् व्यास के समय में ऋग्-यजुः-साम-अथर्वमन्त्र तत्तद्द्रष्टा ऋषिवंशों में प्रतिष्ठित थे। बदरिकाश्रम में बैठ कर भगवान् व्यास ने उन सब मन्त्रों का संग्रह किया, एवं उन्हें चार संहिताओं का रूप दिया। क्योंकि व्यास ने इनका एकत्र संकलन कर इन्हें सुव्यवस्थित रूप दिया, इसी संकलन से संघातभाव से इन्हें 'संहिता' नाम से व्यवहृत किया गया। इन वेदसंहिताओं को अपने प्रिय शिष्यों में क्रमशः प्रतिष्ठित किया।

पूर्व में यह बतलाया गया है कि, वेदशाखा-विभाग का कारण अध्ययन-सम्प्रदाय भेद माना जा रहा है। परन्तु कूर्म्मपुराण के अवलोकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि, जिस प्रकार 'वेदसंहिता' का स्वरूप व्यास ने व्यवस्थित किया था, एवमेव शाखाविभाग भी इन्हीं की ओर से व्यवस्थित हुआ था। यही क्यों, वहाँ तो यह भी स्पष्ट किया गया है कि, पहले केवल एक 'यजुर्वेद' ही था। उसीका यज्ञकर्म्म के भेद से ऋक्-यजुः-साम-अथर्वरूप से हौत्र-आध्वर्य्यव-औद्गात्र-ब्रह्मत्व-कर्मसिद्धि के लिए चार वेदों में विभाग किया गया। यजुर्वेद को सर्ववेदमय बतलाना उस रहस्यात्मक तत्त्ववेद से ही सम्बन्ध रखता है। 'ऋक्सामे यजुरपीतः'

इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वयोनाधलक्षण ऋक्–साम भी यजु के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं, एवं सामात्मक भृग्वङ्गिरोमय अथर्ववेद भी यजुरग्नि की अन्नाद सीमा में भुक्त होता हुआ तद्ग्रहण से ही गृहीत है। सङ्केतरूप से इसी तत्त्ववेद का रहस्य सूचित करने के लिए पुराणकार ने–"एक असीद् यजुर्वेदस्तत्–चतुर्द्धा व्यकल्पयत्" यह कह दिया है। ऋषिवंशों में सुरक्षित वेदमन्त्रों को चार संहिताओं का रूप प्रदान करना, प्रत्येक की क्रमशः '२१–१०१–१०००–९' शाखाएँ व्यवस्थित करना व्यासदेव का ही कर्म्म है, यह निःसंदिग्ध है।

सशाख–चतुर्वेद संहिताओं के अतिरिक्त सर्वप्रथम भगवान् बादरायण ने उस 'पुराणसंहिता' का भी आविर्भाव किया, जिसमें–सृष्टि[१], प्रतिसृष्टि[२], वंश[३], वंशानुचरित[४], आख्यान[५]*, उपाख्यान[६], मन्वन्तर[७], गाथा[८], कल्पशुद्धि[९], मन्त्र[१०], तन्त्र[११], यन्त्र[१२], डामर[१३], यामल[१४], सिद्धान्त[१५], वेदचरित्र[१६], ज्यौतिष्चक्र[१७], भुवनकोश[१८]," इन अठारह पर्वों का समावेश हुआ। इन अठारह पर्वों के समावेश से ही पुराण 'अष्टादशपर्वात्मक' कहलाया। जिस प्रकार वेदमन्त्र व्यास की अपनी कृति नहीं है, एवमेव पुराणोक्त वैज्ञानिक आख्यान भी व्यास की अपनी कृति नहीं है। ये पौराणिक वैज्ञानिक आख्यान वेदमन्त्रों से भी प्राचीन हैं। वैदिकमन्त्र–ब्राह्मणोक्त आख्यानों की मूलप्रतिष्ठा गाथात्मक ये ही पुराणाख्यान हैं, जैसाकि–'एतद्ध सौपर्णकमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते" इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। इसी दृष्टि से इन पुराणाख्यानों को हम वेद से भी प्राचीन माननें के लिए सन्नद्ध हैं। यही पुराण–शास्त्र का पुराणत्त्व (प्राचीनत्व) है A। वेदसंहिता, तथा पुराणसंहिताओं के सम्बन्ध में भेद केवल यही है कि, वेदसंहिता की भाषा व्यास की नहीं है, किन्तु पुराणसंहिता की भाषा व्यास की है। आख्यानदृष्टि से पुराणशास्त्र वेद से भी प्राचीन है। किन्तु व्यासभाषामयी पुराणसंहिता अर्वाचीन है। जिस प्रकार चार वेद–संहिताओं के लिए 'पैल, वैशम्पायन, सुमन्तु, जैमिनि' नामक चार शिष्य बनाए थे, एवमेव अष्टादश–पर्वात्मिका पुराणसंहिता, एवं अष्टादशपर्वात्मक भारत के लिए सूत को प्रधान शिष्य बनाया गया था।

सनातनधर्म्मावलम्बी जगत् की, यह मान लेने में कोई भी क्षति नहीं है कि, सृष्टितत्त्वप्रतिपादक १–नारद[१], २–भागवत[२], ३–वायु[३], ४–विष्णु[४] ५–पद्म[५], ६–ब्रह्म[६], ये ६ पुराण, मतवादप्रतिपादक १–मार्कण्डेय[७], २–आग्नेय[८], ३–भविष्य[९], ४–ब्रह्मवैवर्त्त[१०], ये ४ पुराण, अवतारवादप्रतिपादक १–लिङ्ग[११], २–वराह[१२], ३–स्कन्द[१३], ४–वामन[१४], ५–कूर्म्म[१५], ६–मत्स्य[१६], ये ६ पुराण, आयतीवादप्रतिपादक गरुड़पुराण[१७], तथा आयतनवादप्रतिपादक ब्रह्माण्डपुराण[१८], ये अठारह पुराण पुराण-रहस्यवेत्ता 'सूत' की ही कृति हैं। विषय सब व्यास का है, इसलिए तो-'अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवती–सुतः' निर्बाध है। एवं भाषा सूत की है, इसलिए सूत इनके कर्त्ता मानें जा सकते हैं। अस्तु इन सब विषयों का

*–आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे भगवान् बादरायणः॥

A–पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥

सोपपत्तिक निरूपण तो 'पुराणरहस्या' दि अन्य निबन्धों में ही देखना चाहिए। प्रकृत में इस पुराण प्रसङ्ग से यही बतलाना है कि, वेदसंहितावत् अष्टादशपर्वात्मिका व्यासरचित पुराणसंहिता भी इतर शाखावेदसंहिताओं की भाँति विलुप्त हो चुकी है। संहिता नामकरण का मुख्य आधार व्यास का मन्त्रसंकलन है, निम्नलिखित वचन यही प्रमाणित कर रहे हैं।

१—अष्टाविंशे पुनःप्राप्ते ह्यस्मिन् वै द्वापरे द्विजाः।
पराशरसुतो व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽभवत्॥

२—य एकः सर्ववेदानां पुराणानां प्रदर्शकः (न तु कर्त्ता–द्रष्टा वा)।
पाराशर्य्यो महायोगी कृष्णद्वैपायनो हरिः॥

३—आराध्य देवमीशानं दृष्ट्वा साम्बं त्रिलोचनम्।
तत् प्रसादादसौ व्यासो वेदानामभवत् प्रभुः॥

४—अथ शिष्यान् प्रजग्राह चतुरो वेदपारगान्।
जैमिनिश्च, सुमन्तुश्च, वैशम्पायनमेव च॥

५—पैलं तेषां चतुर्थञ्च, पञ्चमं मां महामुनिः। (मां–सूतम्)।
ऋग्वेदश्रावकं पैलं प्रजग्राह महामुनिः॥

६—यजुर्वेदप्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च।
जैमिनिं सामवेदस्य श्रावकं सोऽन्वपद्यत॥

७—तथैवाथर्व्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम्।
इतिहासपुराणानि प्रवक्तुं मामयोजयत्॥

८—"एक आसीद्यजुर्वेदस्तच्चतुर्द्धा व्यकल्पयत्"
चातुर्होत्रमभूद्यस्मिंस्तेन यज्ञमथाकरोत्।

---

*"अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म" (मुण्डकोपनिषत्) के अनुसार यज्ञकर्म्म के भी १८ पर्व हैं, 'स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः" (महाभारत) के अनुसार जीवात्मप्रपञ्च भी १८ भागों में हीं विभक्त है। पुराण के विषय भी १८ हीं है, स्वयं पुराण भी १८ ही हैं। महाभारत के भी १८ ही पर्व हैं, महाभारत की उज्ज्वल निधि गीता के भी १८ ही अध्याय हैं। अवश्य ही ६ की भाँति १८ संख्या भी एक रहस्यपूर्ण संख्या है, जिसका गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के 'बहिरङ्गपरीक्षात्मक' प्रथम खण्ड में दिग्दर्शन कराया गया है।

९—आध्वर्य्यं यजुर्भिस्त्याद्दग्भिर्होत्रं द्विजोत्तमाः ।
औद्गात्रं सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वञ्चाप्यथर्वभिः ॥
१०—ततः स ऋच उद्धृत्य ऋग्वेदं कृतवान् प्रभुः ।
यजूंषि च यजुर्वेदं सामवेदञ्च सामभिः ॥
११—एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा ।
शाखानान्तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत् ॥
१२—सामवेदं सहस्रेण शाखानाञ्च विभेदतः ।
अथर्वाणमथो वेदं बिभेद नवकेन तु ॥
१३—भेदैरष्टादशैर्व्यासः पुराणं कृतवान् प्रभुः ।
योऽयमेकश्चतुष्पादो वेदः पूर्व्वं पुरातनात् ॥
१४—इत्येतदक्षरं वेद्यमोङ्कारं वेदमव्ययम् ।
अत्रेदञ्च विजानाति पाराशर्य्यो महामुनिः ॥
(कूर्म्मपुराण, ४९ अध्याय) ।

उक्त कूर्म्मसिद्धान्त सर्वथा व्यवस्थित है । इस सम्बन्ध में जिज्ञासा केवल शेष यही रह जाती है कि, शाखवेदशास्त्र के शाखाविभाग विशुद्ध कल्पना है ?, अथवा इस कल्पना के मूल में कोई तत्त्व अन्तर्निहित है ? । वैज्ञानिक समाधान करते हैं कि, मन्त्रों के एकत्र संकलन से जहाँ इन वेदग्रन्थों को 'संहिता' शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है, वहाँ प्राकृतिक तात्त्विक वेदसंहिता की दृष्टि से वाच्य-वाचक-अभेद मर्य्यादा से (शब्दार्थ-तादात्म्यसे) इन वेदग्रन्थों का 'संहिता' नामकरण एक वस्तुतत्त्व भी बना हुआ है । जिस अदितिगर्भ में नित्य वेदसंहिता प्रतिष्ठित हैं, अदितिगर्भ में प्रतिष्ठित संहिताओं की जो ११३१ शाखाएँ सुव्यवस्थित हैं, उस शाखानुगत वेदसंहिता के प्रतिपादक शब्दात्मक वेदशास्त्र में वही संहिताविभाग हुआ है, एवं वही शाखा-विभाग हुआ है । दोनों का समतुलन है । जैसी व्यवस्था वहाँ है, ठीक वैसी ही व्यवस्था यहाँ है । भले ही शाखाविभाग का कारण अध्ययन-सम्प्रदायभेद मान लिया जाय । अथवा तो यह मान लिया जाय कि, ये विभाग व्यासने किए हैं । परन्तु '२१-१०१-१०००-९' संख्या, एवं ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-इन चारों संहिताओं के ११३१ भेद अदितिसंहिता-भेदों को ही अपना मूलस्तमम्भ बनाए हुए हैं । सम्प्रदायभेद ११३१ पर ही क्यों विश्रान्त गया ?, इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर अदिति-संहिता ही है ।

१०—अदितिसंहिता के चार पर्व—

'अदिति' का स्वरूप बतलाते हुए पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त अग्नी-षोमात्मक पार्थिव प्रजापति का साम्राज्य है । इन में '९-१५-२१' भेद से अग्नि के 'अग्नि-वायु-आदित्य' ये तीन रूप प्रतिष्ठित हैं । एवं '२७-३३' भेद से सोम के 'भास्वर सोम-

दिक्सोम' ये दो रूप प्रतिष्ठित हैं। अग्नित्रयी, सोमद्वयी की समष्टि ही पार्थिव प्रजापति है, जिस का सम्वत्सररूप से पूर्व प्रकरणों में यशोगान किया जा चुका है। २१ पर्य्यन्त अदितिसंहिता है, ३३ पर्य्यन्त प्रजापतिसंहिता है, दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं। अतएव श्रुति ने प्रजापतिसंहिता को 'अदितिसंहिता' नाम से व्यहृत कर दिया है।

त्रिवृत्स्तोमस्थानीय अदिति का आग्नेय पार्थिवभाग पूर्वरूप है, एकविंशस्तोमस्थानीय अदिति का आदित्यात्मक द्युभाग उत्तररूप है, पञ्चदशस्तोमस्थानीय अदिति का वायव्य आन्तरिक्ष्यभाग सन्धि है, प्रजा-प्रजनकर्म्म सन्धान है, चारों पर्वों की समष्टि प्रजापतिसंहिता, किंवा अदितिसंहिता है। पार्थिवभाग जाया है, यही पूर्वरूप है। द्युभाग पति है, यही उत्तररूप है। अन्तरिक्षभाग पुत्र है, यही सन्धि है। प्रजननकर्म्म सन्धान है। इसी अदितिसंहिता का स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

> "अथातः प्रजापतिसंहिता। जाया पूर्वरूपं, पतिरुत्तररूपं, पुत्रः सन्धिः, प्रजननं सन्धानम्। सैषाऽदितिःसंहिता। अदितिर्हीदं सर्वं यदिदं किञ्च-पिता च, माता च, पुत्रश्च, प्रजननञ्च। तदप्येतदृषिणोक्तं-'अदितिर्द्यौः०' इति"। (ऐ० आ० ३।१।६।)।

अब यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि. पार्थिव अग्नि से ऋक्तत्त्व का, आन्तरिक्ष्य वायु से यजुः का, दिव्यादित्य से साम का, चतुर्थलोकस्थानीय आपः से अथर्व का सम्बन्ध है। एक संहिता है, इस के 'ऋक्-यजुः-साम-अथर्व' ये चार पर्व हैं। समुदायावयवन्याय से समष्टि में प्रतिष्ठित 'संहिता' शब्द प्रत्येक पर्व के साथ भी युक्त हो रहा है। इसप्रकार अदितिसंहितारूपा एक वेदसंहिता चार संहितारूपों में परिणत हो रही है। ऋग्वेद जायास्थानीय बनता हुआ पूर्वरूप है, यजुर्वेद पुत्रस्थानीय बनता हुआ सन्धि है, सामवेद पितास्थानीय बनता हुआ उत्तररूप है, एवं अथर्ववेद प्रजननस्थानीय बनता हुआ सन्धान है, समष्टि एक वेदसंहिता है।

११-अथर्व का अन्नभाव—

'सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्' के अनुसार सोममूर्त्ति अथर्वब्रह्म ही अग्नित्रयमूर्त्ति वेदत्रय से युक्त होकर प्रजननकर्म्म की प्रतिष्ठा बनता है। प्रजनन सोमाहुति पर ही निर्भर है। एवं अथर्व सोमात्मक माना गया है। इसी अग्नि-सोम भेद से 'त्रयीवेद-अथर्ववेद' यह भेदव्यवहार प्रचलित हुआ है। अग्नित्रयी का एक स्वतन्त्र विभाग है, अतएव 'त्रयीवेद' स्वतन्त्र बन गया है। सोमद्वयी का भास्वरसोम घोराङ्गिरा है, दिक्सोम अथर्वाङ्गिरा है। इसप्रकार अग्निवेदकी भाँति यद्यपि सोमवेद के भी दो ही पर्व हो जाते हैं। परन्तु आपोलोक के अनद्धभाव के कारण दोनों एक 'अथर्व' नाम से ही व्यवहृत कर दिए गए हैं। श्रुति ने भी इसी अनद्धभाव के कारण सोमलोक के २७-३३ दो विभाग न कर 'चतुर्थदेवलोक*' नाम से एक आपोलोक ही मान लिया है। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, तीनों लोक अद्धा (स्पष्ट) हैं, परन्तु चौथा आपोलोक अप्रकट बनता

---

* "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" (कौ० ब्रा० १८।२।)

हुआ अनद्धा है + । अपने इसी अनद्धाभाव से चतुर्थलोकात्मक एक लोकरूप से न तो अथर्व वेदत्रयी की भाँति वेदद्वयी नाम से ही प्रसिद्ध हुआ, एवं न इस का व्यवहार ही प्रधान रहा । व्यवहाराप्रधानता का दूसरा कारण यह भी है कि, वेदत्रयी अग्नित्रयीरूपा बनती हुई 'अन्नादप्रधाना' है, एवं अथर्ववेद सोमात्मक बनता हुआ 'अन्नप्रधान' है । अन्नात्मक अथर्व प्रजननकर्म्म की सिद्धि के लिए अन्नादात्मिका वेदत्रयी के गर्भ में प्रविष्ट है । अन्नसोमाहुति ही से तो १६ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला अग्नि २१ पर्य्यन्त व्याप्त हुआ है। हम देखते हैं कि, जब तक अन्न अन्नादसीमा से बाहिर रहता है, तभी तक वह अपनी स्वतन्त्रसंज्ञा सुरक्षित रखने में समर्थ होता है । जब अन्न शारीराग्नि में हुत हो जाता है, तो-'**तद्यदोभयं समागच्छति, अत्तैवाख्यायते नाद्यम्**' (शत० १०।६।२।१।) के अनुसार वह अपना स्वातन्त्र्य खो देता है । इस सामान्य नियमके अनुसार अन्नात्मक अथर्ववेद अन्नादात्मिका वेदत्रयी के ग्रहण से ही गृहीत है । यही कारण है कि, वेदगणना में त्रयीवेद शब्द ने ही प्रधानता ग्रहण कर रक्खी है । जो काल्पनिक यह कहते हैं कि, अथर्ववेद बहुत पीछे बना है, इसलिए इस का व्यवहार कम हुआ, उन का यह कथन सर्वथा निस्तत्त्व है । अथर्वव्यवहार की शिथिलता का कारण अथर्व का अन्नभाव ही माना जायगा ।

१२-मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय तात्त्विक वेद—

मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति अपने तीनों रूपों से अप्समुद्र में (अथर्वमय पारमेष्ठ्य समुद्र में) प्रविष्ट होकर आण्डसृष्टि के स्वरूप समर्पक बनते हैं, जैसाकि खण्डारम्भप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है । प्रजापति की मनः-प्राण-वाक्-कलाओं से आपोमय अथर्व भी मनः-प्राण-वाङ्मय बना हुआ है । इसी अथर्वाप्रजापति के गर्भ में वेदत्रयीमूर्त्ति उस सुपर्ण का आविर्भाव होता है, जिस का (आध्यात्मिक दृष्टि से) पूर्व की वाक्संहिता में दिग्दर्शन कराया जा चुका है । आपोमय शरीर में प्रविष्ट क्षुद्र सुपर्ण भोक्ता है, आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डल में प्रविष्ट महासुपर्ण साक्षी है। दोनों अश्वत्थवृक्ष की पार्थिव शाखा पर प्रतिष्ठित हैं*। वह पार्थिव त्रिलोकी में व्याप्त है, यह शारीरत्रिलोकी में व्याप्त है । उस के सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट् तीन रूप हैं, इस के प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर, तीन रूप हैं ।

\+ "स वै त्रियजुषा हरति । त्रयो वा इमे लोकाः । एभिरेवैनमेतल्लोकैरभिनिदधाति । अद्धा वै तद्, यदिमे लोकाः । अद्धो तद्, यद्यजुः । तस्मात् त्रियजुषा हरति । तूष्णीं चतुर्थम् । स यदिमाँल्लोकानति चतुर्थं, अस्ति वा न वा । अनद्धा वै तद्, यदिमाँल्लोकानति-चतुर्थमस्ति, वा न वा । अनद्धो तद्, यत् तूष्णीम् । तस्मात्तूष्णीं चतुर्थम्"

(शत० १।२।४।२०,२१,)

* "द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"

'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः' के अनुसार अदितिमण्डलात्मिका महापृथिवी के ६-१५-२१ स्तोम-भागों में विभक्त पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनों लोक (प्रत्येक) त्रिवृद्भाव से युक्त हैं। इस त्रिवृद्भाव का रहस्य यही है कि, तीनों में प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-आदित्य नामक तीनों प्राणदेवताओं का साममण्डलों के द्वारा सामातिमान के साथ साथ अतिमान हो रहा है, जो कि देवातिमानप्रक्रिया यज्ञपरिभाषा में 'तानूनप्त्र' नाम से प्रसिद्ध है। इस पारस्परिक सहयोग से तीनों लोकों में (प्रत्येक में) गौण-प्रधानरूप से तीनों देवताओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

तत्त्वतः त्रिवृत्स्थानीया पृथिवी आत्मा के **वाग्**-भाव की, पञ्चदशस्थानीय अन्तरिक्ष **प्राण**-भाव की, एकविंशस्थानीय द्युलोक **मनो**-भाव की विकासभूमि है। इसप्रकार पारमेष्ठ्य मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति तीन लोकों में क्रमशः वाक्-प्राण-मनों-रूप से विभक्त हो रहा है। तीनों पर्व क्रमशः 'ज्ञान-क्रिया-अर्थ' प्रधान हैं। इस स्वाभाविक संस्थाविभाग के अनुसार पार्थिव वाङ्मय अग्नि वाक्प्रधान बनता हुआ अर्थप्रधान है। आन्तरिक्ष्य प्राणमय वायु प्राणप्रधान बनता हुआ क्रियाप्रधान है। दिव्य मनोमय आदित्य मनःप्रधान बनता हुआ ज्ञानप्रधान है। अर्थप्रधान वाङ्मय पार्थिव अग्नि से ही ऋग्वेदका विकास हुआ है, क्रियाप्रधान प्राणमय वायु से ही यजुर्वेद का, ज्ञानप्रधान मनोमय आदित्य से ही सामवेद का विकास हुआ है। एवं मनः-प्राणवाङ्मय आपोमय पारमेष्ठ्य प्रजापति ही अथर्ववेद की विकासभूमि है।

मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव से लोक त्रिवृत बनते हैं, लोकत्रयी के त्रिवृद्भाव से लोकी-(देवता) त्रिवृत बन जाते हैं। फलतः तीनों लोकों में गौणमुख्यरूप से आत्मा की तीनों कलाओं के साथ साथ तीनों प्राणदेवताओं का भोग सिद्ध हो जाता है। मनःप्रणगर्भित वाक्प्रधान अग्नि अर्थप्रधान बनता हुआ मनः-प्राण सम्बन्ध से ज्ञानक्रियामय भी है। मनोवाग्गर्भित प्राणप्रधान वायु क्रियाप्रधान बनता हुआ मनोवाक् सम्बन्ध से ज्ञान-अर्थमय भी है। एवं वाक्-प्रागर्भित मनःप्रधान आदित्य ज्ञानप्रधान बनता हुआ वाक्-प्राण सम्बन्ध से अर्थ-क्रियामय भी है। अर्थ-क्रिया-ज्ञान-भाव अग्नि-वायु-आदित्य के मुख्य रूप हैं। ज्ञान-क्रिया, ज्ञान-अर्थ, अर्थ-क्रिया, ये दो दो रूप तीनों के गौणरूप हैं।

निष्कर्ष यह हुआ कि, आपोमय परमेष्ठी प्रजापति तो स्वस्वरूप से मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ ज्ञानक्रियार्थमय है। एवं अदितिमण्डलावच्छिन्न सुपर्ण-प्रजापति त्रिवृद्भाव के अनुग्रह से अपनी प्रत्येक कला से मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ ज्ञानक्रियार्थमय है। तीनों लोकों में अग्नि-वायु-आदित्य की व्याप्ति है। पार्थिव अग्नि **'पवमान'** नाम से प्रसिद्ध है, आन्तरिक्ष्य अग्नि **'पावक'** नाम से, दिव्य अग्नि **'शुचि'** नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव वायु **'मातरिश्वा'** नाम से, आन्तरिक्ष्य वायु **'हंस'** नाम से, एवं दिव्य वायु **'सूत्र'** नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव आदित्य (इन्द्र) **'वासव'** नाम से, आन्तरिक्ष्य इन्द्र **मरुत्वान्'** नाम से, एवं दिव्य इन्द्र **'मघवा'** नाम से प्रसिद्ध है। तीनों का तीनों के साथ तानूनप्त्रलक्षण अन्तर्य्याम सम्बन्ध है। अग्नि-वायु-आदित्य की समष्टि **'विराट्'** है, वायु-अग्नि-आदित्य की समष्टि **'हिरण्यगर्भ'** है, आदित्य-अग्नि-वायु की समष्टि **'सर्वज्ञ'** है। तीनों की समष्टि साक्षी सुपर्ण-प्रजापति है। अर्थप्रधान विराडग्नि में भी क्रिया-ज्ञानका समावेश है, क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भ वायु में भी अर्थ-ज्ञान का समावेश है, एवं ज्ञानप्रधान आदित्य

में भी अर्थ–क्रिया, दोनों का समावेश है। 'अर्थ–क्रिया–ज्ञान' तीनों अग्नि–वायु–आदित्य के मूलरूप हैं, एवं 'अर्थ–क्रिया–ज्ञान' तीनों प्रत्येक के तूलरूप हैं।

अर्थप्रधान मूल अग्नि (वागग्नि) प्रजापतिसंहिता का–'ऋक्संहिता' नामक प्रथम पर्व है, यही मूर्त्तिभाव की प्रतिष्ठा है। क्रियाप्रधान मूल वायु (प्राणवायु) प्रजापतिसंहिता का 'यजुःसंहिता' नामक द्वितीय पर्व है, यही गतिभाव की प्रतिष्ठा है। ज्ञानप्रधान मूल आदित्य (मनोमय आदित्य) प्रजापतिसंहिता का 'सामसंहिता' नामक तृतीय पर्व है, यही तेजोलक्षण विकासभाव की प्रतिष्ठा है। मनःप्राणवाङ्मय आपोभाव मूल आपः हैं, यही प्रजापतिसंहिता का 'अथर्वसंहिता' नामक चौथा पर्व है। चारों संहिताओं की समष्टि ही मूलवेद है *।

अर्थ–क्रिया–ज्ञानमूर्त्ति तूल अग्नि (वायु–आदित्यगर्भित त्रिवृन्मूर्त्ति विराडग्नि) मूल ऋक्संहिता का तूल पर्व है, यही तूलरूप मूल ऋग्वेद का विवर्त्तभाव है। क्रिया–अर्थ–ज्ञानमूर्त्ति तूल वायु (अग्नि–आदित्य–गर्भित त्रिवृन्मूर्त्ति हिरण्यगर्भ वायु) मूल यजुःसंहिता का तूल पर्व है, यही तूलरूप मूल यजुर्वेद का विवर्त्तभाव है। ज्ञानक्रियार्थमूर्त्ति तूल आदित्य (अग्नि वायुगर्भित त्रिवृन्मूर्त्ति सर्वज्ञ आदित्य) मूल सामसंहिता का तूलपर्व है, यही तूलरूप सामवेद का विवर्त्तभाव है। ज्ञानक्रियार्थमूर्त्ति तूल आपः मूल अथर्वसंहिता का तूल पर्व है, यही तूलरूप अथर्ववेद का विवर्त्तभाव है। इसप्रकार चारों तूल संहिताओं के साथ तीन तीन तूल वेदविवर्त्तभावों का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

ऋगादिसंहिताओं के '२१–१०१–१०००–६' ये मूल रूप हैं, प्रत्येक के साथ तीन तीन तूल विवर्त्तों का सम्बन्ध है। फलतः तूलवेद के '३३६३' पर्व हो जाते हैं। समष्टि–संख्या का विश्राम ४५२४ पर है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, अग्नि–वायु–आदित्य–आपः, मय–ऋक्–यजुः–साम–अथर्वतत्त्व मूलवेद हैं। प्रत्येक–वेदसंहिता के साथ सम्बद्ध ज्ञान–क्रिया–अर्थभाव तूलवेद हैं। मूलवेद को जैसे 'संहिता' कहा जाता है, तूलवेद के 'अर्थ–क्रिया–ज्ञानपर्व' (शब्दवेदपरिभाषापेक्षया) क्रमशः 'ब्राह्मण'–'आरण्यक'–'उपनिषत्' नामों से प्रसिद्ध हैं।

विज्ञ पाठक यह जानते हैं कि, वेद का 'विधिरूप' ब्राह्मणभाग कर्म्मकाण्डात्मक है, आरण्यकरूप ब्राह्मणभाग उपासनाकाण्डात्मक है, उपनिषद्रूप ब्राह्मणभाग ज्ञानकाण्डात्मक है, संहितारूप मन्त्रभाग विज्ञान–स्तुति–इतिहास–प्रतिपादक है। मन्त्रवेद मूलवेद है, ब्राह्मणवेद तूलवेद है। जो व्यवस्था इस शब्दवेद में है, वही उस तत्त्ववेद है। वहाँ क्योंकि ऐसी ही व्यवस्था है, इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ऋषियोंनें शब्दवेद के उतनें ही वैसे ही शाखाविभाग किए हैं। वहाँ चार मूल संहिताएँ हैं, यहाँ भी चार मूलसंहिताओं का आविर्भाव है। वहाँ प्रत्येक मूलसंहिता के २१–१०१–१०००–६ पर्व हैं, यहाँ भी प्रत्येक संहिता की इतनी

* "ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत्, सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्।"
(तै० ब्राह्मण)।

हीं शाखाएँ हुईं हैं। वहाँ शाखावेदात्मक प्रत्येक संहितावेद 'ज्ञान–क्रिया–अर्थ' नामक तूलपर्वों से युक्त है, यहाँ भी प्रत्येक शाखावेद के साथ ज्ञान–क्रिया–अर्थात्मक उपनिषत्–आरण्यक–ब्राह्मणग्रन्थों का समावेश हुआ है। अर्थरूप कर्म्म का प्रतिनिधि ब्राह्मणग्रन्थ बना, क्रियारूपा उपासना का प्रतिनिधि आरण्यकग्रन्थ बना, ज्ञानरूपा परिव्रज्या का प्रतिनिधि उपनिषद्ग्रन्थ बना। मन्त्रब्राह्मणात्मक वह तत्त्ववेद अपौरुषेय कहलाया है। मन्मब्राह्मणात्मक शब्दवेद क्या कहलाया ?, इस प्रश्न का सामान्य समाधान अग्रिम परिच्छेद से, तथा विशेष समाधान अग्रिम (तृतीय) खण्ड से अनुप्राणित है। वक्तव्यांश यही है कि, शाखाविभाग का कारण केवल अध्ययनपरम्परा ही नहीं है। अपितु प्राकृतिक नित्य तात्त्विक मूल–तूल वेद के जितनें पर्व हैं, शब्दवेद के उतनें हीं पर्व व्यवस्थित हुए हैं। निम्नलिखित तालिकाओं से तत्त्ववेद का उक्त संस्थाविभाग स्पष्ट हो जाता है—

(क) ४—मनःप्राणवाङ्मयः—आपः—त्रिणवत्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्नाः (दिश्याः)—दिशः

३—मनोमयः············—आदित्यः—एकविंशस्तोमावच्छिन्नः (दिव्यः)—द्यौः

२—प्राणमयः···········—वायुः—पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नः (आन्तरीक्ष्यः)-अन्तरिक्षम्

१—वाङ्मयः···············अग्निः—त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नः (पार्थिवः)—पृथिवी

———— *

(ख) ४—मूल-आपः—अथर्वविकासभूमिः—अथर्ववेदो मूलवेदः (अथर्वाणः)।

३—मूल-आदित्यः-सामविकासभूमिः—सामवेदो मूलवेदः (सामानि)।

२—मूल-वायुः—यजुर्विकासभूमिः—यजुर्वेदो मूलवेदः (यजूंषि)।

१—मूल-अग्निः—ऋग्विकासभूमिः—ऋग्वेदो मूलवेदः (ऋचः)।

———— *

(ग) ४—अथर्ववेदः—अथर्वसंहिताः ९
३—सामवेदः—सामसंहिताः १०००
२—यजुर्वेद—यजुःसंहिताः १०१
१—ऋग्वेदः—ऋक्संहिताः २१

—सैषा मूलवेदात्मिका 'अदितिसंहिता'

———— *

(घ ४—पारमेष्ठ्य सोमः—तन्मयः—अथर्ववेदः—अथर्वसंहिता
३—दिव्यआदित्यः—तन्मयः—सामवेदः—सामसंहिता
२—आन्तरिक्ष्यवायुः—तन्मयः—यजुर्वेदः—यजुसंहिता
१—पार्थिवाग्निः—तन्मयः—ऋग्वेदः—ऋक्संहिता)
—सैषा 'मूलवेदचतुष्टयी'

(ङ) ४—मनःप्राणवाङ्मय्यः—सोमकलाः—ज्ञानक्रियार्थरूपाः—आपो—वायुः—सोममय्यः।
३—मनःप्राणवाङ्मय्यः—आदित्यकलाः-ज्ञानक्रियार्थरूपाः—आदित्य-वायु—अग्निमय्यः।
२—प्राणवाङ्मनोमय्यः—वायुकलाः—क्रियाज्ञानार्थरूपाः—वायु—अग्नि—आदित्यमय्यः।
१—वाक्प्राणमनोमय्यः—अग्निकलाः—अर्थक्रियाज्ञानरूपाः-अग्नि—वायु—आदित्यमय्यः।

च-

आप्यवेदः अथर्ववेदः ❀	आदित्यवेदः सामवेदः ❀	वायुवेदः यजुर्वेदः ❀	अग्निवेदः ऋग्वेदः ❀	मन्त्रवेदः (मूलवेदः)
१-विधिवेदः २-आरण्यकवेदः ३-उपनिषद्वेदः	१-विधिवेदः २-आरण्यकवेदः ३-उपनिषद्वेदः	१-विधिवेदः २-आरण्यकवेदः ३-उपनिषद्वेदः	१-विधिवेदः २-आरण्यकवेदः ३-उपनिषद्वेदः	ब्राह्मणवेदः (तूलवेदः)

अथर्ववेदः ४ — मन्त्रब्राह्मणात्मकः

- १—मन्त्रः—(मनःप्राणवाङ्मय्यः, भृग्वङ्गिरोरूपाः–मूलापः)–अथर्वसंहिता ९ भेदभिन्ना
- २–ब्राह्मणम्
  - १–विधिः (वाङ्मय्यः, अर्थशक्तिप्रधानाः—तूलापः)—ब्राह्मणम् ९ भेदभिन्नम्
  - २–आरण्यकम् (प्राणमयः, क्रियाशक्तिप्रधानः—तूलवायुः)—आरण्यकम् ९ भेदभिन्नम्
  - ३–उपनिषत् (मनोमयः, ज्ञानशक्तिप्रधानः—तूलसोमः)—उपनिषत् ९ भेदभिन्ना

सामवेदः ३ — मन्त्रब्राह्मणात्मकः

- १—मन्त्रः—(प्राणवाग्गर्भितः, मनःप्रधानः, ज्ञानशक्तिमयः–मूलआदित्यः)–सामसंहिता १००० भेदभिन्ना
- २–ब्राह्मणम्
  - १–विधिः (वाङ्मयः, अर्थशक्तिप्रधानः, तूलाग्निः—आदित्यविधः)–ब्राह्मणम् १००० भेदभिन्नम्
  - २–आरण्यकम् (प्राणमयः, क्रियाशक्तिप्रधानः, तूलवायुः—आदित्यविधः)–आरण्यकम् १००० भेदभिन्नम्
  - ३–उपनिषत् (मनोमयः, ज्ञानशक्तिप्रधानः, तूलादित्यः—आदित्यविधः)–उपनिषत् १००० भेदभिन्ना

यजुर्वेदः २ — मन्त्रब्राह्मणात्मकः

- १—मन्त्रः—(मनोवाग्गर्भितः, प्राणप्रधानः क्रियाशक्तिमयः–मूलवायुः)—यजुःसंहिता १०१ भेदभिन्ना
- २–ब्राह्मणम्
  - १–विधिः (वाङ्मयः, अर्थशक्तिप्रधानः, तूलाग्निः, वायुविधः)—ब्राह्मणम् १०१ भेदभिन्नम्
  - २–आरण्यकम् (प्राणमयः, क्रियाशक्तिप्रधानः तूलवायुः, वायुविधः)—आरण्यकम् १०१ भेदभिन्नम्
  - ३–उपनिषत् (मनोमयः, ज्ञानशक्तिप्रधनः, तूलादित्यः, वायुविधः)—उपनिषत् १०१ भेदभिन्ना

ऋग्वेदः १ — मन्त्रब्राह्मणात्मकः

- १—मन्त्रः—(मनःप्राणगर्भितः, वाक्प्रधानः, अर्थशक्तिमयः, मूलाग्निः) ऋक्संहिता २१ भेदभिन्ना
- २–ब्राह्मणम्
  - १–विधिः (वाङ्मयः, अर्थशक्तिप्रधानः, तूलाग्निः अग्निविधः) ब्राह्मणम् २१ भेदभिन्नम्
  - २–आरण्यकम् (प्राणमयः, क्रियाशक्तिप्रधानः, तूलवायुः, अग्निविधः) आरण्यकम् २१ भेदभिन्नम्
  - ३–उपनिषत् (मनोमयः, ज्ञानशक्तिप्रधानः, तूलादित्यः, अग्निविधः) उपनिषत् २१ भेदभिन्ना

संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-भेदभिन्ना ४४२४ संख्यात्मिका सैषा वेदराशिः। सोऽयमपौरुषेयोवेदो मन्त्र-ब्राह्मणात्मकः। तदनु तत्संख्यासमतुलितः पौरुषेयवेदः शब्दमयः।

१३–अग्नीषोमात्मक शिव–शक्तिभाव—

'अग्नि ऋक् है, वायु यजु है, आदित्य साम है, आपः (सोम) अथर्व है' जहाँ पूर्व निरूपण से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है, वहाँ यह भी सिद्ध विषय है, कि प्रत्येक पदार्थ में इन चारों मूलवेदों का उपभोग हो रहा है। पूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि, सन्धान–लक्षणा चतुर्वेदरूपा अदितिसंहिता की समष्टि-व्यष्टिरूप से सर्वत्र व्याप्ति हो रही है। इस मूलवेदसंहिता के अतिरिक्त ज्ञान–क्रिया–अर्थरूप से तूलब्राह्मणवेद की भी सर्वत्र व्याप्ति स्वाभाविक है। प्रत्येक पदार्थ हृद्य आत्मदृष्टि से मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ ज्ञानक्रियार्थ–रूप है, यही प्रत्येक पदार्थ में भुक्त रहने वाले विधि–आरण्यक–उपनिषल्लक्षण ब्राह्मणवेद का प्रत्यक्ष निदर्शन है। प्रत्येक पदार्थ अग्निस्थानीय पूर्वरूप, आदित्यस्थानीय उत्तररूप, वायुस्थानीय संधि, आपःस्थानीय संधान-रूप से ऋक्–साम–यजुः–अथर्वमूर्त्ति बन रहा है। प्रत्येक पदार्थ में उपभुक्त ऋक्–साम–यजुः–अथर्वलक्षण मन्त्रवेद का यही प्रत्यक्ष निदर्शन है। एवं इस दृष्टि से मन्त्र–ब्राह्मणात्मक मूलतूलवेदरूप सम्वत्सरप्रजापति के गर्भ में उत्पन्न होने वाले यच्चयावत् साम्वत्सरिक पदार्थ भी मन्त्र–ब्राह्मणात्मक मूलतूल वेदरूप बने हुए हैं। इसप्रकार भगवान् मनु का **'सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति'** यह कथन सर्वात्मना अन्वर्थ बन रहा है।

'अग्नीषोमात्मकं जगत' इस बृहज्जाबाल सिद्धान्त के अनुशार जगत्, एवं जगत्–गर्भ में प्रतिष्ठित पदार्थ अग्नीषोमात्मक हैं। अग्नि के अग्नि–वायु–आदित्य, ये तीन रूप हैं। सोम के भास्वरसोम–दिक्सोम ये दो रूप हैं। अग्नित्रयी वेदत्रयी है, सोमद्वयी अथर्ववेद है। **'ताप, विद्युत्, प्रकाश'** का प्रत्येक पदार्थ में समन्वय है। वर्त्तमान विज्ञान इन्हीं को **'हीट, इलेक्ट्री, लाइट'** नामों से व्यवहृत किया करता है। ताप अग्नि से, विद्युत् वायु से, प्रकाश आदित्य (इन्द्र) से सम्बन्ध रखता है। वैदिकविज्ञानपरिभाषानुसार 'ताप–विद्युत्–प्रकाश' तीनों 'तेजः' पदार्थ हैं। तेजःपदार्थ विकासधर्म्मा है, विशकलनधर्म्मा है। इस विकास–धर्म्म की रक्षा संकोचधर्म्मा स्नेहतत्त्व से हो रही है। विकासधर्म्मरक्षक संकोचधर्म्मावच्छिन्न वही स्नेह-तत्त्व **'सोम'** नाम से प्रसिद्ध है। इसप्रकार **'तेजः–स्नेह'** दृष्टि से भी सर्वत्र चतुर्वेदसंहिता के दर्शन किए जा सकते हैं। तेज **'प्राण'** है, स्नेह **'रयि'** है। प्रश्नोपनिषत् ने रयि–प्राण के मिथुनभाव को ही विश्व का मूल माना है। प्राण वृषा है, रयि योषा है। वृषा पुरुष है, योषा स्त्री है। दोनों का दाम्पत्यभाव ही सृष्टि का मूल है- **"अर्द्धेन पुरुषोऽभवत्, अर्द्धेन नारी, तस्यां स बिराजमसृजत् प्रभुः'** यह मनुवचन भी इसी अग्नी–षोममयी सृष्टिविद्या का स्पष्टीकरण कर रहा है। अग्नि–सोम के इस चक्र का सम्बन्ध अर्द्धनारीश्वर भगवान् शङ्कर की उपासना पर अवलम्बित है। प्रसङ्गोपात्त संक्षेप से इस पार्थिव–अग्नीषोमचक्र का स्वरूप जान लेना भी आवश्यक होगा।

एक सहस्र ऋतमात्राओं के घनीभाव से 'अग्नि' नामक विशेषभाव का उदय होता है, जैसाकि आगे के परिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। अपतत्त्व ही का नाम **'ऋत'** है, एवं अपतत्त्व के घनी–भाव से ही पिण्डभावस्वरूपसमर्पक अग्नि का जन्म हुआ है। पिण्डस्वरूपलक्षण इस अग्नि को **'सत्य'** कहा जाता है। इस सत्याग्नि का हृदय से आरम्भ कर महिमा–प्रधिपर्य्यन्त सहस्ररूप से वितान होता है, जो कि साहस्री **'वेदसाहस्री'** नाम से प्रसिद्ध है। जब यह सत्याग्नि विकास की चरमसीमा पर पहुँच जाता

है, तो तत्काल ऋत आपः (सोम) रूप में परिणत हो जाता है। इसप्रकार वही ऋत आपः (सोम) हृदयबिन्दु में आकर सत्याग्नि बन जाता है, वही सत्याग्नि प्रधिस्थान पर आकर ऋतसोम बन जाता है।

अग्नि का अङ्गिरा से सम्बन्ध है, सोम का भृगु से सम्बन्ध है । अङ्गिरा अग्नि–वायु–आदित्य, भेद से तीन अवस्थाओं में परिणत रहता हुआ हृदय से परिधि की ओर उत्तरोत्तर विकसित होता रहता है, जैसाकि 'द्यामङ्गिरसो ययुः' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है*। भृगुतत्त्व आपः–वायुः–सोम, भेद से तीन अवस्थाओं में परिणत रहता हुआ प्रधि से हृदय की ओर उत्तरोत्तर संकुचित होता रहता है। तत्त्वतः अङ्गिरात्रयीलक्षणा अग्निसाहस्री हृदय से परिधि की ओर वितत होती है, एवं भृगुत्रयीलक्षणा सोमसाहस्री परिधि से हृदय की ओर अनुगत रहती है। सोमवंशी भृगु के आपः–वायुः–सोम, तीनों पर्व मण्डलप्रदेश को अपना व्याप्तिस्थान बनाते हुए परिधि से केन्द्र की ओर आते हैं। केन्द्रातिरिक्त माण्डलिक प्रदेश में भृगु के इन तीनों पर्वों को रहने के लिए पर्याप्त अवकाश मिल जाता है, अतएव पारस्परिक संघर्ष को अवसर नहीं मिलता। जब तीनों भृगुपर्व केन्द्रबिन्दु पर आ जाते हैं, तो प्रदेशशून्य हृद्बिन्दुस्थान इन तीनों के संघर्ष का कारण बन जाता है। तीनों के संघर्षबल का ही नाम 'सहोबल' है। इससे अविलम्ब अङ्गिरात्रयी का प्रादुर्भाव हो पड़ता है। अप्–वायु–सोम का संघर्ष ही अङ्गिरात्रयी का जन्मदाता बन जाता है। जब भृगुत्रयी अङ्गिरात्रयीरूप में परिणत हो जाती है, तो इसका केन्द्र से परिधि की ओर गमन आरम्भ हो जाता है। अग्नि उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ परिधि की ओर जाता है। प्रथम विकास अग्नि है, द्वितीय विकास वायु है, तृतीय विकास आदित्य है। विकास की चरम सीमा परिधि पर समाप्त है। यहाँ विकासमात्राओं का अवसान है। बस इस स्थान पर पहुँचते ही विकासभाव शान्त हो जाता है, संकोचधर्म्म का प्रादुर्भाव हो जाता है। वही अङ्गिरात्रयी विकास की चरमसीमा (परिधि) पर पहुँच कर भृगुत्रयीरूप में परिणत हो जाती है। तत्काल इसका पुनः केन्द्र की ओर संकोचरूप से आगमन आरम्भ हो जाता है। इसप्रकार 'हृदय–परिधि' इन दो सीमाओं के सम्बन्ध से अङ्गिरा (अग्नि), भृगु (सोम) का चक्रवत् परस्पर विनिमय होता रहता है। ऋतसोम सत्याग्नि बनता रहता है, सत्याग्नि ऋतसोम में परिणत होता रहता है। 'ऋतं सत्येऽधायि, सत्यं–ऋतेऽधायि' वचन इसी चक्ररहस्य का स्पष्टीकरण कर रहा है। अवस्थाभेद ही तत्त्वभेद का कारण है। वस्तुतः वही अग्नि है, वही सोम है। वही वृषा है, वही योषा है। वही हृदयप्रतियोगिक परिधि–अनुयोगिकरूप से अग्निलक्षण बनता हुआ पुरुष है। एवं परिधिप्रतियोगिक, हृदयानुयोगिकरूप से सोमलक्षण बनता हुआ स्त्री है। दोनों के इस पारस्परिक अन्तर्य्यामलक्षण चितिसम्बन्ध का ही नाम 'याग' (यज्ञ) है। जब तक अग्नि–सोम का समन्वय है, तब तक यज्ञ है। जब तक यज्ञ है, तब तक पदार्थसंस्था का स्वस्तिभाव है। स्वस्ति-भाव ही शिवभाव है, शिवभाव ही वस्तुस्वरूप की प्रतिष्ठा है। जिस दिन दोनों का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, शिवसंस्था रुद्ररूप में परिणत होती हुई नष्ट हो जाती है। अर्द्धनारीश्वर शिव ही शिवभाव के रक्षक हैं। क्योंकि इनमें अग्निलक्षण 'नर', सोमलक्षणा 'नारी', दोनों का समन्वय है।

अग्नि स्वस्वरूप से उग्र बनता हुआ रुद्र है, जैसाकि–'अग्निर्वारुद्रः' इत्यादि श्रौत सिद्धान्त से प्रमाणित है। सोमान्नसहयोग से रुद्राग्नि की उग्रता शान्त हो जाती है, रुद्र शिवरूप में परिणत हो जाते हैं।

---

* इत एत उदारुहन्, दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
प्रभूर्जयो यथापथि द्यामङ्गिरसो ययुः ॥

जहाँ अग्नि इन का घोर शरीर है, वहाँ सोम अघोर शरीर है। तत्त्वतः सोमानुगत अग्नि हीं 'शिव' है। सोम ही अग्नि की शक्ति है। जब तक सोमान्न शारीराग्नि में आहुत होता रहता है, तभीतक अग्नि सशक्त रहता है। अतएव सोम को हम 'शिवशक्ति' (शिवात्मक रुद्राग्नि की शक्ति) कह सकते हैं।

शिवशक्तिलक्षण सोम, एवं शक्तिविशिष्ट शिव, दोनों का पार्थिव सम्वत्सरचक्रमें समन्वय देखिए। पार्थिव सम्वत्सरचक्र में दक्षिणादिक् अधोदिक् मानी गई है, उत्तरादिक् ऊर्ध्वादिक् मानी गई है। उत्तरदिशा सौम्या है, दक्षिणदिशा आग्नेयी है, याम्या है। रुद्राग्नि ही अवसान का प्रवर्त्तक है, अतएव -'दृढाद्यमो-ऽवसानं पृथिव्याः' के अनुसार विशुद्ध रुद्राग्नि को 'यम' (अन्तक) मान लिया जाता है। इसीलिए आग्नेयी दक्षिणदिक् याम्यादिक् कहलाई है। इस दिक् से रुद्राग्नि निरन्तर उत्तर की ओर जाया करता है, एवमेव उत्तरादिक् से सोम निरन्तर दक्षिण की ओर आया करता है*। दोनों के समन्वय से अग्नीषोमात्मक सम्वत्सर यज्ञ का प्रादुर्भाव होता है। यही यज्ञ विश्वसृष्टि के शिवभाव की मूलप्रतिष्ठा बनता है।

उक्त यज्ञस्थिति से प्रकृत में यही वक्तव्य है कि, रुद्राग्नि को शिवरूप प्रदान करने वाला शिवशक्ति-लक्षण सोम उत्तर में प्रतिष्ठित होता हुआ दक्षिणस्थ अग्नि की अपेक्षा अपना ऊर्ध्वस्थान रखता है। शक्ति (सोम-स्त्री) का आसन ऊँचा (उत्तर) है, शिव (अग्नि-पुरुष) का आसन नीचा (दक्षिण) है। शिव अधस्तल में स्थित हैं, शक्ति इन पर खड़ी हुई है। इसी प्राकृतिक शिव-शक्ति-चरित्र की अभिव्यक्ति के लिए वैज्ञानिकों नें उपासनाकाण्ड में शिवप्रतिमा को धरातल पर रखते हुए वक्षस्थलपर शक्तिप्रतिमा खड़ी की है।

अग्नि-सोम, दोनों में आधार अग्नि है। अतएव सोमापेक्षया प्रधानता अग्नि की ही मानी गई है। अतएव 'अर्द्धनारीश्वर' से 'अग्नि' का ही ग्रहण किया जाता है। अग्नि का अन्नादभाव भी इसी प्रधानता का सूचक है। इसप्रकार यद्यपि अर्द्धनारीश्वर शब्द से अग्नि का ही ग्रहण करना न्यायसङ्गत है। तथापि व्यव-हार में शिवशक्तिसमन्वितरूप को 'सोमः' ही कहा जायगा। यही कारण है कि, अग्नि प्राणप्रधान बनता हुआ नीरूप है, अतएव स्वस्वरूप से अव्यवहार्य्य है। उधर सोम रयिप्रधान बनता हुआ भूतमय है, अतएव व्यवहार्य्य है। प्राणलक्षण अग्नि अमूर्त्त बनता हुआ अव्यक्त है, भूतलक्षण सोम मूर्त्त बनता हुआ व्यक्त है। जैसाकि 'मूर्त्तिरेव रयिः' (सोमः) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से स्पष्ट है। व्यक्त सोम ही अव्यक्त अग्नि के पिण्ड भाव का कारण बनता हुआ अग्नि के व्यक्तीभाव का कारण बन रहा है व्यक्त सोमसमन्वय से ही अव्यक्त अग्नि पिण्डरूप में परिणत हुआ है। तत्त्वतः व्यक्त सोम ही अव्यक्त अग्नि का लिङ्ग (परिचायक) है। अतएव तद्रूप से ही शिवोपासना प्रक्रान्त है।

जिस शिवशक्ति को अबतक हमने 'सोम' नाम से व्यवहृत किया है, वस्तुतः उस का नाम है 'उमा'। केनोपनिषत् में जिस हैमवती 'उमा' के द्वारा इन्द्र को ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ है, वह यही शिवशक्ति है। उकार प्राण का वाचक है, प्राण ही शिव है। 'मा' भाग्यसम्पत् का सूचक है। उकार की (प्राणात्मक शिव की) मा (भाग्यलक्ष्मी-स्वरूपाधिष्ठात्री-शक्ति) ही 'उमा' है। ऐसी उमा से युक्त शिव ही-'उमयासहितः शिवः' इस निर्वचन से 'सोम' नाम से प्रसिद्ध है। इसप्रकार केवल 'सोम' शब्द 'शिव-शक्ति' दोनों का संग्राहक बन रहा है।

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन प्रकाशित 'शतपथ विज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

शिव भूतपति हैं, परन्तु इन का यह पतित्व जगन्माता के * पाणिग्रहण पर ही अवलम्बित है। जिस दिन पतिदेव पत्नी का सहयोग खो बैठते हैं, प्रचण्डरूप में परिणत हो जाते हैं। विशुद्ध अग्नि ही पत्नीवञ्चित रुद्र है। शक्तियुत अग्नि जहाँ शान्त था, भीषणरव से वर्जित था, वहाँ शक्तिशून्य अग्नि भीषणरव से युक्त बनते हुए **'भैरव'** हैं। ये ही जगन्माता के पुत्र हैं। शक्तिविरहित शिवभाव का उपमर्द्दन ही इन का मुख्य कर्म्म हैं। शक्ति (इकार) शून्य शिव-**'श्व'** है। यही (श्वान ही) भैरव का वाहन है। अस्तु इस तान्त्रिक रहस्य का स्पष्टीकरण अप्राकृत है। प्रकृत में अग्नि-सोम के इस चङ्क्रमण से यही कहना है कि, अग्नी-षोम के समन्वितरूप का ही नाम जगत् है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ जब अग्नीषोमात्मक है, अग्नित्रयी का ही नाम जब वेदत्रयी है, सोमद्वयी ही जब अथर्ववेद है, तो प्रत्येक पदार्थ को हम अवश्य ही चतुर्वेदमूर्त्ति कह सकते हैं। अग्नी-षोम से यदि कोई अव्याप्त नहीं है, तो तद्रूपा वेदचतुष्टयी से भी—**'नाव्याप्तमिह किञ्चन'**। अग्निसोम की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

(१)—अग्निराचक्षते रौद्री घोरा या तैजसी तनूः।
सोमशक्त्याऽऽमृतमयः सोमशक्तिकरी तनूः ॥१॥
अमृतं यत् प्रतिष्ठा सा तेजोविद्याकला स्वयम्।
स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एव 'रस–तेजसी' ॥२॥

(२)—द्विविधा तेजसो वृत्तिः सूर्य्यात्मा चानलात्मिका।
तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा चानलात्मिका ॥३॥
वैद्युदादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः।
तेजो–रस–विभेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम् ॥४॥

(३)—अग्नेरमृतनिष्पत्ति+रमृतेनाग्निरेधते।
अतएव हविःक्लृप्त–"मग्नीषोमात्मकं जगत्" ॥५॥
ऊर्ध्वशक्तिमयः सोम–अधःशक्तिमयोऽनलः।
ताभ्यां सम्पुटितं तस्माच्छश्वद् विश्वमिदं जगत् ॥६॥

(४)—अग्नेरूर्ध्वं भवत्येषा (शक्तिः) यावत् सौम्यं परामृतम्।
यावदग्न्यात्मकं सौम्यममृतं विसृजत्यधः ॥७॥

***चिताभस्मालेपो, गरलमशनं, दिक्पटधरः, जटाधारी, कण्ठे भुजगपतिहारिः पशुपतिः।**
कपाली, भूतेशो, भजति जगदीशैकपदवीं भगवानीत्वत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम्।

+ अमृतेन–पारमेष्ठ्यसोमेन।

अतएव हि कालाग्निरधस्तच्छक्तिरुर्ध्वगा ।
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात्पावनं भवेत् ॥८॥
आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ।
तथैव निम्नगः सोमः "शिवशक्तिपदास्पदः" ॥९॥
(५)—तदित्थं शिव-शक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन ॥१०॥

—बृहज्जाबालोपनिषत् २ ब्राह्मण

१४–वेदशाखाविभागोपपत्ति —

"अग्नीषोमसमष्टिरूप पदार्थों में समष्टि–व्यष्टिरूप से अग्नित्रयीलक्षणा वेदत्रयी, सोमद्वयीलक्षण अथर्व, शाखयुक्त ये चारों वेद प्रतिष्ठित हैं। साथ ही ज्ञान-क्रिया-अर्थरूप ब्राह्मणवेद भी प्रतिष्ठित हैं" यह पूर्व परिच्छेद से गतार्थ है। वेदचतुष्टयी के अग्निरूप ऋक्, वायुरूप यजुः, आदित्यरूप साम, सोमरूप अथर्व, चारों मूलपर्व क्रमशः २१-१०१-१०००-९ भागों में परिणत रहते हैं। पहिले वेदत्रयी के पर्वों की ही उपपत्ति का समन्वय कीजिए।

पूर्वप्रतिपादित अदितिस्वरूपपरिचय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, भूकेन्द्र से आरम्भ कर १७वें अहर्गण पर्य्यन्त अग्नि का साम्राज्य है। सप्तदशस्तोमस्थ इस आहवनीय प्राणाग्नि में ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त प्रतिष्ठित सोम की आहुति होती है। इस सोम की आहुति से यह अग्निविकास २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त हो जाता है। इसप्रकार केन्द्र से रथन्तरसाम पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले अग्नि के स्तोमसम्बन्ध से २१ पर्व हो जाते हैं। अग्नि से ही ऋग्वेद का विकास हुआ है, दूसरे शब्दों में अग्नि ही ऋग्वेद है। यही–'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्' है। प्रत्येक पदार्थ के महिमामण्डल में २१ पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला ऋगग्नि २१ पर्वों में विभक्त है। यही ऋग्वेद की २१ शाखा हैं। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए २१ पर्वात्मिका ऋक्संहिता की प्रतिकृतिकृतरूपा शब्दात्मिका ऋक्संहिता की २१ शाखाओं का आविर्भाव हुआ है।

वस्तुपिण्ड को केन्द्र बना कर चारों ओर एक सहस्र परिणाहमण्डलों का वितान होता है, जैसाकि पूर्व प्रकरण की 'सामवेदनिरुक्ति' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। कूटस्थ व्यास के आधार पर प्रतिष्ठित एकसहस्र भूतव्यासों के आधार पर प्रत्येक वस्तु में एकसहस्र मण्डल हैं। मण्डल ही साम है, साम ही आदित्य है। अग्नि की विरलावस्था (प्राणावस्था) ही आदित्य है। इसी से सामवेद का विकास हुआ है। दूसरे शब्दों में आदित्य ही सामवेद है। यही 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' है। प्रत्येक पदार्थ के महिमामण्डल में भुक्त सामादित्य के १००० पर्व ही एकसहस्र सामशाखा हैं। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए सहस्रपर्वात्मिका सामसंहिता की प्रतिकृतिरूपा शब्दात्मिका सामसंहिता की एकसहस्र शाखाओं का आविर्भाव हुआ है।

अग्नि की तरलावस्थारूप स्थिति-(आकाश)-गर्भित गति-(वायु)-तत्त्व ही (अनेजदेजत् तत्त्व ही) यजुर्वेद है। मण्डल ऋक् है, अर्चि साम है, अग्नि पुरुष है, यही पुरुषाग्नि यजुः है। (देखिए-शत०

१०।५।२।१,२,) । तात्पर्य्य इस का यही है कि, ऋक्-साम दोनों आयतन हैं, छन्द हैं, वस्तुतत्त्वलक्षण अग्नि को अपनी सीमा में प्रतिष्ठित रखनें वाले लेखात्मक पुर हैं । क्योंकि अग्नि इन पुरों से सीमित रहता है, अतएव इसे 'पुरुष' कहा जाता है । ऋक्सामपुर में प्रतिष्ठित स्थितिगर्भित गतिलक्षण वस्तुभूत अग्निरस ही पुरुषविध यजुः है । ऋक्-सामावच्छिन्न यजुः-रस की ही हमें उपलब्धि होती है, यही रसोपलब्धि (रसात्मक यजुर्वेदोपलब्धि) ही आत्मतृप्ति का कारण बनती है । इसी तृप्तिभाव की दृष्टि से रसात्मक इस यजुः को 'वय' (अन्न) कह दिया जाता है ।

कहने को ऋक् (मूर्ति), साम (मण्डल) हीं उपलब्धि की प्रतिष्ठा हैं, परन्तु वस्तुतः उपलब्धि होती है—'यजु' की । आत्मानन्द का उद्रेक यजु की उपलब्धि पर ही निर्भर है । यजुरुपलब्धि से तृप्ति होती है, तृप्ति ही शान्तानन्दलक्षण आत्मानन्द है, आत्मानन्द ही इस यजु का वास्तविक विज्ञान (स्वरूपपरिचय) है । क्योंकि ऋक्-साम-यजुः-तीनों में यजु ही आत्मतृप्ति का कारण बनता है, अतएव इसे **'देवानामद्धाविद्या'** कहा गया है । ऋक्-साम अद्धा (प्रकट) होते हुए भी बनन्द्धा हैं, यजु-अनद्धा (अनिरुक्त-उपांशु) रहता हुआ भी अद्धा (निरुक्त) है । भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है कि, जो विद्वान् यजुर्विद्या के तृप्तिलक्षण इस अद्धारूप को जानता है, वह सामान्य मनुष्य नहीं है, अपितु वह देवता है ।

स्थिति आकाश है, यही जू है । गति वायु है, यही यत् है । यत्-और जू की समष्टि ही 'यज्जू' है । यज्जू ही परोक्षभाषा में 'यजुः' है । प्रियव्रत रौहिणायन ने आकाशगर्भित वायुरूप यजु को ही आत्मानन्द की मुख्य विकासभूमि माना है । लोकव्यवहार में भी वायु को आनन्दविकास का हेतु माना गया है । निरावरणभावात्मक सौर्य्यमारुतिक प्रदेश ही उन्मुक्त वायव्य प्रदेश (खुली जगह, खुली हवा) माना गया है । और ऐसा वायव्य उन्मुक्त प्रदेश सावरण वारुण प्रदेश के समतुलन में स्वास्थ्यकर-आनन्दप्रद-तुष्टिप्रद माना गया है । खुली हवा के संस्पर्श मात्र से मानव एक प्रकार की तुष्टि-तृप्ति का अनुभव करने लगता है । स्थूल भूतवायु के आधार से हमें प्राणात्मक तृप्तिकर यजुर्वायु उपलब्ध होता है । इसप्रकार तीनों वेदों में रसात्मक, गतिभावापन्न, वायुलक्षण यजुः ही मुख्य वस्तुतत्त्व बन रहा है ।

इसी मुख्यभाव के कारण यजु को 'ज्येष्ठब्रह्म'-'अपूर्वमपरब्रह्म' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है । यजु के इसी तात्त्विक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए निम्नलिखित श्रौतवचन हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं—

१—"अयं वाव यजुः, योऽयं पवते । एष हि यन् (गच्छन्) एवेदं सर्वं जनयति, एतं यन्तमिदमनु प्रजायते, तस्माद्वायुरेव यजुः । अयमेवाकाशो जूः-यदिदमन्तरिक्षम् । एतं ह्याकाशमनु जवते । तदेतत्-यजुः-वायुश्च, अन्तरिक्षश्च । यच्च, जूश्च । तस्माद्यजुः । एष एव यत्, एष जूरिति । तदेतद्यजुः-ऋक्-सामयोः प्रतिष्ठितं, ऋक्सामे वहतः" (शत० १०।३।५।१,२,।)-(अधिदैवतम्) ।

२—"अथाध्यात्मम्-'प्राण एव यजुः। प्राणो हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति, प्राणं यन्तमनु प्रजायते, तस्मात् प्राण एव यजुः। अयमेवाकाशो जूः-योऽयमन्तरात्मन्नाकाशः। एतं ह्याकाशमनु जवते। तदेतद्यजुः-प्राणश्च, आकाशश्च। यच्च, जूश्च। तस्माद्यजुः। प्राण एव यत्, प्राणो ह्येति" (शत०१०।३।५।४,५,)।

३—"अन्नमेव यजुः। अन्नेन हि जायते, अन्नेन जवते। तदेतद्यजुरन्ने प्रतिष्ठितं, अन्नं वहति। तस्मात्समानऽएव-प्राणेऽन्यदन्यदन्नं धीयते"
(शत० १०।३।५।६।)।

४—"तदेतज्ज्येष्ठं ब्रह्म। नह्येतस्मात् किञ्चन ज्यायोऽस्ति। ज्येष्ठो ह वै श्रेष्ठः स्वानां भवति, य एवं वेद। तदेतत्-'ब्रह्मापूर्वमपरवत्'। स यो हैतदेवं ब्रह्मापूर्वम-परवद्वेद, न हास्मात् कश्चन श्रेयान्त्समानेषु भवति। श्रेयांसः-श्रेयांसो हैवास्मादपरपुरुषा जायन्ते" (शत० १०।३।५।१०,११,)।

५—"तस्य वा एतस्य यजुषः 'रस' एवोपनिषत्। तस्माद्यावन्मात्रेण यजुषा अशाध्वर्युर्ग्रहं गृह्णाति, स उभे स्तुतशस्त्रे-अनुविभवति, उभे स्तुतशस्त्रे (ऋक्-सामे) अनुव्यश्नुते। तस्माद्यावन्मात्र-इवान्नस्य रसः, सर्वमन्नमवति, सर्वमन्न-मनुव्येति" (शत० १०।३।५।१२)।

६—"तृप्तिरेवास्य गतिः। तस्माद्यदान्नस्य तृप्यति, अथ स गत-इव मन्यते। आनन्द एवास्य विज्ञानमात्मा। आनन्दात्मानो हैव सर्वे देवाः। सा हैषैव 'देवानामद्धाविद्या'। स ह स न मनुष्यः, य एवंवित्। देवानां हैव स एकः" (शत० १०।३।५।१३।)।

७—"एतद्ध स्म वै तद्विद्वान् प्रियव्रतो रौहिणायन आह वायुं वान्तं-'आनन्दस्त आत्मा, इतो वा वाहि, इतो वेति। स ह स्म तथैव वाति। एतां ह वै तृप्तिं, एतां गतिं, एतमानन्दं, एतमात्मानमभिसम्भवति, य एवंवेद"।
(शत० १०।५।३।१४।)।

८—"तदेतद्यजुः-उपांश्वनिरुक्तम्। प्राणो वै यजुः, उपांश्वायतनो वै प्राणः। तस्य ह यो निरुक्तमाविर्भावं वेद, आविर्भवति कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन। क्षिप्रऽउ हैवाविदं गच्छति, स ह यजुरेव भवति, यजुषैनमाचक्षते"।
(शत० १०।३।५।१५,१६,)। इति।

उक्त यजुःस्वरूप परिचय से निष्कर्ष यह निकलता है कि, अथर्वगर्भित वेदत्रयीमूर्त्ति पार्थिव सम्वत्सर-प्रजापति का प्रजापतित्त्व वायुविध यजुःपुरुष पर ही अवलम्बित है । प्रजाजनकत्व ही प्रजापति शब्द का अवच्छेदक है, एवं-'एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति' इत्यादि श्रुति के अनुसार यजुः ही जनकभाव से युक्त है। अनेजदेजत्-लक्षण, वायुविध अग्निमूर्त्ति-ऋक्-सामावच्छिन्न सम्वत्सर ही यजु है, यही सम्वत्सर है, यही प्रजापति है । इस सम्वत्सराग्नि (वायु) रूप यजुः के ही १०१ पर्व मानें गए हैं । यही व्यवस्था सौर सम्वत्सर में घटित है । दोनों में अन्तर केवल यही है कि, पार्थिव सम्वत्सर में अग्नि की प्रधानता है, एवं सौर सम्वत्सर में आदित्य की प्रधानता है । आदित्यात्मक दिव्य सम्वत्सर रश्मिभाव से एकशतविध है, अग्न्यात्मक पार्थिव सम्वत्सर चितिभाव से एकशतविध है। ५० प्राणभृत-इष्टकाचिति, ५० यजुष्मती इष्टकाचिति, सादन-सूददोहन, दोनों मिलकर १ चिति, इसप्रकार पार्थिव चित्याग्नि के १०१ पर्व हो जाते हैं । इसप्रकार सप्तपुरुष-पुरुषात्मक, अतएव 'सप्तविध' नाम से प्रसिद्ध प्रजापति के १०१ पर्व हो जाते हैं। इन्हीं संख्याओं के प्रक्रम से उत्तरावेदिलक्षणा महापृथिवी का वितान हुआ है, जैसाकि चयनब्राह्मणविज्ञान में विस्तार से निरूपित है । प्रकृत में केवल यही दिखलाना है कि, यजुरग्नि के १०१ पर्व होते हैं। निम्नलिखित वचन इन्हीं पर्वों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—"सम्वत्सरो वै प्रजापतिः । स एकशतमात्मानं व्यधत्त । स एकशतधात्मानं विधाय अग्निं सर्वान् कामानामात्मानमभि समचिनुत, स सर्वे कामा अभवत् । तस्मान्न कश्चन बहिर्धा कामोऽभवत् । तस्मादाहुः-'सम्वत्सरः सर्वे कामाः" ।

(शत० १०।२।४।१।) ।

२—"स यः स सम्वत्सरः, असौ स आदित्यः । स एष एकशतविधः । तस्य रश्मयः शतं विधाः । एष एवैकशततमः, य एष तपति, अस्मिन्त्सर्वस्मिन् प्रतिष्ठितः" ।

(शत० १०।२।४।३-सौरसम्वत्सरः) ।

३—"सप्तविधो वाऽअग्रे प्रजापतिरसृज्यत । स एतमेकशतधात्मानं विहितमपश्यत् । प्राणभृत्सु पञ्चाशदिष्टकाः, पञ्चाशद्यजूंषि, तच्छतम् । सादनञ्चा, सूददोहाश्चैकशततमे, तत् समानम् । सादयित्वा हि सूददोहसाधिवदति । स एतेनैकशतविधेनात्मनेमां जितिमजयत्, इमां व्यष्टिं व्याश्नुत । स य एवैकशतविधः, स सप्तविधः । यः सप्तविधः, स एकशतविधः । इति नु विधानां (मीमांसा)" ।

(शत० १०।२।४।८,६,) ।

४—"सम्वत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविधः । तस्याहोरात्राण्यर्धमासा, मासा, ऋतवः । षष्टिर्मास्यस्याहोरात्राणि । मासि वै सम्वत्सरस्याहोरात्राण्याप्यन्ते । चतुर्विंशति-

रर्धमासाः, त्रयोदशमासाः, त्रय ऋतवः, ताः शतविधाः । सम्वत्सर एवैकशततमी विधा" * (शत० १०।२।६।१।) ।

५—"सऽउ वा इष्टकैकशतविधः । याः पञ्चाशत् प्रथमा इष्टकाः, याश्चोत्तमाः, ताः शतंविधाः । अथ या एतदन्तरेणेष्टका उपधीयन्ते, सैवैकशततमी विधा" ।

(शत० १०।२।६।११।) ।

६—"स उ एव यजुस्तेजाः, 'यजुरेकशतविधः' । यानि पञ्चाशत् प्रथमानि यजूंषि, यानि चोत्तमानि, ताः शतं विधाः । अथ यान्येतदन्तरेण यजूंषि क्रियन्ते, सैवैकशततमी विधा । एवमु सप्तविध एकशतविधो भवति" ।

(शत० १०।२।६।१२।) ।

७—"एवं वा सर्वे यज्ञा एकशतविधाः, आ-अग्निहोत्रात्-ऋग्भिः, यजुर्भिः, सामभिः । स यः शतायुतायां कामः, य एकशतविधे, यः सप्तविधे, यज्ञेन । यज्ञेन हैव तमेवंविदाप्नोति" (शत० १०।२।६।१३।) ।

इसप्रकार हमारा यजुःपुरुष १०१ भागों में विभक्त हो रहा है, और यही 'एकशतमध्वर्युशाखाः' है । इसी रहस्य को सूचित करने के लिए १०१ पर्वात्मिका यजुःसंहिता की प्रतिकृतिरूपा शब्दात्मिका यजुःसंहिता की १०१ शाखाओं का आविर्भाव हुआ है ।

सर्वान्त में चौथा अथर्ववेद हमारे सामने आता है । अथर्ववेद सोमात्मक है । एवं यह सोमतत्त्व दसभागों में विभक्त है । दशधा विभक्त सोम ऋणभाव से नवधारूप में परिणत हो जाता है, जैसाकि आगे के 'ऋणधन' परिच्छेद में स्पष्ट होने वाला है । सोम ही अथर्व है, यही 'नवधाऽऽथर्व्वणो वेदः' है । इसी रहस्य को सूचित करने के लिए ६ पर्वात्मिका अथर्वसंहिता की प्रतिकृतिरूप शब्दात्मिका अथर्वसंहिता की ६ शाखाओं का आविर्भाव हुआ है । इसप्रकार शब्दात्मक वेद की शाखाओं के मूल तत्त्वात्मक वेद के शाखाविभाग ही बन रहे हैं ।

---

* १—अहोरात्राणि—६०
२—अर्द्धमासाः—२४
३—मासाः———१३
४—ऋतवः———३
५—सम्वत्सरः——१

———————
१०१

१५–वेदचतुष्टयी के उपक्रम मन्त्र, और तात्त्विक वेदस्वरूप—

अग्नीषोमात्मिका तात्त्विक–वेदचतुष्टयी के क्योंकि ११३१ विभाग हैं, अतएव तत्प्रतिपादिका शब्द–वेदचतुष्टयी के भी इतनें हीं शाखाविभाग वेदद्रष्टा महर्षियों की ओर से व्यवस्थित हुए हैं। तात्त्विकवेद में, एवं तत्प्रतिपादिक शब्दवेद में कैसी समानता है, यह शब्दवेद के उपक्रमों से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। अग्नित्रयी (अग्नि–वायु–आदित्य) ही तात्त्विक–वेदत्रयी (ऋक्–यजुः–साम) है। तीनों अग्निवेद क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, लोकों में प्रतिष्ठित हैं। ऋङ्मूर्त्ति पार्थिव अग्नि अस्मदादि पार्थिव प्राणियों के लिए समीप है, सामने रक्खा है। अतएव इसे हम '**पुरोधा**' कह सकते हैं। अपिच यही पार्थिव अग्नि गायत्रीरूप में परिणत होकर तृतीय द्युलोकस्थ सोम का अपहरण करता है। साथ ही गायत्रीरूपात्मक इस पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि के सामातिमान से दिव्य सौर सावित्राग्नि का पार्थिव प्रजा के शारीर–पार्थिव अग्नि में ग्रन्थिबन्धन होता है, अतएव इसे 'होता' कहा जा सकता है। द्युलोकस्थ दिव्याग्नि का आह्वान करने के कारण यह पार्थिव अग्नि होता है। पार्थिव ऋगग्नि पार्थिवप्रजा के पुरः (सम्मुख–समीप) हित (प्रतिष्ठित) है। शब्दात्मिका ऋग्वेद–संहिता इसी पार्थिव पुरोहित ऋगग्नि की प्रतिकृति है, अतएव इसका उपक्रम निम्नलिखित मन्त्र से हुआ है—

ऋग्वेदोपक्रमः—**"अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्"**
(ऋक्सं० १।१।१)।

अग्नि की दूसरी अवस्था वायु है, यही वायव्याग्नि यजुःपुरुषाग्नि है। ऋगग्नि जहाँ अर्थशक्ति का प्रवर्त्तक बनता हुआ पुरोहित है, रत्नधातम है, वहाँ यजुरग्नि अपने वायव्यधर्म्म से क्रियाशक्ति का प्रवर्त्तक बनता हुआ व्रतपति बन रहा है। किसी भी कर्म्म (क्रिया) में अनन्यभाव से प्रतिष्ठित रहना 'व्रत' है। इस व्रत का अध्यक्ष एकमात्र प्राणवायुप्रधान शारीर यजुरग्नि ही है। शब्दात्मिका यजुर्वेदसंहिता इसी आन्तरीक्ष्य व्रतपति यजुरग्नि की प्रतिकृति है, अतएव इसका उपक्रम निम्नलिखित मन्त्र से हुआ है—

यजुर्वेदोपक्रमः—**"अग्ने ! व्रतपते ! व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि"** (यजुः सं० १।४।)।

उपलब्ध होने वाली माध्यन्धिनीया यजुर्वेदसंहिता का उपक्रम यद्यपि '**इषे त्वोर्जेत्वा वायवस्थ देवः०**' (यजुः सं० १।१।) इस मन्त्र से हुआ है। तथापि एक विशेष कारण से इसे उपक्रम न मानते हुए '**अग्ने व्रतपते०**' इत्यादि चतुर्थमन्त्र को ही हम इस संहिता का उपक्रम मन्त्र मानते हैं। 'इषे त्वा०' से आरम्भ कर '**ऊर्जं बहन्ती०**' (२।३४) इस मन्त्र पर्य्यन्त दो अध्यायों में दर्शपूर्णमासेष्टि का निरूपण हुआ है। दर्शेष्टि में इन्द्र के लिए '**सान्नाय्य**' (दधि) द्रव्य सम्पन्न किया जाता है। इष्टिदिन से प्रथम दिन सान्नाय्य सम्पादन के लिए गोदोहन कर्म्म होता है। "**इषे त्वोर्जे त्वा०**" (१।१)–"वसोः पवित्रमसि" (१।२।)–"**वसोः पवित्रमसि**" (१।३) इन तीन मन्त्रों से गोदोहन कर दुग्ध से सान्नाय्यकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जात है। जब तीनों मन्त्रों के विनियोग से पहिले दिन सान्नाय्यद्रव्य सम्पन्न हो जाता है, तो दूसरे दिन इष्टिकर्म्म के लिए '**अग्ने व्रतपते०**' (१।४) इत्यादि मन्त्र बोलते हुए अग्नि (यजुरग्नि) की साक्षी में 'व्रतग्रहण' कर्म्म

किया जाता है। यही कर्म्मारम्भोपक्रम–मन्त्र है। इस दृष्टि से यजुःसंहिता का उपक्रम 'अग्ने क्रतपते०' इत्यादि मन्त्र ही बनता है। ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध 'शतपथब्राह्मण' इसी यजुःसंहिता का व्याख्याग्रन्थ है। क्योंकि संहिता का वैज्ञानिक उपक्रम 'अग्ने व्रतपते०' यह मन्त्र है। अतएव परमवैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य के इस ब्राह्मण का उपक्रम भी–'व्रतमुपैष्यन्नन्तरेणाहवनीयञ्च गार्हपत्यञ्च प्राङ् तिष्ठन्०' (शत० १।१।१।१।) इत्यादि रूप से ही हुआ है। शतपथ ने 'अग्ने व्रतपते० को उपक्रम मानते हुए इसी को आरम्भ मन्त्र माना है। इन्हीं सब प्रत्यक्ष निदर्शनों से हमनें 'अग्ने व्रतपते०' को ही यजुःसंहिता का उपक्रम मन्त्र माना है।

अग्नि की तृतीयावस्था आदित्य है, यही आदित्य सामवेद है। आदित्यात्मक सामवेद ज्ञानशक्तिप्रधान बनता हुआ भोक्ता है। अपनी इसी 'आददान' वृत्ति से सामात्मक दिव्य प्राणाग्नि 'आदित्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'अर्थ–क्रिया–ज्ञान' तीनों में अर्थ भोग्य (अन्न) बनता है, क्रिया भोगसाधन बनती है, ज्ञान भोक्ता बनता है। इसीलिए ज्ञानप्रधान इस आदित्यात्मक सामाग्नि को 'भोक्ता' कह सकते हैं। यह सामाग्नि तृतीय–लोक में (द्यु लोक में) उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्करूप से अन्नादान के लिए पृथिवी में आता है। पार्थिव अग्निवत् यह हमारे पुरः हित नहीं है, अपितु विदूर है। जो दूर होता है, उसे ही बुलाया जाता है। अतएव इस सामाग्नि के लिए–'अग्न आयाहि वीतये' हे अग्ने ! आप अन्नभोगार्थ (यहाँ–पृथिवी पर) पधारिए !, यह कहना अन्वर्थ बनता है। शब्दात्मिका सामसंहिता इसी तत्त्ववेद की प्रतिकृति है, अतएव निम्नलिखित मन्त्र से ही इस संहिता का उपक्रम हुआ है—

सामवेदोपक्रमः—"अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि"।
(सामसं० १।१।)।

अग्नि, वायु, आदित्य ही ऋक्–यजुः–साम हैं, तीनों एक ही अग्नि के तीन विवर्त्त हैं। वेदत्रयी के अग्निप्रधान तीनों उपक्रममन्त्र इसी अग्नित्रयी–रूपा वेदत्रयी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

*सोमात्मक अथर्वतत्त्व 'ब्रह्मवेद' नामक चतुर्थ वेद है। "सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्" इस तैत्तिरीय सिद्धान्त के अनुसार अथर्वब्रह्म ही अपने अन्नधर्म्म से अन्नादलक्षणा वेदत्रयी की प्रतिष्ठा बन रहा है। 'यदपस्पृधेथां, त्रेधा सहस्र' वितदैरयेथाम्' इत्यादि श्रुति के अनुसार अप्तत्त्वलक्षण अथर्वब्रह्म के आधार पर ही त्रयीवेदसाहस्री का वितान हुआ है। 'अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः' (गोपथ) इत्यादि अथर्वब्राह्मण के अनुसार भृग्वङ्गिरोमय अब्मूर्त्ति अथर्वब्रह्म के गर्भ में ही त्रयीवेद प्रतिष्ठित है। इन्हीं सब कारणों से इसे सर्ववेदमूर्त्ति कहा जा सकता है। इसी आधार पर अथर्वमन्त्र सर्वसाधक मानें गए हैं।÷

*** "आप इत्येवं ब्रह्मभूतसंज्ञकेऽद्वितीये प्रतिष्ठिते"। (महा० शा० मो० ३४२ अ० ४।)।**

÷ न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो न च चन्द्रमाः।
अथर्व्वमन्त्रसम्प्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति॥ (प० २।४।)।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, तीन लोक हैं। तीनों के क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य, तीन अतिष्ठावा देवता हैं। तीनों अतिष्ठावा देवता क्रमशः ऋक्–यजुः–साममय हैं। पार्थिव सम्वत्सरमण्डल इसप्रकार तीन पर्वों में विभक्त हैं। ये तीनों पर्व (त्रिपर्वात्मक सम्वत्सरप्रजापति) सप्त–ऋषि, सप्त–ग्रह, सप्त–मरुद्गण, सप्त–देवलोक, इत्यादि सप्त–विभूतियों से युक्त रहते हुए–'त्रिषप्ताः' बन रहे हैं। अथवा A"आरोग, भ्राज, पटर, पतङ्ग, स्वर्णर, ज्योतिषीमान्, विभास" ये सात दिशाएँ, "B मित्र, वरुण, धाता, अर्य्यमा, अंशु, भग, इन्द्र, विवस्वान्" ये सात आदित्य, सप्त होता, इस दृष्टि से भी ये सम्वत्सर पर्व 'त्रिषप्ताः' बन रहे हैं। अथवा क्षीरोदकादि Cसप्तसमुद्र, भूरादि सप्तलोक, सप्तदिशा भेद से भी सम्वत्सर 'त्रिषप्ताः' बन रहा है। अथवा Dद्वादशमास, पाँच ऋतु, तीन लोक, आदित्य, भेद से सम्वत्सर के २१ पर्व हैं, एवं इस दृष्टि से भी सम्वत्सर 'त्रिषप्ताः' बन रहा है। आध्यात्मिक दृष्टि से शरीरारम्भक पञ्च महाभूत, प्राणादि पञ्चप्राण, पञ्चज्ञानेन्द्रियवर्ग, पञ्चकर्म्मेन्द्रियवर्ग, सर्वेन्द्रिय मनोरूप से भी सम्वत्सर 'त्रिषप्ताः' बन रहा है।

उक्त त्रिषप्त विवर्त्तात्मक, वेदत्रयीरूप सम्वत्सरप्रजापति वाङ्मय है। त्रैलोक्य सृष्टि का निर्म्माण, एवं धारण इसी वाग्विवर्त्त पर अवलम्बित है। सम्पूर्णरूप इसी प्रजापति पर प्रतिष्ठित हैं। यह सर्वाधिष्ठाता वाङ्मूर्त्ति प्रजापति 'वाचस्पति' पर प्रतिष्ठित है, जिस वाचस्पति को हम 'अथर्वब्रह्म' कहेंगे। आम्भृणीवाक् का अधिपति यही आपोमय अथर्वब्रह्म है। यही अप्तत्त्व वेदत्रयीमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति में बलाधान करता है। इसी की आहुति से ये अन्नादप्राण बलवान् बनते हैं, यही इनका शरीरनिर्म्माता है। शब्दात्मिका अथर्वसंहिता वाचस्पति नामक, देवबलप्रवर्त्तक, शरीरभावसम्पादक, त्रिःसप्तभावानुयोगिक, इसी अथर्वब्रह्म की प्रतिकृति है। इसी अथर्वरहस्य को सूचित करने के लिए इस संहिता का उपक्रम निम्नलिखित मन्त्र से हुआ है—

अथर्ववेदोपक्रमः—"ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।"।

(अथर्व सं० १।१।)।

A–"आरोगो, भ्राजः, पटरः, पतङ्गः, स्वर्णरो, ज्योतिषीमान्, विभासः"।
(तै० ब्रा० १।७।१)

B–"सप्तदिशो नाना सूर्य्याः, सप्त होतारः, ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त"।
(ऋक्० सं० ६।११४।३।)।

C–"यः सप्त सिन्धून् अदधात् पृथिव्याम्। यः सप्तलोकानकृणोद्, दिशश्च"।
(तै० ब्रा० ८।८।३।८)।

D–"द्वादश मासाः, पञ्चर्त्तवः, त्रय इमे लोकाः, असावादित्य एकविंशः"।
(तै० सं० ७।३।१०।५)

१६–विषयसन्दर्भसमन्वय—

प्रकरणारम्भ से अब तक वेदशाखाओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उस के आधार पर शास्त्रवेद, एवं तत्त्ववेद का समतुलन करते हुए हमें निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है—

१—आधिदैविक (प्राकृतिक) अग्नित्रयी-विवर्त्त तात्त्विक वेदमयी है, एवं सोमद्वयी-विवर्त्त अथर्ववेद है। वेदत्रयी अग्निमय बनती हुई अन्नादात्मिका है, अथर्व सोममय बनता हुआ अन्नात्मक है। अन्नात्मिका अथर्वाहुति से ही त्रयी वेद का विकास हुआ है।

२—घनाग्निलक्षण अग्निमय ऋक्तत्त्व की सोमाहुति के प्रभाव से २१ स्तोमपर्वों में व्याप्ति है, ये ही तात्त्विक ऋक् की २१ शाखा हैं। तरलाग्निलक्षण वायुमय यजुः की चिति-सम्बन्ध से १०१ अवस्था हो जातीं हैं, ये ही तात्त्विक यजुः की १०१ शाखा हैं। विरलाग्निलक्षण आदित्यमय साम के मण्डल सम्बन्ध से १००० पर्व हैं, ये ही तात्त्विक साम की १००० शाखा हैं। सोमात्मक अथर्व के ऋणसम्बन्ध से ६ पर्व हैं, ये ही तात्त्विक अथर्व की ६ शाखा हैं।

३—ऋक्[१]-यजुः[२]-साम[३]-अथर्व[४], चारों क्रमशः क्रिया-ज्ञान-गर्भित अर्थप्रधान[१], अर्थ-ज्ञान गर्भित-क्रियाप्रधान[२], अर्थ-क्रिया-गर्भित ज्ञानप्रधान[३], ज्ञानक्रियार्थमय[४], बनते हुए ज्ञानक्रियार्थ तीनों भावों से युक्त हैं। ज्ञानभाव तात्त्विक उपनिषत् है, क्रियाभाव तात्त्विक आरण्यक है, अर्थभाव तात्त्विक ब्राह्मण है। चारों तात्त्विक मूलवेदों के जितनें पर्व हैं, तीनों तात्त्विक मूलवेदों के भी उतनें ही पर्व हैं। सब पर्वों के संकलन से तत्त्वात्मक, मन्त्रब्राह्मणलक्षण, इस अपौरुषेय नित्य वेद के ४५२४ पर्व हो जाते हैं।

४—शब्दात्मक, पौरुषेय, मन्त्रब्राह्मणरूप अनित्यवेद निरूपक है। तत्त्वात्मक, अपौरुषेय, मन्त्र-ब्राह्मणरूप, आधिदैविक नित्यवेद निरूप्यवेद है। निरूप्यवेद के क्योंकि ४५२४ पर्व हैं, अतएव निरूपक शब्दवेद के भी इतनें हीं शाखाविभाग किए गए हैं। "गुरुशिष्याध्ययन-सम्प्रदायभेद से शब्दवेद के शाखाविभाग हो गए हैं" इस कथन का तात्त्विक वेदस्वरूप से परिचय रखनें वाले वैज्ञानिकों की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है।

इसी सिंहावलोकन के सम्बन्ध में शब्दवेदभक्तों को यह स्मरण रखना चाहिए कि, यदि शब्दवेद के शाखाविभागों का एकमात्र कारण सम्प्रदायभेद ही रहा होता, तो पदार्थस्वरूपनिरूपक 'सहस्र' शब्द की व्याख्या में प्रयुक्त श्रुति के—'किं तत् सहस्रमिति ?, इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्" इस कथन का कोई तात्पर्य्य न होता। "*अप्तत्त्व पर इन्द्रा-विष्णू की स्पर्द्धा हुई, इस स्पर्द्धा से तीन साहस्रियाँ

---

*–१–उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्॥
२–सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक्॥

उत्पन्न हुईं, वे ही तीन साहस्रियाँ क्रमशः लोक, वेद, वाक् (वषट्कार) नाम से व्यवहृत हुईं" यह श्रौत-सिद्धान्त विस्पष्ट शब्दों में प्राणात्मिका, गौरूपा, एक सहस्ररश्मियों के आधार पर वेदसाहस्री का वितान बतलाता हुआ वेदशाखाविभाग की मौलिकता का ही समर्थन कर रहा है।

इसी सम्बन्ध में हम महाभारत के उस वचन की ओर भी अपने विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जिसने ऋग्वेद के २१ सहस्र पर्व मानें हैं। वचन का स्वरूप निम्नलिखित है—

एकविंशतिसाहस्रं ऋग्वेदं मां प्रचक्षते।
सहस्रशाखं यत् साम ये वै वेदविदो जनाः ॥ (म०शा०मो०३४२ अ०६७ श्लो०)

वचन का तात्पर्य्य यही है कि, आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु ऋङ्मय हैं, एवं इस ऋक् के २१ सहस्रपर्व हैं। ये ही विष्णु साममय हैं, एवं साम के एकसहस्र पर्व हैं। तात्त्विकवेद का परिज्ञाता इसका समाधान यह करेगा कि, विष्कम्भभावात्मिका ऋक् से चारों ओर सहस्र सहस्र प्राणों का वितान होता है, जैसाकि-**'सहस्रधा महिमान. सहस्रम्'** इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। ऋगग्नि व्यासलक्षण है। इस ऋगग्नि के २१ उक्थपर्व हैं, प्रत्येक उक्थपर्व से एक एक सहस्र अर्कपर्वों का वितान हुआ है। इसप्रकार **'एकविंशतिधा बाहृच्यम्'** का **'एकविंशतिसहस्रधा बाहृच्यम्'** इस वाक्य पर भी पर्य्यवसान माना जा सकता है। परन्तु जो वेदभक्त शब्दात्मक वेद पर ही वेदसीमा समाप्त किए बैठे हैं, वे न तो अपने **'एकविंशतिधा बाहृच्यम्'** सिद्धान्त को ही सुरक्षित रख सकते, एवं न उनके कोश में **'एकविंशतिसाहस्रं ऋग्वेदं मां प्रचक्षते'** इस भारत वचन के समन्वय का ही कोई उपाय बच रहता *।

१७-शून्य, एवं पूर्णभाव—

अब यह सर्वात्मना सिद्ध हो चुका है कि, शब्दात्मिका वेदशाखाओं का मूलकारण अग्नीषोमात्मक वेदतत्त्व का शाखाविभाग ही है। अग्नि-सोमविकास तत्त्वात्मक वेदशाखाविभाग का कारण है, एवं निरूप्य वेदशाखा-विभाग निरूपक शब्दवेदशाखाविभाग का कारण है। तत्त्वात्मक वेदशाखानुबन्धी जिस अग्नी-सोम विकास का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वह अभी अपूर्ण है। अथवा विभिन्न दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाला है। अतएव आवश्यक है कि, अग्नि-सोम विकास का तात्त्विक स्वरूप संक्षेप से पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर किया जाय, एवं इस लक्ष्यसिद्धि के लिए सर्वप्रथम 'शून्य-पूर्ण' भावों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया जाय।

"शून्यमन्यत्-स्थानं,-पूर्णमन्यत्-स्थानम्" इस विज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार अमृतमृत्युमय, रस-बलात्मक, सदसल्लक्षण, अनिरुक्तनिरुक्तकृतमूर्त्ति, विद्याकर्म्मानुगत, सृष्टिसाक्षी प्रजापति का 'शून्य' एक पृथक्

---

* एकवार एक मान्य विद्वान् के सम्मुख हमनें यह विप्रतिपत्ति उपस्थित की थी। आपने इसका उत्तर दिया कि—'एकविंशतिसहितं साहस्रम्' इति विग्रहः करणीयः। 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' इति पूर्ववाक्यतः-'सहस्रवर्त्मा' इत्यनुवर्त्य 'एकविंशतिधा' इत्यत्र 'एकविंशतिं दधाति' इत्यर्थस्वीकारेण-'एकविंशत्यधिकसहस्रवर्त्मा' इत्येवार्थकरणेनैकवाक्यता'। उत्तर कहाँ तक तथ्यपूर्ण है ?, यह भार नीरक्षीरविवेकियों पर ही छोड़ा जाता है।

स्थान माना गया है, एवं पूर्ण एक पृथक् स्थान माना गया है। वैज्ञानिकों का कहना है कि, प्रजापति ने अपने शून्य-पूर्णभावों के समन्वय से ही प्रजोत्पत्ति की है। अतएव सृष्टि का प्रज्ञात्मक प्रत्येक पदार्थ शून्य, पूर्ण, दोनों भावों से युक्त है।

प्रजाध्यक्ष प्रजापति की वे शून्य-पूर्ण विभूतियाँ 'ऋत-सत्य' नामों से प्रसिद्ध हैं। **'ऋतं शून्यम्'** है, **'सत्यं पूर्णम्'** हैं। दोनों **'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'** (यजुःसंहिता) के अनुसार प्रजापति के तप से (मनःप्राणवाङ्मय काम-तपः-श्रमसे) उत्पन्न हुए हैं। दूसरे शब्दों में पुरुषप्रजापति (सप्तपुरुषपुरुषात्ममक, असत्प्राणमूर्त्ति, स्वयम्भू प्रजापति) का ही आधा भाग सत्य बना है, एवं आधाभाग ऋत बना है। शून्यात्मक ऋतभाव से, एवं पूर्णात्मक सत्यभाव से ही त्रैलोक्य, एवं तत्रस्थ प्रजाका विकास हुआ है। **'अहृदयमशरीरं ऋतम्'-'सहृदयं सशरीरं सत्यम्'** ही ऋत-सत्य के वैज्ञानिक लक्षण हैं, जैसाकि अन्यत्र गीताभूमिकादि में विस्तार से निरूपित है।

१८-अप्तत्त्व का पञ्चधा विकास—

शून्य-पूर्णात्मक ये ऋत-सत्यभाव वे ही आप के सुपरिचित अग्नि, और सोम (आपः) हैं। अग्नि-सत्य है, यह अपने अन्नादभाव से पूर्ण है। अप्तत्त्व ऋत है, यह अपने अन्नभाव से शून्य है। शून्य-ऋत-अप्तत्त्व पूर्णता का प्रवर्त्तक है, पूर्ण-सत्य-अग्नितत्त्व शून्य का प्रवर्त्तक है। अप्तत्त्व ही केन्द्र में जाकर पिण्डभाव में परिणत होता हुआ सत्याग्नि बन जाता है, केन्द्रस्थ अग्नि ही विकास की चरसीमा पर पहुँच कर ऋतापः बनजाता है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी आधार पर हम शून्य (आपः) को पूर्ण (अग्नि) का, एवं पूर्ण को शून्य का प्रवर्त्तक मानते हैं। अतएव च-**'यद्वै-न्यूनं, तत्पूर्णं, यत्पूर्णं तन्न्यूनम्'** यह लोकसिद्ध आभाणक अन्वर्थ बनता है।

पूरी संख्या अधूरी है, अधूरी संख्या पूरी है। भूमा का नाम पूर्णता है, अल्पता का नाम अपूर्णता है। १०-२०-४०-५०-१००-१०००-इत्यादि पूर्ण संख्याओं में विरामभाव का समामेश है, आगे विकास का अभाव है, समृद्धिलक्षणा पूर्णता का अवरोध है। यही अल्पता है, एवं यही इन पूर्ण संख्याओं की अपूर्णता है। ११-२१-५१-१०१-१००१-इत्यादि अपूर्ण संख्याओं में आगे विकास का समावेश है, समृद्धिलक्षणा पूर्णता प्रक्रान्त है, यही इन की पूर्णता है। यही कारण है कि, दानधर्म्म में दानद्रव्य की संख्या सदा अपूर्ण ही रक्खी जाती है। केवल निधनकर्म्म (श्राद्धकर्म्म) में पूर्ण दक्षिणा का विधान हुआ है।

इस शून्य-पूर्णविवेचन से प्रकृत में केवल यही वक्तव्य है कि, पूर्णलक्षण सत्याग्नि के विकास की मूलप्रतिष्ठा शून्यलक्ष ऋत आपः ही बनते हैं। अब् गर्भ में प्रविष्ट सत्याग्नि ही विकसित होता है। उदाहरण के लिए शारीराग्नि-विकास को ही लीजिए। **'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'** इस छन्दोग सिद्धान्त के अनुसार ऋयात्मक आपः ही हमारे पाञ्चभौतिक शरीर के आरम्भक बनते हैं। अप्गर्भ में ही शारीर-अग्नि की चिति होती है, इसी अग्निचिति से शरीरयष्टि का वितानलक्षण विकास होता है। दैनिक शारीराग्नि-यज्ञ में भी अब्-लक्षणा अन्नाहुति ही अग्निविकास का कारण बन रही है। स्नान से शारीराग्नि प्रदीप्त हो जाता है, यह सार्वजनीन है। सृष्टिचक्र में इसी आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में अग्नितत्त्व बीजरूप से प्रकट होता हुआ अन्तमें सौर-संस्थारूप से विकसित होता है।

जिस प्रकार अप्तत्त्व के गर्भ में प्रतिष्ठित अग्नि विकसित होता है, एवमेव इस गर्भाग्नि के सम्बन्ध से परिश्रितरूप स्वयं अप्तत्त्व का भी विकास होता है। अप्तत्त्व स्वस्वरूपसे स्नेहगुणकबनता हुआ यद्यपि संकोचधर्म्मा है, तथापि गर्भस्थ, तेजोगुणक, अतएव विकासधर्म्मा अग्नि के सहयोग से इस आपः को भी विकासावस्था में आना पड़ता है। इसप्रकार गर्भस्थ अग्नि के सम्बन्ध से विकासभाव में आने वाले ये आपः ६ भागों में विभक्त हो जाते हैं। तत्त्वतः अप्तत्त्व का ६ प्रकार से विकास होता है।

मान लीजिए, अभी अप्तत्त्व का विकास नहीं हुआ, अभी वह अपने स्वाभाविक ऋतलक्षण शून्यभाव में परिणत है। अग्नि इस के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। फलतः इस में विकासक्रिया का आरम्भ हुआ। इस विकासक्रिया से ही **'वायु[1]:, सोम[2]:, अग्नि[3]:, यम[4]:, आदित्य[5]:'** इन पाँच रूपों का विकास हुआ, जिन्हें हम अग्निगर्भ के सम्बन्ध से ऋत आपः के सत्यरूप कह सकते हैं। इसप्रकार एक ही आपः-**'आपः-वायुः-सोमः-अग्निः-यमः-आदित्यः'** इन ६ भावों में परिणत होकर **'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्'** इस गोपथश्रुति को चरितार्थ कर रहा है। आपः-वायुः-सोम-समष्टि भृगुलक्षण आपः हैं, ये द्युलोक से मेदिनी पृष्ठ की ओर बरसते हैं। अग्निः-यमः-आदित्य-समष्टि अङ्गिरालक्षण आपः हैं, एवं ये मेदिनीपृष्ठ से द्युलोक की ओर बरसते हैं। जिसप्रकार पृथिवी पर वृष्टि होती है, एवमेव पृथिवी से द्युलोक में भी वृष्टि होती है। इस समानवर्षण के आधार बनते हैं गौरूप-अहर्गण। द्युलोक से पर्जन्य-वायु के द्वारा भार्गव पानी बरसता है, पृथिवी से आग्नेय वायु के द्वारा अङ्गिरापानी बरसता है। इसी वृष्टिविज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

> **समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।**
> **भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥**
>
> —ऋक्संहिता

उक्त ६ अवस्थाओं के सम्बन्ध से ही इस आपोमय अथर्वब्रह्म को **'षड्ब्रह्म'** कहा गया है (देखिए ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य)। यही षड्ब्रह्म द्विब्रह्म (यत्-जूलक्षण यजुर्ब्रह्म) का स्वेद (पानी) होने से **'स्वेद'** नाम से प्रसिद्ध है, जो कि परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्ष भाषा में 'सुवेद' नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी को गोपथ ने **'सुब्रह्म'** कहा है-गो० ब्रा० १।१।१। सुब्रह्म से ही **'सुब्रह्मण्या'** वाक् का विकास हुआ है, जिसका यज्ञविशेषों में **'सुब्रह्मण्योम्'** इत्यादि रूप से प्रयोग हुआ करता है। आपोमयी सुब्रह्मण्या वाक की प्रतिष्ठारूप यह आपोमय सुब्रह्मतत्त्व अपने 'आपः' रूप से शून्यस्थान बन रहा है, ऐवं शेष पाँच रूपों से पूर्णस्थान बन रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्—

१— (१)—आपः——विकासात् पूर्वरूपम्— शून्यस्थानम् (ऋतम्)
२—१ (२)—वायुः——प्रथमो विकासः— पूर्णं स्थानम् (सत्यम्)

३—२ (३)—सोमः	द्वितीयो विकासः—	पूर्णं स्थानम्। (सत्यम्)
४—३ (१)—अग्निः	तृतीयो विकासः—	पूर्णं स्थानम्। („)
५—४ (२)—यमः	चतुर्थो विकासः—	पूर्णं स्थानम्। („)
६—५ (३)—आदित्यः	पञ्चमो विकासः—	पूर्णं स्थानम्। („)

१६–अपूत्तत्त्व का चतुर्द्धा विकास—

उक्त विकासक्रम का दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। जिस बिन्दु से विकास का आरम्भ होता है, वह बिन्दु उत्तरभावी विकास का शून्यरूप है। इसी शून्यभाव के कारण इस पूर्णरूप को हम ऋत लक्षण 'अरूप-रूप' कहेंगे। इस अरूपात्मक शून्यरूप का नाम 'आपः' है। इस शून्यरूप से जो पहिला विकास हुआ है, वही 'वायु' है। वायुलक्षण इस प्रथम विकास में विकास की एक मात्रा (१) का समावेश है। एकमात्रिक वायुविकास का द्वितीय विकास 'सोम' है। इस में विकास की दो (२) मात्रा हैं। 'आपः–वायुः–सोमः', इन तीन स्थानों में तो अप् का अप्त्व सुरक्षित रहता है। जब द्विमात्रिक सोम का तृतीय विकास होता है, तो यह आपः अङ्गिरा–रूप में परिणत हो जाता है, जो कि अङ्गिराभाव अपूतत्त्वापेक्षया सर्वथा अपूर्व धर्म्म है। अपूतत्त्व की आपः, वायु, सोम, ये तीनों अवस्था स्नेहधर्म्म से युक्त थीं, अङ्गिरात्रयी तेजोधर्म्म से युक्त हैं। इसी धर्म्मवैषम्य से गतिवैषम्य उत्पन्न हो जाता है। भृगुत्रयी जहाँ आगतिधर्म्मरूपा है, वहाँ अङ्गिरा-त्रयी गतिधर्म्मावच्छिन्ना बन जाती है। साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि, तृतीय विकास में आपो लक्षण सोम अङ्गिरारूप में तो परिणत हो जाता है, परन्तु अन्तर्य्यामसम्बन्ध से सम्बद्ध अपने 'अप्त्व' का परि-त्याग नहीं करता है। इसीलिए तो अप् का भृगुवत् अङ्गिरा के साथ भी सम्बन्ध माना गया है। तीनों भृगु, एवं तीनों अङ्गिरा, छओं 'आपः' हैं। अपूत्तत्व के ही भृगु, अङ्गिरा भेद से दो श्रेणि–विभाग हैं।

भृगुत्रयी का जो तीसरा सोम भाग है, उसकी, एवं अङ्गिरात्रयी में जो पहिला अग्निभाग है, उसकी, इन दोनों की समान विकासमात्रा है। द्विमात्रिक ही सोम है, द्विमात्रिक ही अग्नि है। इस प्रकार 'सोम-अग्नि' दोनों की * समानमात्रा से विकास की चार संस्था ही रह जातीं हैं। यम तृतीय विकास है, आदित्य चतुर्थ विकास है। इस 'वायु[१], अग्निषोमौ[२], यम[३], आदित्य[४]' भेद से अपूतत्व के पूर्वोक्त पञ्चधा विकास का चतुर्द्धा विकास पर ही विश्राम हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

* इसी समानविकासमात्रा से अग्नि–सोम को 'सखा' माना गया है, जैसा कि—'तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः' इत्यादि रूप से पूर्व प्रकरण में विस्तार से बताया जा चुका है।

आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्—

१— ❀—आपः—अरूपंरूपं शून्यस्थानम् (विकासाभावः)।
२— १—वायुः—विकासजन्यं प्रथमं रूपम् (विकासस्यैका मात्रा)।
३—, ४— } २—अग्नीषोमौ—विकासस्य द्वितीयं रूपम् (विकासस्य द्वे द्वे मात्रे)।
५— ३—यमः—विकासस्य तृतीयं रूपम् (विकासस्य तिस्रो मात्राः)।
६— ४—आदित्यः—विकासस्य चतुर्थं रूपम् (विकासस्य चतस्रो मात्राः)।

अपूतत्त्व के इन्हीं चार विकासस्थानों को इस वेदप्रकरण में क्रमशः—'एकं[१]—दशकं[२]—शतकं[३]—सहस्रम्[४]' इन नामों से व्यवहृत किया जायगा। विकासाभावरूप, अतएव अरूपात्मकरूप, अतएव च अस्थानात्मक स्थानलक्षण, अपूतत्त्व शून्यस्थान है, शून्यबिन्दु है। इसका एकमात्रिक प्रथम विकास ६ संख्याओं से युक्त है। इस प्रथमस्थानीय प्रथम विकास की मूलप्रतिष्ठा शून्यबिन्दु है, एवं चरम सीमा नवमी संख्या है। "०-१-२-३-४-५-६-७-८-९" यही इस प्रथम विकास का व्याप्तिस्थान है। (१)। प्रथम विकास की सूचिका १ संख्या है। इसको आधार मान कर उसी शून्य को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए द्वितीय विकास होता है, यही दशमस्थान है। द्विमात्रिक यह द्वितीय विकास ९९ संख्याओं से युक्त है। द्वितीय स्थानीय इस द्वितीय विकास की चरम सीमा नवनवति (निन्यानबी) संख्या है। "१०-११-२१-३१-४१-५१-६१-७१-८१-९१" यही इस द्वितीय विकास का व्याप्ति स्थान है। (२)।

द्वितीय विकास की सूचिका १० संख्या है। इस को आधार मान कर उसी शून्य को मूल प्रतिष्ठा बनाते हुए तृतीय विकास होता है, यही शाकस्थान है। त्रिमात्रिक यह तृतीय विकास ९९९ संख्याओं से युक्त है। तृतीयस्थानीय इस तृतीय विकास की चरमसीमा नौसो निनावीं संख्या है। "१००-१०१-१०२-१०४-१०५-१०६-१०७-१०८-१०९" यही इस तृतीय विकास का व्याप्तिस्थान है। तृतीय विकास की सूचिका १०० संख्या है। इस को आधार मान कर उसी शून्य को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए चतुर्थ विकास होता है, यही सहस्रस्थान है। चतुर्मात्रिक यह चतुर्थ विकास ९९९९ संख्याओं से युक्त है। चतुर्थस्थानीय इस चतुर्थ विकास की चरम सीमा नौहजार नौसौ निनानवीं संख्या है। "१०००-१००१-१००२-१००३-१००४-१००५-१००६-१००७-१००८-१०००" यही इस चतुर्थ विकास का व्याप्तिस्थान है। निष्कर्ष यही हुआ कि, शून्यस्थानीय ऋत आपः '१-१०-१००-१००९' भेद से चतुःस्थान बनता हुआ '९-९९-९९९-९९९९' इन चरम विकासभावों में परिणत होकर—चार संस्थाओं में विभक्त हो रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

चतुःसंस्थानपरिलेखः—

१–प्रथमं स्थानम् (१)–एकस्थानम् (१)–एकम्	२–द्वितीयं स्थानम् (२)–द्विस्थानम् (१०)–दशकम्	३–तृतीयं स्थानम् (३)–त्रिस्थानम् (१०००)–शतकम्	४–चतुर्थं स्थानम् (४)–चतुःस्थानम् (१०००)–सहस्रम्
०–०–(०)	१–०–(१०)	१०–०–(१००)	१००–०–(१०००)
०–१–(१)	१–१–(११)	१०–१–(१०१)	१००–१–(१००१)
०–२–(२)	२–१–(२१)	१०–२–(१०२)	१००–२–(१००२)
०–३–(३)	३–१–(३१)	१०–३–(१०३)	१००–३–(१००३)
०–४–(४)	४–१–(४१)	१०–४–(१०४)	१००–४–(१००४)
०–५–(५)	५–१–(५१)	१०–५–(१०५)	१००–५–(१००५)
०–६–(६)	६–१–(६१)	१०–६–(१०६)	१००–६–(१००६)
०–७–(७)	७–१–(७१)	१०–७–(१०७)	१००–७–(१००७)
०–८–(८)	८–१–(८१)	१०–८–(१०८)	१००–८–(१००८)
०–९–(९)	९–१–(९१)	१०–९–(१०९)	१००–९–(१००९)
९	९९	९९९	९९९९

२०–नवसंख्यावितान—

विकासानुबन्धी इन चारों संस्थानों के साथ 'नव' (९) संख्या का विशेष सम्बन्ध है। जिसप्रकार वैदिक 'अशीति' शब्द ८० संख्या का, एवं 'अन्न' का दोनों का सूचक माना गया है, एवमेव 'नव' शब्द ९ संख्या का, एवं 'नवीनता' का द्योतक माना गया है। '*नवो नवो भवति जायमानः०' इत्यादि मन्त्र

* "नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥

(ऋक्० सं० १०।८५।१९।)

में पठित नव शब्द इस 'नूतन' भाव का ही वाचक है। 'नव' शब्द ९ संख्या, तथा नूतनता का वाचक क्यों माना गया ?, इस प्रश्न का उत्तर भी इसी मन्त्रवर्णन से मिल रहा है। जायमान वस्तु कुछ समय पर्य्यन्त (अपने अपूर्वसत्ताभाव के धारण) नवीन कहलाती है, इसलिए तो जायमान को 'नव' (नवीन) कहना अन्वर्थ बनता है। एवं उत्पत्ति का कारणभूत तत्त्व नौ संख्या से युक्त रहता है, इसलिए जायमान को नव (९) संख्या युक्त कहना अन्वर्थ बनता है।

सम्पूर्ण विश्व महाकालावच्छिन्न अग्न्यात्मक, सम्वत्सरमूर्त्ति, विराट्प्रजापति का विवर्त्तभाव है। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' (यजुःसंहिता) इत्यादि श्रुति के अनुसार सहस्रपादस्थानीय एककल पार्थिव वैश्वानर अग्नि, सहस्राक्षस्थानीय अष्टकल आन्तरीक्ष्य हिरण्यगर्भ वायु, सहस्रशीर्षस्थानीय एककल दिव्य सर्वज्ञ इन्द्र की समष्टिरूप, दशकल, अतएव 'विराट्' नाम से प्रसिद्ध, त्रैलोक्यव्यापक प्रजापतिपुरुष ही प्रजोत्पत्ति का उपादान बनते हैं। महाकालपुरुष की महाशक्ति ही 'महाकाली' नाम से प्रसिद्ध है। महाकाल के क्योंकि १० पर्व है, अतएव महासृष्टिविद्यात्मिका इस महाकाली के भी काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, आदि १० पर्व मानें गए हैं, जिनका अन्यत्र विस्तार से निरूपण हुआ है *। इस प्रकार आधिदैविक सृष्टिक्रम में उत्पत्तिकारणभूत प्रजापति अग्नि-वायु-इन्द्रानुबन्धिनी १० कलाओं से दशकल बनते हुए पूर्ण बन रहे है। इस दृष्टि से पूर्ण संख्या का विश्राम यद्यपि १०संख्या पर माना जाना चाहिए था। किन्तु १० पर आगे भूमाभाव के विकास का अवरोध है, अतः ९संख्या पर ही पूर्णता मानी गई है। पूर्णसंख्या कभी अग्रभावी प्रजननकर्म्म का कारण नहीं बनती। "न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते"(शत०२।१।१।१३) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार न्यूनता ही प्रजोत्पत्ति का कारण है, एवं उत्तरोत्तर विकासानुरूप प्रदेशोपलब्धि से न्यूनभावात्मक यह न्यूनसंख्याक्रम ही पूर्णसंख्याक्रम है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी आधार पर हम १० संख्या को तो अपूर्ण कहते हैं, एवं ९ संख्या को पूर्ण कहते हैं।

ज्योतिष–परिभाषा के अनुसार शून्य (०) को पूर्ण कहा जाता है। इसी को वैदिकपरिभाषा में 'असत्' कहा गया है। सृष्टि व्यक्तभावात्मिका है, मूर्त्ता है, निरुक्ता है। इसका मूलकारण अव्यक्त है, अमूर्त है, अनिरुक्त है। अव्यक्तभाव के कारण ही उस सर्वमूल को 'असत्' कहा जाता है, जो कि असत् (शून्य)–A-"सदेवेदमग्रेऽसदासीत, कथमसतः सज्जायेत" के अनुसार वस्तुतः 'सत्' (पूर्ण) है। 'पूर्ण' का लक्षण है–'वृत्तौजाः'। सर्वतःपाणिपादादिशिरोमुखभाव ही वृत्तौजा है, यही पूर्णभाव है। वर्त्तुल पदार्थ के केन्द्र से निकलने वाली शक्ति का सर्वतः समानरूप से वितान होता है। जिसे हम 'शून्य' कहते हैं, वह भी इसी समान–शक्तिवितान से पूर्ण है। आगे के ९ भाव इसी शून्य नामक पूर्णात्मक बिन्दुभाव से विकसित हुए हैं। वह विकासभाव ही ९ संख्या के कारण 'नव' नाम से प्रसिद्ध है।

*–'कल्याण' मासिक के 'शक्त्यङ्क' में 'दशमहाविद्या' नाम से इस विषय का संक्षिप्त परिचय निकल चुका है।

A–'सदसत्' का विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' नामक खण्ड में देखना चाहिए।

संख्याविज्ञानक्रम में भी पहिले शून्य ० है, पीछे क्रमशः १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, संख्याओं का समावेश है। इसके अनन्तर शून्य को आगे कर पुनः १–२–३ आदि नौ संख्याओं का समावेश हुआ है। इस धारावाहिक क्रम से १९–२९–३९–४९–इसप्रकार ९–९ का ही उत्तरोत्तर वितान है। शून्यबिन्दु से आरम्भ कर परमपरार्ध्य संख्या पर्य्यन्त ९–९ का ही साम्राज्य है। शून्याधार पर वितत ९ संख्या की यही पूर्णता है, यही सर्वता है, यही कृत्स्नता है, यही नवीनता है, एवं **'नवो-नवो भवति जायमानः'** वाक्य इस नवसंख्याविज्ञान का ही स्पष्टीकरण कर रहा है। क्योंकि नवसंख्या शून्यप्रतिष्ठा के कारण पूर्ण है, अतएव ९ संख्या से सम्बद्ध संकलन का प्रत्येक पर्व ९ पर ही विश्रान्त है, जो कि समसंकलन अन्य संख्याओं में नहीं हैं। ९ के पहाड़े का प्रत्येक पर्व संकलन से आपको नवपर्वात्मक ही मिलेगा, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

०	०	०	० +	०
१	९	(९)	०.....	९
२	१+८	(१८)	१+८	९
३	२+७	(२७)	२+७	९
४	३+६	(३६)	३+६	९
५	४+५	(४५)	४+५	९
६	५+४	(५४)	५+४	९
७	६+३	(६३)	६+३	९
८	७+२	(७२)	७+२	९
९	८+१	(८१)	८+१	९
०	९+०	(९०)	९+०	९

नवो नवो भवति–जायमानः

०–असदात्मकः शून्यलक्षणः सद्रूपः पूर्णः प्रजापतिर्विराट्—०
०–सर्वज्ञमूर्त्तिः, इन्द्रप्राणात्मकः सहस्रशीर्षस्थानीयः, एककलः—१
०–हिरण्यगर्भमूर्त्तिः वाय्वात्मकः सहस्राक्षस्थानीयः, अष्टकलः—८
०–वैश्वानरमूर्त्तिः, अग्न्यात्मकः, सहस्रपात्स्थानीयः, एककलः——१

न्यूनविराट्–नवाक्षरः "नवो नवो भवति"

यह तो हुआ आधिदैविकसृष्टि–अनुबन्धी नवभाव। अब आध्यात्मिक दृष्टि से विचार कीजिए। शुक्र–शोणित के दाम्पत्यभाव से प्रजोत्पत्ति हुई है। शुक्र सौम्य है, शोणित आग्नेय है। आग्नेय शोणित ब्रह्मवेदमय है, सौम्य शुक्र सुब्रह्मवेदमय है। आपः ही सुब्रह्मवेद है। यही अथर्व है। भृगुत्रयी, अङ्गिरात्रयी से इसके ६ पर्व हैं। ऋक्, यत्, जू, साम, भेद से आग्नेय ब्रह्मवेद के ४ पर्व हैं। ६+४ के संकलन से शुक्र–शोणित का दाम्पत्यभाव विराट् बन रहा है। यही विराट्संख्या एकतः न्यूनभाव से प्रजोत्पत्ति का कारण बनती है। यही आध्यात्मिक प्रपञ्च का **'नवो नवो भवति जायमानः'** रहस्य है।

२१–शून्यबिन्दुवितान—

जिसे हम शून्य कहते हैं, वही सृष्टि का 'बीज' है। जिस प्रकार सुसूक्ष्म वृक्षबीज कालान्तर में महावृक्ष रूप में विकसित हो जाता है, एवमेव महाकाल–महाकाली के दाम्पत्यभाव से कृतरूप यही शून्यबीज महासृष्टि–विकास का कारण बना है। संख्याविज्ञानानुसार केवल शून्यबिन्दु ही परार्ध्य–संख्यापर्य्यन्त वितत हुई है। स्वयं शून्यबिन्दु ऋतब्रह्मलक्षण अपतत्त्व का वह पिण्डभाव है, जिसके गर्भ में अग्नि प्रतिष्ठित है। इसके विकास की चरम सीमा परार्ध्य संख्या मानी गई है। मूलपिण्ड शून्यबिन्दु है, परार्ध्यभाव इसी का वितान है। यद्यपि चतुःसंस्थानात्मक हमारे वेदशास्त्रप्रकरण में इस महाविकास का कोई उपयोग नहीं है। वैदिक विकास–क्रम सहस्रसंख्या पर ही विश्रान्त है। तथापि वेदानुबन्धी **"सहस्रं वै पूर्णम्"–"पूर्णं वै सहस्रम्"** इत्यादि वचनों के आधार पर जिन काल्पनिकों नें यह कल्पना कर डाली है कि, "वैदिक युग के ऋषि एक सहस्र संख्या से ही परिचित थे, उन्हें आगे संख्या न आती थी", इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए स्वयं वेद में ही प्रति–पादित संख्याविकास का स्वरूप प्रसङ्गतः उद्धृतः कर दिया जाता है। जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण में इन संख्या-विकासों का विस्पष्ट निरूपण हुआ है। विस्तारभिया इस विषय को तूलरूप न देते हुए वेदसम्मता संख्यातालिका, एवं तदनुगता लोकसम्मता संख्यातालिका ही यहाँ उद्धृत कर दी जाती है।

वेदसम्मतशून्यवितानपरिलेखः—

१	एकम्	१
२	दशम्	१ ०
३	शतम्	१ ० ०
४	सहस्रम्	१ ० ० ०
५	अयुतम्	१ ० ० ० ०
६	लक्षम्	१ ० ० ० ० ०
७	प्रयुतम्	१ ० ० ० ० ० ०
८	कोटिः	१ ० ० ० ० ० ० ०
९	अर्बुदम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ०
१०	शङ्खः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ०
११	खर्वम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१२	निखर्वम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१३	महापद्मम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१४	शङ्कुः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१५	समुद्रः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१६	अन्त्यम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१७	मध्यम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१८	परार्द्धम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
		० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०

मतान्तरेण वेदसम्मतशून्यवितानपरिलेखः—

१	एकम्	१
१	दशकम्	१ ०
३	शतकम्	१ ० ०
४	सहस्रम्	१ ० ० ०
५	अयुतम्	१ ० ० ० ०
६	लक्षम्	१ ० ० ० ० ०
७	प्रयुतम्	१ ० ० ० ० ० ०
८	कोटिः	१ ० ० ० ० ० ० ०
९	शङ्कुः	१ ० ० ० ० ० ० ० ०
१०	अर्बुदम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ०
११	न्यर्बुदम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१२	खर्वः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१३	निखर्वः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१४	समुद्रः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१५	महासमुद्रः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१६	पद्मम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१७	महापद्मम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१८	अन्त्यम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१९	परार्द्धम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
		० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०

लोकसम्मतशून्यवितानपरिलेखः—

१	एकाई	१
२	दहाई	१ ०
३	सैंकड़ा	१ ० ०
४	हजार	१ ० ० ०
५	दसहजार	१ ० ० ० ०
६	लाख	१ ० ० ० ० ०
७	दसलाख	१ ० ० ० ० ० ०
८	करोड़	१ ० ० ० ० ० ० ०
९	दसकरोड़	१ ० ० ० ० ० ० ० ०
१०	अरब	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ०
११	दसअरब	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१२	खरब	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१३	दसखरब	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१४	नील	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१५	दसनील	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१६	पद्म	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१७	दसपद्म	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१८	संख	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१९	दससंख	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
		० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०

२२-वेदानुबन्धी-बिन्दुवितान—

यह कहा जा चुका है कि, पूर्णलक्षण शून्यबिन्दु का तात्त्विकरूप अब्गर्भित अग्नि से सम्बन्ध रखता है। अब्गर्भित अग्निलक्षण शून्यबिन्दु का वितान ही अप्तत्त्व का वितान है। इस वितान की चरम सीमा यद्यपि 'परमपरार्द्ध' संख्या है, तथापि मनःप्राणगर्भित वाङ्मय वषट्कारमण्डल से सम्बद्ध 'वेदसाहस्री' की अपेक्षा से परार्द्ध संख्यात्मक १६ संस्थानों का ग्रहण न होकर '१–१०–१००–१०००' इन चार संस्थानों का ही ग्रहण किया जाता है। तात्त्विकवेदवितानानुबन्धी शून्यबिन्दुवितान सहस्र सहस्र संख्या पर ही समाप्त है। सहस्रसंख्यावितानात्मिका इस वेदसाहस्री का सहस्रांशु सूर्य्य को उदाहरण बना कर भलीभाँति स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

सूर्य्यबिम्ब अब्गर्भित सावित्राग्निमय पिण्ड है। **"अपां गर्भन्तसीद"** (ऋक् सं०)–**"या रोचने परस्तान् सूर्य्यस्य, याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः"** (ऋक् सं० ३।२२।३।) इत्यादि मन्त्र श्रुतियों के अनुसार सावित्राग्निघन सूर्य्य आपोमय पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित है। सौररश्मियों में अप्तत्त्व अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है। इसी अप्तत्त्व के समावेश से सौररश्मियाँ प्रदीप्त हैं। सौरमण्डल में जो ज्योतिर्भाव (प्रकाश) प्रतीत होता रहा है, वह इसी अबाहुति (सोमाहुति) की महिमा है। अप्तत्त्व ही इस सौर सावित्राग्नि का 'अन्न' है। अप्तत्त्व अवस्थाभेद से 'आपः–वायुः–सोमः' भेद से तीन भागों में विभक्त है। फलतः सौराग्नि के अन्न भी त्रिधा विभक्त हो जाते हैं। सूर्य्य मनःप्राणवाङ्मय है। मन ज्ञानशक्ति-युक्त है, प्राण क्रियाशक्तियुक्त है, एवं वाग्भाव अर्थशक्तियुक्त है। ज्ञानमय मन, क्रियामयप्राणगर्भित अर्थमय वाग्भाग ही सूर्य्यमूर्त्ति है। अबन्न से सूर्य्य में अर्थशक्ति का, वाय्वन्न से क्रियाशक्ति का, सोमान्न से (ज्ञानानुगत) ज्योतिर्भाव का उदय होता है। सूर्य्य में विकासलक्षण जो प्रकाश है, वह सोमान्न का अनुग्रह है। सौररश्मियों में 'प्राणदपानत्'–लक्षण जो क्रियाभाव है, वह वाय्वन्न का अनुग्रह है, एवं सौरसावित्राग्नि में जो अर्थोपादानता है, वह अबन्न का अनुग्रह है। रश्मिवितान ही प्रकाश का जनक है। यह रश्मिवितान सोमाहुति पर ही निर्भर है। अतः हम सोमाहुति को ही प्रकाश का प्रधान जनक मानते हैं। निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र सोमान्न के विविध कर्म्मों का ही स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—महत्तत् सोमो महिषश्चकार अपां यद् गर्भो अवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्र पवमान ओजोऽजनयत् सूर्य्ये ज्योतिरिन्दुः॥
(ऋक्सं० ६।६७।४१।)।

२—त्वमिमा ओषधीः सोम! विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वंगाः।
त्वमा ततोन्थोन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ॥
(ऋक् सं० १।६१।२२।)।

'आपः–वायुः–सोमः' इन तीन अन्नों से सूर्य्य के अग्नि–वायु–आदित्य, इन तीन शरीराङ्गों का आप्यायन होता रहता है। अबन्न अग्नि का, वाय्वन्न (शिववाय्वन्न) वायु (रुद्रवायु) का, एवं सोमान्न आदित्य का आप्यायन करता रहता है। अग्निवायुआदित्यमूर्त्ति सूर्य्य अब्वायुसोमात्मक आपःसमुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित होकर वेदवितान का प्रवर्त्तक बन रहा है। एकमात्र अब्विकास के आधार पर ही आपः–वायुः–

सोमः-अग्निः-वायुः-आदित्यः ये ६ पर्व प्रतिष्ठित हैं। ६ओं में आपः विकासाभावलक्षण शून्यबिन्दु है। वायुः एकमात्रिक प्रथम विकास है, यही 'एकम्' (१) है। सोम द्विमात्रिक द्वितीय विकास है, सोमसमतुलित अग्नि भी द्विमात्रिक द्वितीय विकास ही है। यही 'दशकम्' (१०) है। वायु त्रिमात्रिक तृतीय विकास है, यही 'शतकम्' (१००) है। एवं आदित्य चतुर्मात्रिक चतुर्थ विकास है, यही 'सहस्रम्' (१०००) है। यहीं वेदानुगत विकासभाव समाप्त है। इसप्रकार आपोमय सौरसंस्था में अप्तत्त्व के आधार पर विकास की चार संस्थाएँ प्रतिष्ठित हो रहीं हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

आपः—अग्निः—	{ अर्थः (वाक्)	{ मनःप्राणवाङ्मयो भृग्वङ्गिरोमूर्त्तिः सूर्य्यः
वायुः—वायुः—	{ क्रिया (प्राणः)	
सोमः—आदित्यः—	{ ज्योतिः (मनः)	
स्नेहः तेजः		
अन्नानि अन्नादाः		
भृगुः अङ्गिराः		

गर्भस्थाग्निवशादपां— पञ्चस्थानानि	आपः	आपः	आपः	आपः	आपः	अपां पञ्चस्थानानि
	•	१	२	३	४	विकासमात्राः
विकासरूपाणि	आपः १	वायुः २	सोमः ३	×	×	इति भृगवः स्नेहमयाः
विकासरूपाणि	×	×	अग्निः ३	वायुः ४	आदित्यः ५	इत्यङ्गिरसस्तेजोमयाः
विकासस्थानानि	•	१	१०	१००	१०००	गर्भस्थाग्निवशादपां
विकासक्रमः	विकासाभावः	प्रथमो विकासः	द्वितीयो विकासः	तृतीयो विकासः	चतुर्थो विकासः	विकासावस्थाश्च- तुर्विधाः

पाठकों को स्मरण होगा कि, वेदव्यूहन–प्रकार बतलाते हुए हमने 'दशगर्भं चरसे धापयन्ते' का स्पष्टीकरण किया था—(देखिए 'छन्दोवितानरसलक्षणावेदत्रयी' प्रकरणान्तर्गत—'अभिप्लव–पृष्ठ्यस्तोम–विज्ञान' परिच्छेद, पृ० सं० ३३७, एवं—पृ० सं० २१३)। वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, जिस पूर्णलक्षण शून्य बिन्दु का वितान होता है, वह १० मात्रा अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखती है। कारण यही है कि, वेदवितान अब्गर्भित अग्निप्रजापति के आधार पर होता है। एवं यह अग्नि पूर्वोक्त एककल वैश्वानर, ८ कल हिरण्यगर्भ, एककल सर्वज्ञ नामक अग्निवाय्वादित्य भेद से दशकल बनता हुआ विराट् है। इसी दशकल विराड्भाव की अपेक्षा से उत्तरोत्तर १०-१० के क्रम से ही अब्गर्भित वेदाग्नि का वितान होता है। यह वितानभाव क्योंकि ४ संस्थाओं में १०-१० के क्रम से विभक्त है, अतएव' **चत्वार ईं विभ्रति दशगर्भं चरसे धापयन्ते**' यह कहा जाता है।

विकाससंस्था '१-१०-१००-१०००' भेद से चार बतलाईं गईं है। इनमें 'एकं' विकास शून्यबिन्दु की अपेक्षा जहाँ विकास है, वहाँ दशकादि उत्तर की संस्थाओं की अपेक्षा इसे अविकास ही माना जायगा, एवं उस स्थिति में १ को विकास की मूलप्रतिष्ठा कहा जायगा, १०-१००-१००० तीनों को क्रमशः प्रथम-द्वतीय-तृतीय विकास माना जायगा। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, पूर्व परिलेख में हमनें १-१०-१००-१००० को क्रमशः १-२-३-४ विकास बतलाते हुए विकास को चतुःस्थान माना है। इस चतुःस्थानात्मक विकास की अपेक्षा से शून्यबिन्दु मूलप्रतिष्ठा है। शून्यबिन्दु की अपेक्षा वह एकत्त्व, जिसके गर्भ में विराडग्नि की दस मात्रा प्रतिष्ठित हैं, अवश्य ही प्रथम ही विकास माना जायगा। परन्तु एकत्त्व वस्तुतः एकत्त्व है। अभी इस की १० कला अविकसित हैं। इस दृष्टि से इसे भी शून्यवत् अविकासात्मक ही माना जायगा। एकत्त्व को मूल बना कर आगे विकसित होने वाली दस कलाओं की समिष्टरूप 'दशक' ही इस दृष्टि से प्रथम विकास माना जायगा। दशगर्भ एकत्त्व का प्रथम विकास 'दशकं' है। 'दशकं' की प्रत्येक कला का आगे जाकर १०-१० के क्रम से विकास होता है, फलतः १० के १०० पर्व हो जाते हैं। 'शतकं' नामक यही विकास उस 'एकं' का द्वितीय विकास माना जायगा। 'शतकं' की प्रत्येक कला का आगे जाकर १०-१० के क्रम से पुनः विकास होता है, फलतः १०० के १००० पर्व हो जाते हैं। 'सहस्रं' नामक यही विकास उस एकं का तृतीय विकास माना जायगा। इसप्रकार शून्यमूलक विकास जहाँ चतुःस्थान कहलाएगा, वहाँ 'एकं' मूलक विकास त्रिःस्थान ही माना जायगा।

सूर्य्य को उदाहरण बतलाया गया है। सूर्य्यबिम्ब अग्निगर्भित अब्रूप है, भृग्वङ्गिरोमय है। यह सूर्य्यबिम्ब 'एकं' है। दसों दिशाओं में सर्वप्रथम इस एक सूर्य्य बिम्ब से १० रशियों का विकास होता है, यही 'दशकं' नामक प्रथम रश्मिविकास है। आगे जाकर एक एक रश्मि से १०-१० रश्मियाँ निकलतीं हैं, यही 'शतकं' नामक दूसरा रश्मिविकास है। पुनः प्रत्येक रश्मि से १०-१० रश्मियां निकलतीं हैं, यही 'सहस्रं' नामक तृतीय रश्मिविकास है। इसप्रकार महदुक्थलक्षण, महाबिम्बात्मक सूर्य्यपिण्ड '१०-१०-१०' इन तीन रश्मिव्यूहनों से अन्ततोगत्वा सहस्रांशु बन जाता है। सहस्रांशु सूर्य्य अपने सहस्ररश्मिवितानमण्डल के केन्द्र में 'तप रहा है'।

'तप रहा है' का अर्थ है—'प्रतपति'। प्रतपति का अर्थ है—'प्राणदपानती'। 'प्राणदपानती' का अर्थ है—'स्वं ददाति'। एवं यह स्वदानलक्षण प्राणदान ही सूर्य्य का तपःकर्म्म है। पिण्डस्थ प्राण का

बाहिर की ओर वितत होकर अन्य पदार्थों का उपकार करना ही प्राण का तप है। सहजभाषा में, प्राणदान करना ही तप है। सूर्य्यबिम्ब से निकल कर रश्मिसहयोग से सर्वतः व्याप्त होने वाला यही प्राण अस्मदादि पार्थिव प्राणियों में प्रविष्ट होकर प्राणिप्रजा के जीवन की प्रतिष्ठा बनता है। दूसरे शब्दों में सौर प्राणकर्म्म ही हमारे जीवन का आधार है, जैसाकि **"प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः"** इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

मनोगर्भित, वागाधार (भूताधार) पर प्रतिष्ठित रश्म्यवच्छिन्न प्राण अपने सर्वतः गमन के साथ-साथ वाङ्मयी सूर्य्यप्रतिमा को भी वितत करते हैं। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, प्राण बिना वागाधार के आगे नहीं बढ़ सकता। फैलने का धर्म्म यद्यपि प्राण का ही है, परन्तु फैलाव की आधारभूमि वाङ्मय सूर्य्य-पिण्ड ही बनता है। परिणाम इस उक्थवितान का वह होता है, जो 'वितानात्मकसामवेद' परिच्छेद से गतार्थ है। प्रत्येक प्राणबिन्दु के साथ-साथ एक एक सूर्य्यमूर्त्ति आधाररूप से प्रतिष्ठित रहती है। प्रत्येक प्राण का अपना-अपना एक-एक स्वतन्त्र केन्द्र होता है। प्रत्येक केन्द्र से चारों ओर समत्रलात्मिका प्राणरश्मियों का वितान होता है। मूर्त्ति को केन्द्र बना कर समानरूप से वितत होनें वालीं रश्मियों का 'महाव्रत' नामक एक मण्डल बन जाता है, जो कि मण्डल सामवेद नाम से प्रसिद्ध है।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, प्राणवितानद्वारा सूर्य्यसंस्था में ऐसे सहस्र मण्डल बनते हैं, प्रत्येक उत्तरोत्तर मण्डल पूर्वापेक्षया बृहत् है। पूर्वमण्डलकेन्द्रस्थ प्रतिमारस का ही उत्तरमण्डल में वितान होता है। क्योंकि पूर्व-पूर्व मण्डलापेक्षया उत्तरोत्तर मण्डल बृहत् है, अतएव पूर्व-पूर्व उक्थमूर्त्ति का रसलक्षण यजुर्वेदात्मक (उपादान) द्रव्य उत्तरोत्तरमूर्त्ति की अपेक्षा कम होता जाता है। इसी अल्पता से मण्डल जहाँ उत्तरोत्तर बड़े होते जाते हैं, वहाँ मूर्त्तियाँ उत्तरोत्तर छोटीं होतीं जातीं हैं। यही कारण है कि, हम मूल वस्तुपिण्ड से ज्यों-ज्यों दूर हटते जाते हैं, त्यों-त्यों उसका आकार उत्तरोत्तर छोटा दिखलाई पड़ने लगता है। एक बात और, उत्तरोत्तर मूर्त्तियों की अपेक्षा पूर्व-पूर्व मूर्त्तियाँ आकार में तो बड़ी रहतीं हैं, परन्तु संख्या में कम रहतीं हैं। क्योंकि उत्तरोत्तर मण्डल की अपेक्षा पूर्व-पूर्व मण्डल छोटा होता है। प्रदेश थोड़ा है, अतः मूर्त्तियाँ अधिक संख्या में वितत नहीं होतीं। साथ ही पूर्व-पूर्व मूर्त्तियों की अपेक्षा उत्तरोत्तर मूर्त्तियाँ आकार में तो छोटीं रहतीं हैं, परन्तु संख्या अधिक होतीं है। क्योंकि पूर्व-पूर्व मण्डलापेक्षया उत्तरोत्तर मण्डल बड़ा होता है। प्रदेश बहुत है, अतः मूर्त्तियाँ अधिक संख्या में परिणत हो जातीं हैं। परन्तु पूर्वमूर्त्तिरस का उत्तरमूर्त्तिरस में क्रमिक ह्रास है। अतएव संख्या में अधिक होने पर भी आरम्भक द्रव्याल्पता से उत्तर मूर्त्तियों का आकार (शरीर) क्रमशः अल्पाल्प होता जाता है।

सूर्य्यपिण्डकेन्द्र से आरम्भ कर सौरमण्डलपरिधिपर्य्यन्त प्रतिष्ठित '१-१०-१००-१०००' इन चार संस्थानों की अवस्थिति किस क्रम से व्यवस्थित है?, यह भी देख लीजिए। पिण्डमात्र पृथिवी है, महिमामात्र द्यौ है। द्यावापृथिवी शब्दों की इस सामान्य परिभाषा के अनुसार सूर्य्यपिण्ड को भी हम 'पृथिवी' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। इस पृथिवी (पिण्डात्मक सूर्य्य) केन्द्र से आरम्भ कर महिमामण्डल की अन्तिम सीमा तक (निधनसामात्मक उद्दचसाममण्डलपर्य्यन्त) ऋजुरूप से पिण्डरस का वितान होता है, जैसाकि रसलक्षण यजुर्वेद नामक परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इसी ऋजुरेखा को (ऋजुरेखाओं को) हम **'विकासरेखा'** कहेंगे। इस विकासरेखा की **"पिण्डपृष्ठ-त्रिवृत्पृष्ठ-पञ्चदशपृष्ठ-एकविंशपृष्ठ'** भेद से

चार विश्रामभूमियाँ हैं। पिण्डपृष्ठ (सूर्य्यपृष्ठ) पहिला पूर्णस्थान है, यही दशगर्भ 'एकं' (१) रूप है। इसी को वितानात्मिका 'उक्थामद' नामक अनन्त ('सहस्रधा महिमानः सहस्र' भावात्मिका), महिमा मण्डलभुक्त, मूर्त्तियों का मूलप्रभव होने से 'महदुक्थ' कहा जाता है। यही सम्पूर्ण ऋङ्मूर्त्तियों की आधारभूमि है। यही केन्द्रस्थ पूर्णात्मिका शून्यबिन्दु का प्रथम पूर्णस्थान है। इससे पुनः विकासरेखा आगे चलती है। इसका पर्य्यवसान त्रिवृत्स्तोम (९) पर होता है। इस प्रदेश में उस एक महोक्थमूर्त्ति की दस मूर्त्तियाँ हो जातीं है। यही दूसरा 'दशकं' नामक द्वितीय पूर्णस्थान है। पुनः विकासरेखा ऊर्ध्व वितत होती है। इसका पर्य्यवसान पञ्चदशस्तोम (१५) पर होता है। इस प्रदेश में उन १० उक्थामद मूर्त्तियों की १०० उक्थामद मूर्त्तियाँ हो जातीं हैं। यही ' 'शतकं' नामक तृतीय पूर्णस्थान है। पुनः विकासरेखा का उर्ध्ववितान होता है। इसका पर्य्यवसान एकविंशस्तोम (२१) पर होता है। इस प्रदेश में १०० मूर्त्तियों की १००० उक्थामद मूर्त्तियाँ हो जातीं हैं। यही 'सहस्र' नामक चतुर्थ पूर्णस्थान है। मूलकेन्द्र में बीजरूप से क्योंकि एक सहस्र रसात्मक प्राण हीं प्रतिष्ठित हैं, अतः एक सहस्र मूर्त्तियों पर विकासरेखा का निधन हो जाता है। आगे विकास के लिए केन्द्रबल समाप्त है। एकमात्र इसी पूर्णता को लक्ष्य में रख कर वेदसाहस्री के सम्बन्ध से सहस्र संख्या को पूर्णसंख्या मान लिया गया है। ऋक्-यजुः-सामातिरिक्त विकासक्रम की दृष्टि से वही शून्य ऋत ब्रह्म परमपरार्द्ध पर्य्यन्त विकसित होता है, यह पूर्वपरिच्छेद में स्पष्ट किया ही जा चुका है। 'अभिप्लवस्तोमविज्ञान' नामक परिच्छेद में इस चतुःस्थान-विकास का परिलेख द्वारा स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

०१—मूलपिण्डः———एकम्———प्रथमं पूर्णस्थानं———दशगर्भः———एकधा

०२—त्रिवृत्स्तोमः———दशकम्———द्वितीयं पूर्णस्थानं———दशत्————दशधा

०३—पञ्चदशस्तोमः—शतकम्——तृतीयं पूर्णस्थानं———दशानांदशत्—शतधा

०४—एकविंशस्तोमः—सहस्रम्———चतुर्थं पूर्णस्थानं———शतानांदशत्—सहस्रधा

(२३)-अग्नि-सोमस्वभावानुबन्धी ऋणधनभाव—

अब हमें अपने उस वेदशाखाविभाग की ओर आना है, जिसकी ९-२१-१०१-१००० शाखाओं के वैज्ञानिक रहस्य के स्पष्टीकरण के लिए शून्यपूर्णानुबन्धी चतुःसंस्थानों की पूर्वपरिच्छेदों में मीमांसा हुई है। अपूर्णभाव ऋत है, पूर्णभाव सत्य है। ऋतभाव ऋण है, सत्यभाव धन है। भृगुत्रयी ऋत होने से ऋण है, अङ्गिरात्रयी सत्य होने से धन है। अङ्गिरोऽग्नि पूर्ण (समृद्धि) लक्षण धनात्मक है *। भार्गव सोम अपूर्णलक्षण ऋणात्मक है। अथर्ववेद आपोमय होने से ऋत है, त्रयीवेद अग्निवेद होने से सत्य है।

* १—"अग्नेन्यस्मै नृम्णानि धारय"—इत्यकुध्यन्नो धनानि धारय—इत्येवैतदाह" (शत. १४।२।२।३०)।

२—"विश्वानि देव वयुनानि विद्वान" (ई० उप० १६)

३—"त्वं नो अग्ने ! सनये धनानां यशसं कारु कृणुहि स्तवानः ।
ऋध्याम कर्म्मापसा नवेन देवैर्द्यावापृथिवी प्रावृतं नः ॥" (ऋक्सं० १।३१।८।)

अथर्व का ऋतलक्षण ऋणभाव से सम्बन्ध है, सत्यवेदत्रयी का सत्यलक्षण धनभाव से सम्बन्ध है। एवं सोमाग्न्यनुबन्धी इसी ऋण-धनभाव से तात्त्विकवेदचतुष्टयी के उक्त शाखाविभाग हो रहे हैं।

भृगुत्रयी, तथा अङ्गिरात्रयी, दोनों की समष्टि को षड्ब्रह्मलक्षण **'आपः'** कहा गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि, 'आपः—वायुः—सोम' तीनों में आपः शून्यस्थानीय विकासाभावरूप प्रतिष्ठाभाव है। इस का प्रथम विकास भार्गववायुलक्षण ऋततत्त्व प्रथम स्थान है। वायु की विकासावस्थारूप भार्गव सोम, एवं अङ्गिरोऽग्नि, दशकं (१०) नामक द्वितीय विकास है। अग्नि की विकासावस्थारूप रुद्रवायु 'शतकं' (१००) स्थानीय तृतीय विकास है। रुद्रविकासावस्थारूप आदित्य 'सहस्रं' (१०००) स्थानीय चतुर्थ विकास है। इसप्रकार **'आपः[1]-वायुः[2]-अग्नीषोमौ[3]-वायुः[4]-आदित्यः[5]"** भेद से "$\frac{१}{०}$-$\frac{२}{१}$-$\frac{३}{१०}$-$\frac{४}{१००}$-$\frac{५}{१०००}$" आपः के ये पाँच विवर्त्त बन जाते हैं।

सोम, और अग्नि, दोनों की समान विकासमात्रा है। दशकं स्थान ही सोमस्थान है, दशकं स्थान ही अग्निस्थान है। सोम अर्वाक् है, अग्नि पराक् है। दशकलात्मक सोम पूर्व विकास है, दशकलात्मक अग्नि उत्तर विकास है। शत कलात्मक रुद्रवायु अग्न्युत्तरविकास है, सहस्रकलात्मक आदित्य रुद्रवायूत्तरविकास है। इसप्रकार शून्यलक्षण आपः के आधार पर प्रतिष्ठित एकं लक्षण भार्गववायु दशकं लक्षण अर्वाक् सोम, दशकं लक्षण पराक्-अग्नि, शतकं लक्षण रुद्रवायु, सहस्रं लक्षण आदित्य, इन चारों पर्वों की प्रतिष्ठा बना हुआ है। दशकं लक्षण दशकल सोम ही **'अथ-अर्वाक्'** निवर्चन से अथर्ववेद है, दशकं लक्षण दशकल अग्नि ही पराक्-लक्षण ऋग्वेद है, शतकं लक्षण रुद्रवायु ही यजुर्वेद है, एवं सहस्रं लक्षण आदित्य ही सामवेद है। इस दृष्टि से इन चारों तात्त्विक वेदों की क्रमशः '१०-१०-१००-१०००' शाखा हैं। अग्नि-विकासानुबन्धी 'दशकं-शतकं-सहस्रं' ही 'दशकं-दशकं-शतकं-सहस्रं' बन कर सोमाग्निवाय्वादित्यरूप अथर्व-ऋग्यजुःसामवेदशाखारूपों में परिणत हो रहे हैं। पूर्व परिच्छेदानुसार सोमात्मक दशकं विकासस्थान, अग्न्यात्मक दशकं विकासस्थान, दोनों समानस्थानीय हैं। अतएव 'एकं' के आधार पर प्रतिष्ठित 'दशकं-शतकं-सहस्रं' इन तीनों विकासस्थानों के त्रित्त्व का भलीभाँति समन्वय हो जाता है। अब इस शाखाभेदसम्बन्ध में प्रश्न यह बच रहता है कि, यदि विकासस्थानों की अपेक्षा वेदशाखा १०-१०-१००-१००० इन संख्याओं में विभक्त हैं, तो फिर '९-२१-१०१-१०००' यह संख्याक्रम किस आधार पर प्रतिष्ठित हुआ ?।

उक्त प्रश्न के समाधान के लिए परिच्छेदारम्भ में दिग्दर्शित ऋण-धन-भाव की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पूर्ण संख्या को कम कर देना संख्या का ऋणभाव है, पूर्णसंख्या को अधिक कर देना संख्या का धनभाव है। १० को ९ कर देना ऋणभाव है, १० को ११ बना देना धनभाव है। और इसी ऋण-धनभाव के कारण वेदशाखाओं का व्यावहारिक संख्याक्रम प्रतिष्ठित है। सोम दशकं-विकासस्थानीय होने से दशकल है, १० संख्या से युक्त है। इसप्रकार प्रकृत्या यद्यपि सोमात्मक अथर्व दशकं ही है। तथापि सोम के स्वाभाविक संकोचधर्म्म ने अथर्व शाखा-संख्या में ऋणभाव का समावेश कर रक्खा है। स्नेहगुणक सोम संकोचधर्म्मा बनता हुआ भी तेजोगुणक विकासधर्म्मा अग्नि की अपेक्षा ऋणात्मक है। साथ ही अपने स्वाभाविक अन्नभाव से भी यह अन्नादाग्नि की अपेक्षा ऋण है। संकोच, तथा अन्नभाव, इन दो अपूर्ण भावों से सोमस्थानीय चरम विकास (१० वाँ विकास) एकतः ऋणभाव में परिणत हो रहा

है । दूसरे शब्दों में अपने अन्तिम (१० वें) विकास के द्वारा अन्नसोम ने अन्नाद अग्नि में आत्मसमर्पण कर रक्खा है । इसी सहजसिद्ध ऋणभाव से दशकं सोम नवकं बन रहा है । एवं यही 'नवधा-ऽथर्वणो वेदः' है ।

क्षयोन्मुख सोम के 'नवकं' रूप 'दशकं' स्थान से समतुलित वृद्धयुन्मुख अग्नि का दशकं स्थान सोम को आत्मसात् करता हुआ विंशतिस्थान बन रहा है । "**अग्निर्जागार तमयं सोम आह**" के अनुसार अपने न्योक सोमसखा को अन्नादाग्नि ने अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर रक्खा है । जब आद्य सोम अत्ता अग्नि में आहुत हो जाता है, तो अग्निगर्भ में प्रविष्ट सोम अग्न्यात्मक बनता हुआ तद्व्यवहार का ही भाजन बन जाता है, जैसा कि—'**यदा द्वयं समागच्छते-अत्तैवाख्यायते, नाद्यः**' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है । ऋङ्मूर्त्ति अन्नादाग्नि इसी दशकं सोम को गर्भ में लेकर विंशतिभावापन्न बन रहा है । इसप्रकार अन्नात्मक दशकं के समन्वय से यह अन्नादात्मक दशकं विंशतिकलोपेत बन जाता है । सोमापेक्षया यह विंशतिकल ऋगग्नि स्वाभाविक विकासधर्म्म से वृद्धयुन्मुख बनता हुआ धनभाव से युक्त है । बहिर्विकास-स्थानीय २० वाँ अग्निविकास धनभाव से युक्त है । फलतः २० के स्थान में २१ संख्या प्रतिष्ठित हो रही है ।

पाठक इस सम्बन्ध में यह प्रश्न कर सकते हैं कि, ऋणस्थानीय सोम जब नवकं है, तो इस समन्वय से धनस्थानीय दशकं अग्नि एकोनविंशति (१९) बन सकता है । फिर इसे विंशति कैसे माना गया ? । प्रश्न-समाधि यह होगी कि, ऋणात्मक सोम का जब धनात्मक अग्नि में आत्मसमर्पण होता है, तो ऋणधन की इस समानकालीन प्रवृत्ति में ऋणसोमापेक्षया धनाग्नि बलवान् है । सोमानुबन्धी ऋणभाव, अग्न्यनुबन्धी धनभाव, दोनों जब एक साथ प्रवृत्त होने लगते हैं, तो बलवान् अग्नि के धनभाव से निर्बल सोम का ऋण-भाव अभिभूत हो जाता है । धनभाव में परिणत होता हुआ अग्नि ऋणभाव में परिणत होते हुए सोम के पूरे दशकं का निगरण कर जाता है । इसप्रकार अपने एकतः धनभाव से ११ भाव में परिणत होने वाला ऋगग्नि ऋणभावात्मक सोम की ऋणसंख्या का अभिभव करता हुआ पूरे दशकं का निगरण कर एकविंशतिधा बन जाता है । यही—"**एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्**" है ।

द्वितीय विकास स्थानीय अग्नि की विकासावस्था ही वायुलक्षण यजु है । इसको 'शतकं' कहा गया है । वायु अग्नि की ही अवस्थान्तर है, अतएव यह भी अग्निवत् विकासोन्मुख बनता हुआ एकतः धनभाव से युक्त होता हुआ पूर्ण है । यही '**एकशतमध्वर्य्युशाखाः**' है । चतुर्थ विकासस्थानीय साममय आदित्य सहस्रात्मक है । वाङ्मण्डल का स्वरूपनिर्म्माण करने वाले सहस्र गौतत्त्वों की सीमा सहस्र पर समाप्त है । आगे विकास का अभाव है । वेदसाहस्री की अपेक्षा पूर्वपरिच्छेद कथनानुसार सहस्र पर पूर्णसंख्या का विश्राम है । न यहाँ ऋणभाव है, न धनभाव है । यद्यपि यह ठीक है कि, परार्द्ध संख्या से सम्बन्ध रखने वाले उत्तर संख्या-विकास की अपेक्षा सहस्रसंख्या क्षयोन्मुखा बनी हुई है । तथापि वेदसाहस्री का अवमान क्योंकि सहस्र पर ही है, अतः इस दृष्टि से उत्तरभावी क्षयभाव की अविवक्षा कर यहाँ ऋणभाव का (९९९) अभाव ही सिद्ध हो जाता है । फलतः आदित्यात्मक सामवेद की सहस्र ही शाखाएँ हो जातीं हैं । यही—"**सहस्रवर्त्मा सामवेदः**" है ।

※ प्रकरणोपसंहार—

निष्कर्ष यही हुआ कि, प्रकृतिसिद्ध ऋण-धनभावों से '१०-१०-१००-१०००' संख्या में विभक्त तात्त्विक वेदशाखाएँ 'ऋण, धन, धन, ऋणधनाभाव' भेद से '६-२१-१०१-१०००' इन शाखाओं में विभक्त हो रहीं हैं। शब्दवेद शब्दब्रह्म है, तत्त्ववेद परब्रह्म है। निरूप्य परब्रह्म का निरूपक शब्दब्रह्म परब्रह्म की प्रतिकृति है। जो शाखाविभाग परब्रह्म के हैं, वही शाखाविभाग शब्दब्रह्म में व्यवस्थित हुए है। अध्ययनसम्प्रदायभेद ही शाखाभेद का कारण नहीं है, अपितु प्राकृतिक–वेदतत्त्व–शाखा–विभाग ही शब्दात्मक वेद के शाखाविभाग की मूलप्रतिष्ठा है। यही प्रकृत प्रकरण का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसका आगे के परिलेखों से भलीभांति स्पष्टीकरण हो रहा है। तत्त्वात्मक नित्यवेद का प्रतिपादन करने वाला शब्दात्मक अनित्यवेद पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय ?, इस प्रश्नसमाधि के लिए भूमिका–तृतीय–खण्ड की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हुए भूमिका द्वितीय खण्ड उपरत हो रहा है।

(क)—

		भृगुविकासरूपस्थानम्			अङ्गिरोविकासरूपस्थानम्		ऋ०	ध०		सोमः	अग्निः
आपः	भृगुः	आपः	०						शून्यस्थानम्		
आपः	भृगुः	वायुः	१				१		एकस्थानम्	०	
आपः	भृगुः	सोमः	१०	अङ्गिराः	अग्निः	१०	१		१ दशकस्थानम्	६	२१
आपः				अङ्गिराः	यमः	१००			१ शतकस्थानम्		१०सु
आपः				अङ्गिराः	आदित्यः	१०००			सहस्रस्थानम्		१०००

(ख)—

१	आप	भृगुः	आपः			०		०	
२	आपः	भृगुः	वायुः			१		६ सोमः	अथर्ववेदः
३	आपः	भृगुः	सोमः	अङ्गिराः	अग्निः	१०	१०	२१ सोममयोऽग्निः	ऋग्वेदः
४	आपः			अङ्गिराः	अग्निः		१००	२०१ अग्निर्वायव्यः	यजुर्वेदः
५	आपः			अङ्गिराः	अग्निः		१०००	१००० अग्निरादित्यः	सामवेदः

(ग)—

१	१०	१०	१०	१००	१०००
सोमः	सोमः	सोमः	अग्निः	अग्निः	अग्निः
ऋणम्	ऋणम्	ऋणम्	धनम्	धनम्	धनम्
०	६	२१		१०१	१०००
	अथर्ववेदः	ऋग्वेदः		यजुर्वेद	सामवेदः
आपः	वायुः	सोमः	अग्निः	वायुः	आदित्यः
१	१०	१०	१०	१००	१०००
ऋणम् १	ऋणम् १	धनम् १		धनम् १	न ऋणम् न धनम्

(घ)—

आपः	वायुः	सोमः		सोमः १०	×	×
अथर्वा	अथर्वा	अथर्वा		अग्निः १०	वायुः १००	आदित्यः १०००
०	१	१०		ऋक्	यजुः	सामः
आपः	आपः	आपः		आपः	आपः	आपः
भृगुः	भृगुः	भृगुः		अङ्गिराः	अङ्गिराः	अङ्गिराः
आपः	वायुः-हंसः	सोमः		अग्निः	वायुः-यमः	आदित्यः
०	१	२		२	३	४
विकासाभावः	प्रथमोविकासः	द्वितीयोविकासः		द्वितीयोविकासः	तृतीयोविकासः	चतुर्थोविकासः
०	१	१०		१०	१००	१०००
ऋणम् ०	ऋणम् १	ऋणम् १		धनम् १	धनम् १	धनम् ०
०	०	६		२१	१०१	१०००

ङ—

१	१०	१०	१०	१००	१०००	विकासो वास्तविकः
सोमः	सोमः	सोमः	अग्निः	अग्निः	अग्निः	
ऋणम्	ऋणम्	ऋणम्–धनम्		धनम्	धनम्	
०	६	२१		१०१	१०००	विकासफलम्
	अथर्ववेद-शाखाः	ऋग्वेदशाखाः		यजुर्वेदशाखाः	सामवेदशाखाः	वेदब्रह्मशाखाः
आपः	वायुः	सोमः–अग्निः		यमः	आदित्यः	परब्रह्मशाखाः
१	१०	१०–१०		१००	१०००	
ऋणम् १	ऋणम् १	धनम् १		धनम् १	न ऋणं, न धनम्	

च—

	आपः	वायुः	सोमः	सोमाग्नी	वायुः	आदित्यः	
		अथर्वा	अथर्वा	ऋक्	यजुः	साम	
वाग्-आपः-अग्निः-इति त्रितयमर्थतन्त्रम्	आपः	आपः	आपः	आपः	आपः	आपः	तत्रायमापोभाग उद्गीथः
अपां द्वैभाव्यम्—भृगुः, अङ्गिराः	भृगुः	भृगुः	भृगुः	अङ्गिराः	अङ्गिरा	अङ्गिरा	उद्गीथस्याधश्ररो-भृगुः, ऊर्ध्वश्चरो-ऽङ्गिराः
अपांविकासक्रमसिद्धानिरूपाणि	आपः	वायुर्हंसः	सोमः	अग्निः	वायुर्मयः	आदित्यः	
विकाससङ्केताः	०	१	२	२	३	४	
विकासोदर्काः	विकासाभावः	प्रथमोविकासः	द्वितीयोविकासः	द्वितीयोविकासः	तृतीयोविकासः	चतुर्थोविकासः	
विकासमात्राः	०	१	१०	१०–१०	१००	१०००	
सोमाग्निप्रकृतिभावाः	ऋणम्	ऋणम्	ऋणम्	धनम्	धनम्	धनम्	
ऋणधनस्थानानि	०	०	१	१	१	०	
विकाससिद्धा वेद-शाखाः	०	०	६	२१	१०१	१०००	

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

'अग्निविकासरहस्य, और वेदशाखाविभाग' नामक

पञ्चमस्तम्भ—उपरत

५

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

शास्त्रीय-वचनाक्षरार्थसमन्वयात्मक

*परिशिष्ट-विभाग

श्री :

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्डान्तर्गत–शास्त्रीय–वचनात्तरार्थसमन्वयात्मक

❋ परिशिष्ट-विभाग

——❋——

(१)–नि षु सीद गणपते ! (पृ० सं० १)—

हे गणपते ! आप गणों में (मरुद्गणों में, तथा स्तोतृगणों में) विराजिए। क्योंकि (विद्वद्गण) आप को ही कवियों में श्रेष्ठतम मेधावी समझते हैं। अपिच (हे गणपते !) आप के (अनुग्रह के) बिना लौकिक, अथवा वैदिक, कोई भी कर्म्म सुसम्पन्न नहीं हो सकता (इसलिए प्रत्येक कर्म्म के आरम्भ में आपका प्रथमस्मरण अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित है)। हे महनीय गणपते ! आग्नेय त्रिवृत (९), वायव्य पञ्चदश (१५), दिव्य आहवनीयात्मक सप्तदश (१७), आदित्य एकविंश (२१), भास्वरसोमानुगत त्रिणव (२९), तथा दिक्सोमानुगत त्रयस्त्रिंश (३३), इत्यादि विविध वाङ्मय स्तोमों से युक्त, अतएव आर्षप्रज्ञानिष्ठों की दृष्टि से उपयोगी जो यह वाङ्मय स्तोम है, उसे आप निर्विघ्न सुसपन्न बनाने का अनुग्रह करेंगे, यही हमारी प्रारम्भिक मङ्गलकामना है।

—ऋक्सं० १०।११२।९।

(२)–एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः० (पृ० सं० १)—

एक ही प्राणाग्नि अपने विभूतिभाव से अनेकरूपों से प्रज्ज्वलित हो रहा है। एक ही सूर्य्य अपने विष्कम्भ-परिणाह–एवं हृद्य–भावानुबन्धी मूर्त्ति–मण्डल–पुरुष–रूप से सम्पूर्ण विश्व में अभिव्याप्त हो रहा है। एक ही (अश्वमेध की मेध्यशिरोभूता) उषा सम्वत्सरात्मक कालचक्र के परिवर्त्तन के अनुपात से सम्पूर्ण त्रैलोक्य में प्रतिभासित है। एक ही तो ब्रह्म 'इदं' रूपेण प्रतीयमान इस सर्व–प्रपञ्च में विभूति-लक्षण विवर्त्तभाव से अभिव्याप्त है।

—ऋक्सं० ८।५९।५८।२।

(३)–वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे० (पृ १)—

(१)–"आठ (८) वसु, ग्यारह (११) रुद्र, बारह (१२) आदित्य, दो (२) अश्विनीकुमार, इसप्रकार ३३ अवान्तर विभागों में विभक्त (१)–यज्ञियदेवता, (२)–सौम्य देवता, (३)–कर्म्मदेवता, (४)–आत्म-देवता, (५)–अभिमानीदेवता, (६)–पुरुषविध चेतन (मनुष्य) देवता, (७)–मन्त्रदेवता, (८)–चन्द्रदेवता, ये अष्टविध सम्पूर्ण देवता एकमात्र वाक्तत्त्व को आधार बना कर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं,

(अर्थात्-'देवपात्रं वा यदेष वषट्कारः' इत्यादि श्रुति के अनुसार वाङ्मय वषट्कार ही इन सम्पूर्ण देवताओं की आधारभूमि है) । सप्तविंशति (२७) गन्धर्व्व, पुरुष–अश्व–गौ–अवि–अज, भेद से पञ्चधा विभक्त (५) पशु, अण्डज–पिण्डज–स्वेदज–उद्भिज्ज–भेदभिन्न चतुर्विध (४) मनु, ये सब (भी) वाक्तत्त्व को आधार बना कर ही उपजीवित हैं । रोदसी-क्रन्दसी-एवं संयती नामक त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप भूः-भुवः-स्वः-महः-जनत्–तपः–सत्यम्–इन सात लोकों की समष्टिरूप सम्पूर्ण भुवन (लोक) वाक्सूत्र में हीं प्रोत हैं । इसप्रकार देवता–गन्धर्व्व–पशु–मनु–लोक–आदि रूप से जो वाग्देवी–'अथो वागेवेदं सर्वम्' के अनुसार सर्वत्र व्याप्त हो रही है, 'इन्द्रपत्नी' नाम से प्रसिद्धा वह वाग्देवी (वेदवाङ्मय प्रस्तुत ग्रन्थानुष्ठान में) हमारी प्रार्थना सुने ।

—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।४।

(४)–वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य (पृ० सं० १)—

"अक्षरमिति-(१–अ–२–क्ष–३–रम्-इति) = त्र्यक्षरम्" (ताण्ड्यब्रा० १०।५।१०)–"वाक्-इत्येकाक्षरम्"–"एकाक्षरा वै वाक्" इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार वाग्रूप एकाक्षरब्रह्म, किंवा एकाक्षररूप वाग्ब्रह्म ऋत:(प्राण) तत्त्व से सर्वप्रथम समुद्भूत होने के कारण 'ऋतस्य प्रथमजा' नाम से प्रसिद्ध है । ऋत की प्रथमजा यह स्वायम्भुवी वाग्देवी सहस्रधा–महिमानः–सहस्रलक्षण अनन्त वेदों की जननी है, अमृत (पारमेष्ठ्य सोम) की उद्गमभूमि है । ऐसी यह वाग्देवी अमृतवर्षण करती हुई हमारे इस वाङ्-मय यज्ञ में पधारे । अपिच (अपने 'आम्भृणी' रूप अर्थस्वरूप से) हमारी रक्षा करने वाली यह वाग्देवी हमारी यह वाङ्मयी प्रार्थना सुनने का अनुग्रह करै ।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।८।८।

(५)–यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व्वम्० (पृ० सं० १)—

(पञ्चकल 'आत्मक्षर' नाम की अपराप्रकृति से, एवं पञ्चकल 'अक्षर' नाम की पराप्रकृति से नित्य संश्लिष्ट पञ्चकल, निष्कल परात्पराभिन्न) जो अव्ययपुरुष (षोडशीप्रजापति) प्राणप्रकृतिक अव्यक्त–स्वयम्भू ब्रह्मा को (सर्वप्रथम) स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित करता है, जो अव्ययब्रह्म इस स्वयम्भूब्रह्म के लिए ऋक्–यत्–जू–साम–लक्षण ब्रह्मनिःश्वसित (तत्त्वात्मक) नित्यकूटस्थ अपौरुषेय वेदों को प्रदान करता है, (मानवीय आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–इन चारों पर्वों में से पुरुषानुगत) आत्मा, तथा बुद्धि–इन दो पर्वों को स्वज्ञानज्योति से ज्योतिष्मान् बनाए रखने वाले इत्थंभूत विश्वाधार–सर्वाधार–(वेदैकवेद्य) उस अव्ययात्म-देव को फलासक्तिकामनाबन्धनविमोकलक्षणा मुक्ति की कामना से मैं सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण कर रहा हूँ ।

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१८।

(६)–अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते० (पृ० सं० १)—

ब्रह्मनिःश्वसित वेदमूर्त्ति स्वायम्भुव प्राणाग्निदेव (विश्वनिर्म्माण के लिए) जग पड़े हैं (व्यक्तभाव में परिणत हो गए हैं) । ऐसे जागरूक प्राणाग्नि (ब्रह्माग्नि–वेदाग्नि) की ऋचाएँ सतत कामना कर रहीं

है। अग्निदेव जग पड़े हैं, मण्डलात्मक साम इन जागरूक अग्निदेव के अनुगत हो गए हैं। अग्निदेव जग पड़े हैं। ऐसे जागरूक (यजुर्म्मूर्त्ति ऋक्सामम्य) इन अन्नादभूत अग्निदेव से अन्नात्मक सोमदेवता यह आवेदन कर रहे हैं कि, हे जागरूक अन्नादाग्ने ! मैं आपका न्योक (निम्न-कक्षा-छोटी श्रेणि में प्रतिष्ठित रहने वाला) मित्र हूँ।

—ऋक्सं० ५।४४।१५।

(७)–सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था० (पृ० सं० १)–

(ऋक्सामयजुर्भावों के सहस्ररश्मिरूप से वितत होने के कारण 'सहस्र' नाम से प्रसिद्ध वेदप्रजापति के) * पञ्चदशस्तोमात्मक उक्थ (नभ्यभाव) सहस्ररूप से ही परितः वितत हो रहे हैं। जिस पारावतपृष्ठ पर्य्यन्त संयतीत्रैलोक्य का द्यावापृथिवीमण्डल व्याप्त है, तत्सीमापर्य्यन्त ही यह सहस्रोक्थमूर्त्ति वेदप्रजापति व्याप्त है। केवल एक सहस्रभाव पर ही इसका स्वरूपावसान नहीं है। अपितु ऋक्सामों के अर्कात्मक व्यूहन से सम्बन्ध रखनें वालीं प्रतिफलनपरम्परम्पराओं से चारों ओर सहस्र के सहस्रधा महिमात्मक वितान हो जाते हैं। जिस पारावतपृष्ठ–सीमापर्य्यन्त स्वयम्भू ब्रह्म विशेषरूपेण अवस्थित हैं, लोक–वेद–साहस्री से समन्विता यह वाक्-साहस्री उस सीमापर्य्यन्त व्याप्त है। **'किं तत् सहस्रमिति?–इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्'** इत्यादि श्रुत्यन्तर से अनुप्राणिता लोक–वेद–वाक्–साहस्रियों का महिमात्मक सहस्रधा–सहस्र–वितान ही तो तत्त्वात्मक वेद का वास्तविक स्वरूप है, जिसका प्रस्तुत खण्ड में दिग्दर्शन कराया गया है।

—ऋक्सं० १०।११४।८।

८–ओष्ठापिधाना न कुली० (पृ० सं० १)—

वैदिक–लौकिक–रूप सम्पूर्ण वाग्विवर्त्तों पर शासन करने वाली आम्भृणी–वाग्गर्भिता औपनिषद–सिद्धान्तरूपा पारमेष्ठिनी सरस्वती × वाग्देवी मेरे मुख से अनुद्वेगकरी–अर्थगभीरा–शिष्टजनसम्मता–शोभना वैखरीवाणी का ही उच्चारण कराने का अनुग्रह करें। इत्थंभूता वाग्देवी ओष्ठपुटद्वयरूप सीमाभाव से सुरक्षित है। वज्रवत्–घनीभूत, अतएव विस्पष्टाक्षर–वर्ण–पद–वाक्यादि के प्रयोग में सर्वथा समर्थ–दन्तपङ्क्ति से घिरी हुई है। तात्पर्य्य–प्राणमयी वाग्देवी से प्रेरिता मेरी वाक् विस्पष्ट, एवं सारार्थवती ही प्रमाणित हो।

—ऐतरेय आरण्यक ३।२।५।

---

* **'अन्तर्य्यामाद्ग्रहात्–पञ्चदशस्तोमं निरमिमीत'।**

—शत० ८।१।१।८।

× **—सिद्धान्तमौपनिषदं, शुद्धान्तं परमेष्ठिनः।**
शोणाधरमहः किञ्चिद्–वीणाधरमुपास्महे ॥

—लघुपाराशरी

(९)–स योऽयं मध्ये प्राणः० (पृ० सं० ३)—

सो जो कि सप्तपुरुषपुरुषात्मक इन सप्तर्षिलक्षण चित्य प्राणों में मध्य में-केन्द्र में–प्रतिष्ठित प्राण है, वही इन्द्र है। अपने ऐन्द्रियक (रश्मिरूप) वीर्य्य से यह मध्यस्थ प्राण इतर प्राणों को अपने केन्द्र-स्थान से प्रज्वलित करता है। सो जो कि, यह प्राणों का समिन्धन करता है, अतएव इसे 'इन्ध' कहा जा सकता है, जो कि–'इन्ध' शब्द ही देवताओं की परोक्षभाषा में 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है।

—शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।२।

(१०)–स यदस्य सर्वस्य० (पृ० सं० ३)—

सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति ने क्योंकि इस तत्त्व को सम्पूर्ण सृष्टिसर्ग के सब से पहिले उत्पन्न किया, अतएव यह तत्त्व 'अग्रि' कहलाया। इस 'अग्रि' (अग्र–प्रथम उत्पन्न) तत्त्व को ही परोक्षभाषा में 'अग्नि' कहा गया है।

—शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।११।

(११)—स समुद्रात्--अमुच्यत० (पृ० सं० ३)—

वह (आपोमय बन्धनपाशप्रवर्त्तक) तत्त्व पारमेष्ठ्य समुद्र से ही मुक्त हुआ, प्रवर्ग्यरूप से पारमेष्ठ्य मण्डल से पृथक् हुआ। इस मुञ्चनभाव से ही यह तत्त्व 'मुच्यु' कहलाया। उस इस तत्त्व को 'मुच्यु' कहने के स्थान में परोक्षभाषा में 'मृत्यु' कहा गया। क्योंकि देवता (सत्त्वगुणानुगत परोक्ष आत्मनिष्ठ विद्वान्) परोक्ष के तो प्रेमी होते हैं, एवं पराभव के हेतुभूत प्रत्यक्ष के शत्रु बने रहते हैं।

—गोपथब्रा० पू० १।७।

(१२)—आपः यच्च वृत्त्वा० (पृ० सं० ४)—

इन पारमेष्ठ्य पानियों (अम्भः–नामक प्राणात्मक आपः) नें सम्पूर्ण भुवनों का संवरण कर उन पर अधिकार प्राप्त कर लिया। अतएव इस संवरणधर्म्म से ही इत्थंभूत आपः–तत्त्व 'वरण' कहलाया। उस इस तत्त्व को 'वरण' कहने के स्थान में परोक्षभाषा से 'वरुण' कहा गया।

—गोपथब्रा० पू० १।७।

(१३)—स यः स वैश्वानरः० (पृ० सं० ४)—

सो जो कि वह वैश्वानर है, ये ही लोक (लोकात्मक अग्नित्रय) वह वैश्वानर है। महापृथिवी का त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न यह पृथिवीलोक ही पहिला विश्व है। इसका नर (नायक–अतिष्ठावा–अधिष्ठाता) ध्रुवावस्थापन्न (घनावस्थापन्न) 'अग्नि' नामक अग्नि ही है। पञ्चदश स्तोमावच्छिन्न यह अन्तरिक्ष लोक ही दूसरा विश्व है। इसका नर धर्त्रावस्थापन्न (तरलावस्थापन्न) 'वायु' नामक अग्नि ही है। एवं एकत्रिंशस्तोमावच्छिन्न यह द्युलोक ही तीसरा विश्व है। इसका नर धरुणावस्थापन्न (विरलावस्थापन्न) 'आदित्य' नामक अग्नि ही है। पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यु–इन तीनों विश्वों के अग्नि–वायु–आदित्य–इन

तीन नरों के पारस्परिक संघर्षात्मक सहोबल से उत्पन्न तापधर्म्मा त्रैलोक्य व्यापक (वैश्वानरो यतते सूर्य्येण, आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्) यौगिक अग्नि ही **'वैश्वानर'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है ।

—शत० ब्रा० ६।३।१।३।

(१४)—वाग्वै बृहती० (पृ० सं० ४)—

अव्यक्त स्वयम्भू की वेदवाक् से समुद्भूता पारमेष्ठिनी सोमप्राणमयी सरस्वतीवाक् से अभिन्ना 'वेकुरावाक्' नाम की वाक् ही बृहतसूर्य्य की जननी बनती हुई 'बृहती' नाम से प्रसिद्ध है । **'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः'** के अनुसार सौरमण्डल के ऊर्ध्व भाग में, एवं पारमेष्ठ्य मण्डल के अन्त में प्रतिष्ठित वाजपेययज्ञ का प्रवर्त्तक पारमेष्ठ्य उपग्रह ही इस पारमेष्ठ्य-वाक्तत्त्व का प्रवर्त्तकरूप पति है । इसीलिए यह 'बृहस्पति' (बृहतीवाक् का पति) कहलाया है, जो कि यह बृहस्पति सौरमण्डल के ग्रहभूत देवसेनाधिपति-बृहस्पति से, तथा लुब्धकबन्धु नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति से सर्वथा विभिन्न तत्त्व माना गया है ।

—शत० ब्रा० १४।४।१।२२।

(१५)–सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः (पृ० सं० ४)–

इस निगम के समन्वय के लिए हमें पार्थिवसृष्टि के उस आरम्भ की दशा को लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जिस अवस्था में कि पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–आदि लोकों का विभाजन नहीं हुआ था । अपितु **'समन्तिकमिव ह वाऽइमेऽग्रे लोका आसुः ।इत्युन्मृश्या हैव द्यौरास'** (शत०ब्रा० १।४।१।२२) के अनुसार भूः-अन्तरिक्ष-द्यौ-तीनों लोक समन्तिक बने हुए थे, एक दूसरे के अत्यन्त सन्निकट-एकीभूत से ही थे । द्युलोक मानो हाथ से ही छू लिया जा सकता था । यह वह अवस्था थी, जबकि भूपिण्ड का मूल उत्पादक अप्तत्त्व (**अद्भ्यः पृथिवी**- तै० उप०) फेन–मृद्–भावमात्र का अनुगामी बन पाया था । फलस्वरूप पृथिवी (भूः) उस समय सर्वथा काल्वालीकृता (कादाकीचयुक्त–प्रतिष्ठाशून्य–भाव) थी, जबकि न ओषधियाँ उत्पन्न हुईं थीं, न वनस्पतियाँ- (**'काल्वालीकृता हैव तर्हि पृथिव्यास । नोषधय आसुः, नव नस्पतयः । तदेवास्य मनस्यास'** शत० ब्रा० २।२।४।३।)। तदित्थं लोकाभिव्यक्तित्त्व से पूर्व की ऐसी अवस्था थी, जिसे लक्ष्य बना कर ही **'सह हैवाग्रे'** इत्यादि वचन प्रवृत्त हुआ है ।

श्रुति कहती है कि—"आरम्भदशा में तीनों लोक एक साथ ही विद्यमान थे, अर्थात् तीनों एकाकार बने हुए थे । कालान्तर में घनता का आविर्भाव हुआ, एमूषवराह नामक भूवायु से पार्थिव मृत्परमाणुओं का संघठन–संवरण हुआ । परिणामस्वरूप पृथिवी, और द्यौः–इन दो पृथक् लोकों का व्यवच्छेद हो गया । पृथक् पृथक् रूप से वितत इन दोनों लोकों के मध्य का जो आकाश प्रदेश था, वही 'अन्तरिक्ष' रूप में परिणत हो गया (एवं यही तीसरा मध्यलोक कहलाया) । दोनों के मध्य में यह आकाशलोक 'देखा' गया । अतएव उस आरम्भदशा में इसका इस मध्ये–ईक्षण से विद्वानों नें **'ईक्षम्'** नाम कर दिया । दोनों लोकों के अन्तर्भाग (मध्यभाग) में क्योंकि इसका ईक्षण हुआ, अतएव आगे जाकर यही 'ईक्षम्' **'अन्तरीक्षम्'** नाम से प्रसिद्ध हो गया, जो कि शब्द आज लोक में **'अन्तरिक्ष'** नाम से प्रसिद्ध है ।

—शत० ब्रा० ७।१।२।२३।

(१६)—स ऐच्चत प्रजापतिः० (पृ० सं० ४)—

सौर सावित्राग्निरूप हिरण्यगर्भप्रजापति ने देखा कि, मैंने जो कि अपने प्राणाग्नि के प्रवर्ग्यभाग से अग्नि-वायु-आदित्य-इन तीन त्रैलोक्य-प्राणदेवताओं को उत्पन्न कर दिया, अतएव मैं सर्वात्मना क्षीण हो गया (इस निर्म्माण से)। इसी सर्वत्याग से प्रजापति 'सर्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध हो गए, जो कि 'सर्वत्सर' शब्द ही आज 'सम्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है।

—शत० ब्रा० ११।१।६।१२।

(१७)—सम्पूषन् विदुषा नय० (पृ० सं० ६)—

हे पृथिवी प्रतिष्ठारूप पूषा देवता ! आप हमें उस तत्त्वज्ञ विद्वान् की शरण में ले चलिए, जो हमें सर्वथा सरलपद्धति से अपने अनुशासन में ले लेता है। एवं जो—ऐसा भी हो सकता है—वैसा भी हो सकता है—इसप्रकार सन्देह में न डाल कर—'**ऐसा ही है**' इस निश्चित सिद्धान्त से समन्वित कर देता है। (१)

हम पुष्टिप्रवर्त्तक, अतएव 'पूषन्' नाम से प्रसिद्ध उस पार्थिव देवता (के अनुग्रह) से समन्वित हो रहे हैं, जो भूतप्रतिष्ठा के आधारभूत हमारे गृहों का अनुशासन करता है। जो कि हमें 'ये प्रतिष्ठानस्थान हीं तुह्मारी प्रतिष्ठा हैं', हमारा इसप्रकार पार्थिव प्रतिष्ठाभावों से उदबोधन कराते रहते हैं। (२)

इत्थंभूत पार्थिव पूषा देवता का नियति-लक्षण व्यवस्थातन्त्र कदापि नष्ट नहीं होता है। इस तन्त्रात्मक चक्र का मूलप्रतिष्ठात्मक कोश (केन्द्रप्रतिष्ठा) कभी क्षीण नहीं होता। इसका सूतीक्ष्ण तेज कभी कुण्ठित नहीं होता है। (अपितु यह सदा केन्द्रबलानुगति से हम पार्थिव प्रजाओं का अपने पुष्टिगुण से संरक्षण करता रहता है। (३)।

—ऋक् सं० ६।५४।१,२,३।

(१८)—भरद्वाजो ह वै त्रिभिरायुभिः० (पृ० सं. १३)—

सुप्रसिद्ध वेदस्वाध्यायनिष्ठ महर्षि भरद्वाज शत-शत-शत-रूप से अपने तीन आयुर्भोगकालों से वेद-स्वाध्याय में तल्लीन बने रहे। अपनी अन्तिम अवस्था में जबकि भरद्वाज सर्वथा श्लथ-वृद्ध-खट्वारूढवत्-बन गए थे-(इनके स्वाध्यायरूप तप से प्रसन्न हो कर अभिमानीभावानुगत) इन्द्रदेवता पधारे, और भरद्वाज को सम्बोधन कर कहने लगे कि, हे भरद्वाज ! यदि हम तुम्हें चतुर्थ आयु और प्रदान कर दें, तो तुम इस आयु का उपयोग किसमें करोगे ?। भरद्वाज कहने लगे कि, भगवन् ! मैं तो उसका भी वेदस्वाध्याय में हीं उपयोग करूँगा। इन्द्र ने भरद्वाज के इस उत्तर से मन ही मन सन्तुष्ट होते हुए वेद की अनन्तता के प्रति भरद्वाज का ध्यान आकर्षित करते हुए भरद्वाज को सर्वथा अविज्ञात पर्वताकार तीन वेदस्तूपों को दिखलाया। और फिर इन तीनों पर्वतों में से एक एक मुष्टिभर (मुट्ठीभर) तत्त्व इन्द्र ने ले लिया, एवं इन्हें लक्ष्य बना कर भरद्वाज से कहने लगे कि—भरद्वाज ! इधर देखो ! (जानते हो मेरी मुट्ठियों में क्या है ?) । ये हैं वेद। तुमनें अपने विगत तीन आयुर्भोगकालों में (३०० वर्षों में) तीन मुट्ठीभर ही वेद ले पाया है। अभी तो इतनी अनन्त राशि जानने के लिए शेष है, जिनका तो तुमनें अभी तक स्पर्श भी नहीं किया है। इसीलिए तो वेदों को अनन्त कहा गया है।

—तैत्तिरीय ब्रा० ३।१०।११।

(१६)–एहि ! इमं विद्धि० (ब्रू० सं०–१४)–

(पर्वताकारस्तूप-प्रदर्शन के माध्यम से वेदों की अनन्तता, एवं तन्मूला अविज्ञेयता का दिग्दर्शन कराने के पश्चात् सावित्राग्नि के माध्यम से वेदों की विज्ञेयता का दिग्दर्शन कराते हुए आगे चल कर इन्द्र भरद्वाज से कह रहे हैं कि)–हे भरद्वाज ! आओ, देखो इधर । तुम इस तत्त्व को (सावित्राग्नि को) समझो, और यह समझो कि कि, यही 'सर्वविद्या' (अनन्तविद्या की प्रतीकभूता) है । यह उपक्रम करते हुए इन्द्र नें भरद्वाज के लिए सावित्राग्नि का ही स्वरूप विस्पष्ट किया । इसे जान कर, तन्माध्यम से अमृतसम्पत्ति (प्राणस्वरूपपरिज्ञान) प्राप्त कर भरद्वाज स्वर्लोक गमन कर गए, एवं वहाँ सावित्राग्निमूलक आदित्य (दिव्य इन्द्रप्राण) के साथ सामुज्यभाव प्राप्त कर लिया । जो विद्वान् सावित्राग्नि के इस रहस्यपूर्ण प्राणस्वरूप को जान लेता है, वह भी प्राणात्मक बनता हुआ भरद्वाजवत् स्वर्गमन करता हुआ आदित्य के साथ सामुज्यभाव प्राप्त कर लेता है । (१) ।

इन्द्र ने जिस सावित्राग्नि का स्वरूपविश्लेषण किया था, वह यह त्रयीविद्या ही तो है । जो इस त्रयीविद्यात्मिका सावित्राग्निविद्या को जान लेता है, वह उतनें (तीनों) लोकों को अपनें अधिकार में कर लेता है, जितनें कि लोक सावित्राग्निमयी त्रयीविद्या (सूर्य्यात्मिका गायत्रीमात्रिकवेदविद्या) से अनुशासित हैं । (२) ।

सर्वविद्या, त्रयीविद्या, अमृतभाव, आदित्य, सावित्रतत्त्व, इत्यादि सब सौर सावित्राग्नि के ही तो (विभिन्न अवस्थानुगत) विभिन्न नाम हैं । तरलावस्थापन्न अग्नि ही तो प्राणवायु है । अतएव ये सब नाम वायु के भी मानें जासकते हैं । विरलावस्थापन्न अग्नि ही इन्द्र, किंवा आदित्य है । अतएव ये सब नाम इन्द्र के भी मानें जासकते हैं । सौर इन्द्रसीमा से संलग्न पारमेष्ठय बृहतीपति बृहस्पति का विकास ही तो बृहत् सूर्य्य में इन्द्ररूप से हुआ है । अतएव ये सब नाम पारमेष्ठय बृहस्पति के भी माने जासकते हैं । स्वयं परमेष्ठी प्रजापति ही तो अपनी आम्भृणीवाक् से समन्विता स्वरस्वतीवाक् के द्वारा वाक्पति बृहस्पति के रूप में परिणत हो रहे हैं । अतएव ये सब नाम प्रजापति के भी माने जासकते हैं । और सर्वान्त में ब्रह्मनिःश्वसित वेदमूर्त्ति अव्यक्त स्वयम्भू ब्रह्म ही तो–'**सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्**' इत्यादि के अनुसार आपोमय परमेष्ठी–प्रजापति के रूप में परिणत होरहा है । अतएव सर्वान्त में ये सब नाम ब्रह्म (स्वयम्भू) के मानें जासकते हैं । (यही तो सावित्राग्निमूला ब्रह्मान्ता अनन्तवेदमहिमा है, जिसका सावित्राग्निमाध्यम से महर्षि तित्तिरि ने स्पष्टीकरण किया है) । (३) ।

अनन्तवेद का प्रतीकभूत यह अग्नि पक्ष–पुच्छ–भावों से (तद्रूप–मर्त्य–भौतिक चित्यभावों से) सर्वथा पृथक् वायु (प्राण) ही है । ऋतरूप से सौरमण्डल में व्याप्त यही प्राणाग्नि इस वेदप्रतीकभूत तत्त्व का 'मुख' है, एवं नभ्यभावात्मक स्वयं केन्द्रस्थ उक्थात्मक आदित्य (इन्द्र) शिर है । उक्थात्मक इन्द्ररूप आदित्य), एवं अर्कात्मक प्राणवायुरूप मुख, इन्हीं दोनों अग्निरूपों से वे सब इतर प्राण, तथा भूत ओतप्रोत हैं, जो इन दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित हैं । इसी 'सीव्यन' से प्राणवायु–आदित्याग्नि की समष्टि 'सावित्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । (४)

—तै०ब्रा० ३।३।२१।

(२०)—वनस्पते शतवल्शो विरोह० (पृ० सं० २३)—

यज्ञिय कर्म्मकाण्ड में परिगृहीत 'यूप' को लक्ष्य बना कर प्रतीकविधा से इसके माध्यम से षोडशीप्रजापतिरूप ब्रह्माश्वत्थ को लक्ष्य बनाते हुए ऋषि कह रहे हैं कि, हे वनस्पते ! आप अपनी सैकड़ों (पूर्ण) शाखाओं से वितान कीजिए। हम भी आपके वितान के साथ साथ सहस्त्रशाखारूप में (अनन्तरूप से) वितानभाव प्राप्त करें। हे वनस्पते ! सुतीक्ष्ण सौर सावित्राग्नि के तक्षणकर्म्म से ही इस यज्ञरूप महत्सौभाग्य की प्राप्ति के लिए आपको इस यज्ञ में हमनें यूपात्मक स्थाणु मूलप्रतिष्ठा) रूप में परिणत किया है।

—ऋक्सं० ३।८।११।

(२१)—गौरीर्मिमाय सलिलानि० (पृ०सं० २४)—

देखिए-उपनिषद्भूमिका तृतीयखण्ड—४४-४५ पृष्ठ

(२२)—शतब्रध्न इषुस्तव० (पृ०सं० २४)—

हे (अश्वत्थकेन्द्रस्थ) इन्द्र ! आपका यह इषु (रश्मिरूप बाण) शतभाव से वितत हो, सहस्र पर्णात्मक बने। आप इस शत-सहस्ररूप इषु से युद्धकर्म्म में असुरों को परास्त करते हैं। एक-दश-शत-सहस्र-रूप रश्मिभावों का ही वेदमहिमारूप में वितान होता है। यही रश्मिरूप वह सहस्रधा-महिमान-सहस्र सम्वत्सर-मण्डल है, जिसमें असुर प्रवेश नहीं कर पाते, यही रहस्यदिशा है।

—ऋक्सं० ८।६६।७।

(२३)—सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था० (पृ०सं० २४)—

—देखिए उपनिषद्भूमिका द्वितीय खण्ड—परिशिष्टविभागानुगता पृ०सं० ५

(२४)—असद्वा इदमग्र आसीत्० (पृ०सं०२४)—

वर्त्तमान सृष्टिदशा में 'इदं' रूपेण (अङ्गुली-निर्द्देशरूपेण) जो कुछ आज हमें प्रतीत हो रहा है, वह अपनी इस व्यक्त मूर्त्त-सृष्टिदशा से पूर्व 'असत्' ही था। तात्त्विक लोग प्रश्न करते हैं कि, (सृष्टिमूलभूत) वह 'असत्' क्या था ? (अर्थात् असत्-तत्त्व का क्या स्वरूप था ?)। उत्तर देते हैं-ऋषि ही सृष्टि से पूर्व 'असत्' थे। पुनः प्रश्न हुआ-वे ऋषि कौन थे ? (अर्थात् ऋषितत्त्व का क्या स्वरूप था ?)। उत्तर प्राप्त होता है-प्राण ही वे ऋषि थे। वे तत्त्व क्यों कि इस सम्पूर्ण चर-अचर-प्रपञ्च से इसके इसीप्रकार के मूर्त्त-व्यक्त-भौतिक-स्वरूप की इच्छा करते हुए वाग्व्यापाररूप श्रम, तथा प्राणव्यापाररूप तप से गतिशील बनें। अतएव 'अरिषन्' निर्वचन से गतिधर्म्मा वे असत्प्राण 'ऋषि'नाम से प्रसिद्ध हुए।

—शत० ब्रा० ६।१।१।१।

उपरतश्चायं परिशिष्टविभागः

—— ❀ ——

एकमात्र प्राप्तिस्थान—
कृष्णचन्द्रशर्म्मा
व्यवस्थापक-प्रकाशनविभाग

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान'
मानवाश्रमविद्यापीठ
दुर्गापुरा (जयपुर-राजस्थान)

★